अनहद लोक

(प्रतिध्वनि कला संस्कृति की)

वर्ष-7, अंक-12

सम्पादक

डॉ. मधु रानी शुक्ला

सम्पादक मण्डल

डॉ. राजेश मिश्रा, डॉ. मनीष कुमार मिश्रा, सुश्री शाम्भवी शुक्ला

व्यंजना

आर्ट एण्ड कल्चर सोसायटी

109 डी/4, अबुबकरपुर, प्रीतमनगर, सुलेमसराय

प्रयागराज - 211011

अनहद लोक

(प्रतिध्वनि कला संस्कृति की)

सम्पादक : डॉ. मधु रानी शुक्ला
सम्पादक मण्डल : डॉ. राजेश मिश्रा, डॉ. मनीष कुमार मिश्रा, सुश्री शाम्भवी शुक्ला

कला संयोजन : सुश्री शाम्भवी शुक्ला

प्रकाशक
व्यंजना
(आर्ट एण्ड कल्चर सोसायटी)
109 डी/4, अबुबकरपुर, प्रीतमनगर
सुलेमसराय, प्रयागराज-211 011
मो. : 9838963188, 8419085095
Email: anhadlok.vyanjana@gmail.com
वेबसाइट : vyanjanasociety.com

वितरक : पाठक पब्लिकेशन, महाजनी टोला, इलाहाबाद-211 011
फोन नं. 0532-2402073

मूल्य : 200/- प्रति अंक, पोस्टल चार्जेज अलग से
सदस्यता शुल्क
वार्षिक : 500/-
तीन वर्ष : 1500/-
आजीवन : 20,000/-

© सर्वाधिकार सुरक्षित
- रचनाकारो के विचार मौलिक हैं
- समस्त न्यायिक विवाद का क्षेत्र इलाहाबाद न्यायालय होगा

मुद्रक : विकास कंप्यूटर एंड प्रिंटर्स, ट्रोनिका सिटी, लोनी, ग़ाज़ियाबाद-201 102

मार्ग दर्शन :

पं. देबू चौधरी, डॉ. सोनल मानसिंह, प्रो. चित्तरंजन ज्योतिषी
डॉ. कमलेश दत्त त्रिपाठी, पं. विश्वमोहन भट्ट, पं. भजन सपोरी
पं. रोनू मजुमदार, प्रो. ऋत्विक् सान्याल, प्रो. दीप्ति ओमचारी भल्ला
पं. विजय शंकर मिश्र, पं. अनुपम राय

सहयोगी मंडल :

प्रो. के. शशिकुमार, डॉ. रामशंकर, प्रो. लावण्य कीर्तिसिंह काब्या,
प्रो. निशा झा, प्रो. रश्मिदक्षित, डॉ. शांतिमहेश

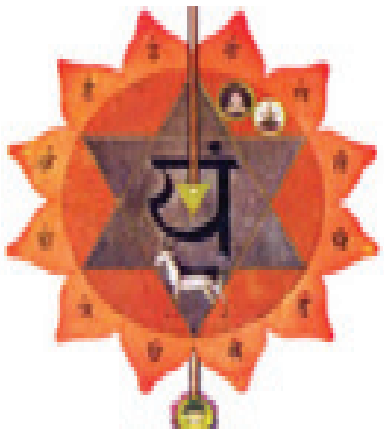

संगीत नाटक अकादेमी
के
सहयोग से प्रकाशित

संगीत नाटक अकादेमी

संगीत कला एवं मानवाधिकार

अनहद लोक अंक 12 आप सभी सुधि पाठकों के शुभ हाथों में सौंपते अपार हर्ष का अनुभव हो रहा है आपसे मिल रही सकारात्मक प्रतिक्रियाओं से आत्मबल पुष्ट हुआ है आगे भी इसी स्नेह की अपेक्षा रहेगी। मेरी एक मित्र ने बताया कि उनकी बेहद मेहनत से तैयार की गई रचना को किसी ने अपने नाम से प्रकाशित कर दिया, तो लगा इस विषय पर चर्चा आवश्यक है।

भारतीय कला-संस्कृति के अध्ययन की ऐतिहासिक विवेचना से हमें मानव की उत्पत्ति और विकास के साथ ही इसके व्यवसायिक रूप का ज्ञान प्राप्त होता है तब हमें सजग रहना है कि हमारे सांस्कृतिक अधिकार क्या हैं, इसके उद्देश्य क्या है।

भारत ही नहीं समस्त विश्व के प्रत्येक भाग में सांस्कृतिक निजता तथा विविधता पायी जाती है जो प्रत्येक स्थान के दैनिक आचार-विचार एवं Local Policy से बनती है। इन आचार-विचारों, रहन-सहन की निजता की रक्षा को Human Cultural Right कहा गया जो समाज में सही जीवन-यापन तथा कलाओं के आनन्द प्राप्त करने की प्रेरणा देता है ये वैश्विक लॉ पर आधारित है। मानवाधिकार के जो सार्वभौमिक नियम हैं वो संस्कृति को जोड़ने का प्रयास करते हैं और कला-संस्कृति के मानकों के अनुरूप कलाओं या संस्कृतियों के चयन की स्वतंत्रता प्रदान करते हैं, भाषण, लेखन में अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, पर्यटन की स्वतंत्रता मौलिक अधिकार है।

कला-संस्कृति का संरक्षण, समानता के प्रति ध्यानाकर्षण, कलाओं की गरिमा-गम्भीरता के प्रति सजगता, विविध पक्षों पर 'प्रोडक्शन', कलाकारों के प्रति न्याय, अपने अधिकारों का ज्ञान हमें Cultural Right Movement देता है जो कला व संस्कृति से जोड़ने की व्यापक दृष्टि प्रदान करने के साथ ही इसे जीवन्त रूप प्रदान करने का भी उद्देश्य रखता है। भाषा, वेश-भूषा, कला-धरोहर, साहित्य सृजन के मौलिक अधिकार के साथ ही निम्न वर्ग के लोगों को अपने अधिकारों के प्रति सजग करता है- UN ग्रूप ने Cultural Diversity के विषय में कहा कि उसकी रक्षा और विकास तभी सम्भव है जब मानवाधिकार और मौलिक स्वतंत्रता जैसे अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता सूचना तथा संचार की स्वतंत्रता, किसी भी प्रकार के निजी व्यक्तित्व की स्वतंत्रता के साथ ही सांस्कृतिक योग्यता की क्षमता और उसमें शामिल होने या न होने का अधिकार हो किसी भी धर्म, जाति, सम्प्रदाय से जुड़ा व्यक्ति अपनी मूलभूत इच्छाओं के साथ ही कला संस्कृति से जुड़े तथा अपने मौलिक विचारों को व्यक्त करने का अधिकार हो।

Cultural Right का ध्यान विशेष रूप से धार्मिक साथ ही अनपढ़ समाज के उत्थान को अभिव्यक्त करता है किस प्रकार की जीवन शैली हो, किस प्रकार कलाओं का संरक्षण हो, भाषा का कानून और आर्थिक रूप से सिक्योरिटी की ओर सजग करता है। राष्ट्र से जोड़कर इन्टलेक्चुअल प्रापर्टी राईट्स IPR का जन्म हुआ अर्थात 'बौद्धिक सम्पदा किसी व्यक्ति, संस्था द्वारा सृजित कोई संगीत साहित्यिक

कृति, कला, खोज, प्रतीक, नाम, चित्र, डिजाईन जिस प्रकार भौतिक धन के स्वामी है वैसे ही बौद्धिक सम्पदा के भी अधिकारी हैं अमूर्त सम्पत्ति के लिए भी अधिकार है जैसे संगीत, वाद्य यन्त्र, कलात्मक रचनाएँ, लेखकों की रचनाएँ, विचारकों के विचार, संकल्पना एवं साहित्य, यांत्रिक अभिव्यक्तियाँ, शोध, सृजन इसके लिए कॉपिराईटर, ट्रेड मार्क, पेटेंट आदि कई व्यवस्थाएँ हैं। जो सभी समाज के संस्कृतियों को संरक्षित करने में सहयोगी भूमिका निभा रहा है कलाओं के आर्थिक मूल्य हैं जैसे आयुर्वेदिक दवायें, सौन्दर्य प्रसाधन, वनस्पति, भोजन, लोक साहित्य, संगीत (गीत/नृत्य) कलाएँ, क्राफ्ट, रीति-रिवाज को उनके गरिमामय स्वरूप के बोध के साथ ही उनके आर्थिक मूल्यों से भी जोड़ता है।

Cultural Rights के निम्न पहलू हमारे समक्ष आते हैं-

- अपने मनोनुकूल कला-संस्कृति के चयन का अधिकार।
- वैज्ञानिक, साहित्यिक, कलात्मक किसी भी क्षेत्र में 'प्रोडक्शन' करने का अधिकार।
- किसी भी कला संस्कृति के मूल तत्वों को नष्ट करने वालों के सामाजिक बहिष्करण का अधिकार।
- प्रत्येक कला-संस्कृति के गरिमामय स्वरूप के संरक्षण का दायित्व साथ ही उसके संवर्धन की ओर सदैव संलग्न रहने का दायित्व।
- समस्त संस्कृतियों के मध्य साम्य-वैषम्य होते हुए भी उसके अस्तित्व का संरक्षण करने का दायित्व का निर्वहन करना।
- अपनी भाषा की रक्षा, उसके उत्थान के लिए कार्य करने का अधिकार।

Human Cultural Right में न केवल अधिकारों की चर्चा है वरन साथ ही दायित्व बोध की दृष्टि भी प्रदान की जाती है जो किसी भी कला और संस्कृति के संरक्षण-संवर्धन में उपयोगी है।

Cultural Rights के इन पहलुओं के साथ ही कला जगत से जुड़े लोगों को 'कॉपी राईट एक्ट' का ज्ञान होना भी अत्यन्त उपयोगी है जिससे व्यवसायिक रूप से उन्हें किसी भी प्रकार की हानि न हो साहित्य, नाट्य, संगीत, चलचित्र, ध्वनि रिकॉर्डिंग तथा कलात्मक पहलुओं पर मौलिक सृजन को भी सुरक्षित रखने का प्रयास है। भारतवर्ष में 1914 में कॉपी राईट एक्ट पास हुआ जो कि रिकार्डिंग, ब्रॉडकास्टिंग, टेलीविजन सभी कॉपी राईट एक्ट के अन्तर्गत आते हैं इसमें 1983, 1984, 1992, 1994, 1999 में संशोधन हुआ है और से मानव संसाधन विकास मंत्रालय द्वारा निर्देशित होता है। फिल्म, टेलीविजन के साथ ही सभी कलाओं की जिनकी भी रिकार्डिंग होती है उसे रजिस्टर्ड होना आवश्यक है। नायक, गायक, संगीतज्ञ, नर्तक, फिल्मकार सभी को अपनी कला को व्यवसायिक रूप से समृद्ध और सुरक्षित रखने हेतु 'कॉपी राईट एक्ट' का ज्ञान, उपयोगिता तथा व्यवहारिक रूप से अनुपालन अवश्य करना चाहिए लोक कलाकारों को भी इसी सीमा में लाया जा सकता है सभी को सजग होना आवश्यक है अन्यथा उनके मौलिक कार्यों का दुरूपयोग हो सकता है और व्यवसायिक रूप से शोषण तो होगा ही कोई किसी के सामग्री का उपयोग बिना अनुमति के नहीं कर सकता है यद्यपि भारत के बौद्धिक सम्पदा अधिकारों में बहुत सी खामियाँ हैं जिसका लाभ लोग उठा लेते हैं फिर भी अधिकारों के प्रति जागरुकता से एक सीमा में अपने सृजन की रक्षा सम्भव है।

अनहद लोक के इस अंक को समृद्ध बनाने में अनेक शोधार्थियों सहित विद्वतजनों ने अपना अमूल्य योगदान दिया है उन सभी के प्रति हृदय से कृतज्ञ हूँ। सुधि पाठकों से निवेदन है कि अपनी प्रतिक्रिया से अवश्य अवगत करायें जिससे सही मार्गदर्शन मिले। संगीत नाटक एकेडमी द्वारा आर्थिक सहयोग हेतु कृतज्ञ हूँ। त्रुटियों के लिए क्षमा प्रार्थी हूँ।

-मधु रानी शुक्ला

अनुक्रम

गान

1. Voice culture — Prof K Sashikumar — 11
2. History and Practice of Kharaharapriya and its Janya Rāga-s in Karnāṭaka Music of South India — Dr. Rajshri Ramakrishna — 14
3. Rāga-s that came from other regions into South Indian Music with special reference to the rāga Yamunākalyāṇi — Dr. R. Hemalatha — 22
4. Rāga Dīpaka — A Study — Dr M.Subhasree — 29
5. Structure of the Musical Form'Varṇam' in Karnāṭaka Music — An Oveview — Dr Rajshri Ramakrishna, Anuthama Murali — 39
6. An Overview of Dēśya rāga-s of Saṅgīta Sampradāya Pradarśini — A Historical Perspective — Dr R Hemalatha, S Suchitra — 46
7. Analysis of Svarāvaḷi Exercises in Karnāṭaka Music from early Telugu Publications — Dr Rajshri Ramakrishna, Deepa Iyer S — 53
8. सांगीतिक परम्परा एवं महिला- कलाकार : ध्रुपद गायन के विशेष सन्दर्भ में — कु. आकांक्षा पाल — 61
9. पंडित स्व. बड़े रामदास जी के सांगीतिक रचनात्मक गायन शैलियों की विवेचन — आशीष मिश्रा — 65
10. फिल्म संगीतकार चित्रगुप्त एवं भोजपुरी संगीत — आशीष जायसवाल — 71
11. Guru Shishya Parampara In Indian Classical Music — Jagjeet Shah — 74

संस्कृति

12. The most sacred phrase in Hinduism : "AUM, TAT, SAT" — Dr. Prakash Joshi — 79
13. Hanuman in India and South East Asian Tradition — Dr. Jitendra Pratap singh — 83
14. प्राचीन प्रयाग मण्डल एवं उसका धार्मिक स्वरूप — डॉ. सुशील कुमार — 93
15. उत्तर बिहार में गंगा की भौगोलिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि — डॉ. कुमारी बीभा — 97
16. वैदिक काल में गंगा : पूर्णियाँ के संदर्भ में — डॉ. नूतन कुमारी — 100
17. चूड़धार क्षेत्र : बहुआयामी संभावनाओं का भंडार — डॉ. श्याम सिंह — 102
18. वेद : साहित्य का सर्वहारा बनाम सर्वहारा का साहित्य अब भी मौजू है अभिशप्त सर्वहारा — डॉ. दर्शनी प्रिय — 106
19. मोक्षदायिनी गंगा एक समाजशास्त्रीय अध्ययन — डॉ. दीप माला मिश्रा — 109

आतोद्य

20. सेनिया घराना — प्रो. रश्मि दीक्षित — 115
21. An Overview of Tāla-s Seen in Samskṛta Treatises — Dr. R.Hemalatha, Bhavana Prabhakaran — 122
22. बिहार के लोक संगीत में प्रयुक्त ताल वाद्य एवं विभिन्न लय वाद्यों के प्रकार एवं विशेषताएँ — डॉ. शिव नारायण मिश्र — 127
23. घराना — कु. मनिषा भारती — 133

24. संगीत में ताल की आवश्यकता एवं महत्व — श्रेया राज 137
25. सेहतार से सितार तक की यात्रा — विधुश्री पाण्डेय 139
26. सुगम संगीत में ताल की उपयोगिता एवं ताल के विविध स्वरूप — सकुन्या वर्मा 144

थाती

27. राजस्थानी लोकनाट्य व लोकनृत्य में संगीत — डॉ. शशिकला राय 151
28. गुरू पूर्णिमा पर बिरहा अखाड़ों म दिखता है अद्भुद दृश्य — डॉ. धनंजय चोपड़ा 159
29. लोकगीतों में गंगा : सहरसा के संदर्भ में — डॉ. कुमारी कंचन 163
30. लोकगीतों की ऐतिहासिकता एवं भविष्य का अध्ययन — डॉ. पूनम तिवारी 166
31. लोक नाट्य का स्वरूप एवं विकास : एक विवेचन — साक्षी श्रीवास्तव 169

शास्त्र

32. अभिनेता और प्राचीन ग्रन्थों में उनकी सामाजिक स्थिति (नाट्य एवं संगीत के संदर्भ में) — डॉ. नमिता यादव 177
33. शास्त्रीय संगीत का स्वरूप-विवेचन — डॉ. शिव नारायण मिश्र 184

सामायिकी

34. नारी अस्मिता का दर्प और रेणु की कहानियां — डॉ. शबनम तब्बसुम 193
35. साहित्य और संस्कृति की समकालीन चुनौतिया — डॉ. नवाब सिंह 201
36. Sanctity of Languages and Sanity of Socio-linguistics — Dr. Manisha Patil 208
37. कोरोना काल म भारतीय संगीत : दशा और दिशा — शिव शम्भू कपूर 215
38. संगीत शिक्षा और रोजगार — टोपराज सिंह पटेल 220

सौन्दर्य

39. चित्रपट संगीत और रस — कुमारी ज्योति 229

व्यक्तित्व

40. T. Lakshmana Pillai — The multi-faceted composer from Kerala — Dr Bindu K 233
41. संगीत-कला के क्षेत्र में काजी नज़रूल इस्लाम का योगदान — रूमा चक्रवर्ती 236

अनुभूति

42. संस्मरणः बचपन की हेरथ — अग्निशेखर 243
43. नगरवधुओं के घुंघरुओं से पूरी रात झंकृत होते महाशमशान में एक नयी परम्परा का आरम्भ — अंकिता खत्री 247
44. कथक नृत्य में संगीत और साहित्य की भूमिका पद्मविभूषण पं. बिरजू महाराज, गुरु राजेन्द्र गंगानी, विदुशी शास्वति सेन और विदुशी वास्वति मिश्रा से की गई बातचीत के महत्वपूर्ण अंश — रक्षा सिंह 251

प्रकीर्णक

45. शैलेन्द्र के समकालीन गीतकार : राजेन्द्र कृष्ण और प्रेम धवन — डॉ. आशुतोष बाजपेयी 257
46. Classical music and Film Music — Dr. S Seethalakshmi 260
47. राग ध्यान एवं राग-रागिनि चित्रों पर शोध की संभावनाएँ — डॉ. निशा पाठक 262
48. संगीत एवं मनोविज्ञान का अर्न्तसम्बन्ध — शशी रॉय 268

समीक्षा

49. ठुमरी की ठनक और ठसक का दस्तावेज़। — डॉ. मनीष कुमार मिश्रा 273
50. ब्रज क्षेत्र के लोक संगीत में गुंजरित अवनद्ध वाद्य — गायत्री 276

गान

Voice culture

Prof. K Sashikumar

Ex.Head Vocal Music, Dept. Of Vocal Music
Faculty of Performing Arts
Banaras Hindu University, Varanasi

The process of bringing the voice under control is known as voice culture. It is also a method of training the voice to project it effectively and pleasantly using the whole body as an instrument with voice modulation, breath control technique and prompt pronunciation in a particular type of music like classical, film music, folk music , sugam sangeeth etc. This study includes traditional and scientific methods to improve the quality of voice.

As you known voice is used for both speaking and singing. Singing requires more delicate control over the muscles. Effective control of breath, flexible speech organs, adjustments of resonators {stomach} wide range, mental perception etc., are the features wherein the voice can be trained.

The voice has to be trained according to the style and type of singing one chooses Eg., classical, light, folk, pop, semi-classical etc., This is because each type of music demands a different style of voice production. The male and female built up of the voice producing organs differs so training style will also differ.

In India the main concept of music are classical music ie., Hindustani and Carnatic then the light music. Each music or style has its own way of producing voice and need a particular type of voice quality which can be mentioned as style like classical, light, western and cine music and bhajans, folk etc., Generally for classical music of India it needs open throat singing were the sounds are produced through stomach and chest. It need a particular type of practice. The three system of voice producing are Resonatory system, respiratory system and phonatory system.

Resonatory system: It happens in the upper portion of the vocal tract, starting from above the larynx {the buzz created by the vocal folds}through stomach.

Phonatory system: The system includes throat, larynx, responsible for producing sound with the air that is pumping through the throat.

Respiratory system: with the help of lungs the sound is produced which is also termed as chest music.

In light music it is head voice and in classical music it is chest music. In light music a variety of voice modulation and voice control are required. The other feature used by the singer while training his voice are as follows – They are like the shape of the mouth , while singing, effective pronunciation of words, adjusting the voice to different tempos or speeds, controlling of volume or amplitude as the background of presentation demands, in Indian terminology Kaku vowel pronunciations and one of the most important feature of a musician is developing imaginative power to improvise.

The voice is the only living instrument of music. Every individual is unique, so is every voice. It is very important to note that it is the only instrument, which can be cultivated improved and cultured, by variation of pitch, intensity and tonal quality {timbre} .

The important features of voice training :

1. Hearing: by listening more and more music, the brain stores the image of the music which is very important for learning music. The notes, the tunes, the rhythm, the speed, the words, the tonal quality of the voice are stored in the brain. Then the singer is able to produce through this mental image of his performance. So hearing is very important for any kind of music.
2. Control of Breath: This is an important aspect of voice culture, for better performance one need, Yoga practice, breathing exercise, morning walk etc.,to improve his breath and by this he can develop his voice culture. Pranayam is very important for any singers.
3. Practice of voice: Regular practice that to in the morning makes a singer perfect, mainly during practice one should concentrate on the note production exercises. The physical training of all muscles and the voice production makes the human body system , perfect for good performance. The practice develops the control over the vocal chords, breath practice, speed of different ways which gives confidence to the singer.
4. Mental and Physical fitness: It is very important for a singer to be fit both mentally and physically. Both helps healthy presentation and happy way of singing. This will impact in the performance. Negative emotions are always hindrances to the growth of voice production. Always keep your mind always cool and happy while performing.

Regular exercise, healthy and balanced diet are necessary. Regular meditation or any tension releasing exercise are necessary for mental fitness.

Thyagaraja swami one among the trinity of South Indian classical music composer of the 17th century mentions in his kriti in the shobhillu sapthaswara

in jaganmohini raga, roopaka thalam and the pallavi [stayi] says shobillu saptaswara sundarulu bhajimpave manasa which means O mind praise the divine form of the 7 musical notes. In the anupallavi {antra} the poet mentions nabhi hrut kantar asana naasadhula yandu. Which means the production of sound or singing should be through naval then to neck then to tongue and nose of the body . This shows the high philosophical thinking of saint Thyagaraja swami says about the nadopasana. Thus some kritis of Thyagaraja says about nadopasana and the persons who practiced nadopasana. The kriti sangeeta gyanamu in raga dhanyasi is a very good example for this .

Thus voice culture is an important aspects for any kind of music performance which includes voice culture , kaku prayogas and also practice of pranayama which is very important for an artist . An artist who practice yoga will be a successful performer along with voice culture and voice through practice.

History and Practice of Kharaharapriya and its Janya Rāga-s in Karnāṭaka Music of South India

Dr Rajshri Ramakrishna

Associate Professor and Head i/c
Department of Indian Music University of Madras

In Karnāṭaka music Kharaharapriya has emerged as a very popular rāga in the 20th century, owning to the numerous compositions by composers belonging to the 18th and 19th centuries. Kharaharapriya is the 22nd mēḷakarta rāga in the 72 mēḷa classification in Karnāṭaka Music and krama sampūrṇa rāga. The svara-s taken apart from ṣaḍja and pañcama are catuśruti ṛṣabha, sādhāraṇa gāndhāra, śuddha madhyama, catuśruti dhaivata, and kaiśiki niṣāda. This is a mūrcanakāraka mēḷa rāga. It's ri, ga, ma, pa and ni taken as ṣaḍja, by the process of graha bhēda (modal shift of tonic) result in Tōḍi, Kalyāṇi, Harikambhōji, Naṭabhairavi and Śaṅkharābharaṇa respectively.

The ārōhaṇa - avarōhaṇa of this rāga is as follows:

s	r_2	g_2	m1	p	d_2	n_2	s
ṡ	n_2	d_2	p	m_1	g_2	r_2	s

Graha, Amśa and Nyāsa

All the svara-s in this rāga are rāgacāya svara-s. While ri, pa and dha are amśa svara-s; ri, ma pa dha and ni are nyāsa svara-s. Pratyāhata gamaka phrases like s n n d d p p m – d p p m m g g r are frequently used in this rāga. Graha svara-s on which the compositions begin are sa, ri, pa and ni.

Brief Rāga Sañcāra:

ṇ ś d p m g , r , - r g m p d n, d p , , - n d p d n ś , , - n d p d n ś ṙ ġ ṙ , , - ġ ṙ ṡ n , d , n, ś , , - n ġ ṙ ṡ n d p – d n ġ ṙ ṡ n s , , - ġ r ṙ ṡ ṡ n n d d p - ṙ ṡ ṡ n n d d p - ṡ n n d d p m g , , - n d p m g , , - d p m g , r – r g n d p m g , r , - d p m g , r , - g r s ṇ , ḍ - ṇ ḍ p ḍ ṇ , , - r s ṇ , s , , , .

Some of the prominent compositions in this rāga may be referred in Appendix I.

History:

History:

Textual traditions record the lakṣaṇa of rāga-s as handled in various regions. Music being an art undergoes changes from time to time, and hence to preserve evidences of its roots, the role of textual tradition is very valuable. A study of the history of the evolution of this rāga is from the 16th century onwards. The works defining the lakṣana of the rāga-s of South India is found in the southern

texts starting from 1550 AD onwards.

Kharaharapriya (not with this name) as a scale existed from time immemorial. Though Veṅkaṭamakhi (1650) formulated the scheme of 72 mēḷakarta-s he himself accepted only 19 mēḷa-s as prasiddha during his time. In Sangraha Cūḍāmaṇi(1750) where Gōvindācārya gives the mēḷādikāra lakṣaṇa for the 22nd mēḷa he gives the Śrīrāga mēḷa lakṣaṇa (Kanakambari-phēnadyuti nomenclature) . While listing the janya rāga-s he lists them under Kharaharapriya mēḷa (kanakāṅgi-ratnāṅgi nomenclature) . Therefore, only after the period of Gōvindācaryā, Kharaharapriya attains the status of a rāga and Tyāgarāja has composed more than eleven compositions to establish this rāga. The corresponding rāga in Hindustāni music is Kāfi. The history of the evolution of the mēḷa is found in the mēḷa works beginning from 1550 AD to 1904 AD.

The accounts of the mentioned lakṣaṇakāra-s record the rāga-s in vogue during their respective periods. Though Veṅkaṭamakhi formulated the scheme of 72 mēḷakarta-s he himself accepted only 19 mēḷa-s as prasiddha during his time. Gōvinda Dīkṣita accepts 15 mēḷa-s, Rāmamātya 20 mēḷa-s, but finds 5 mēḷa-s common and therefore brings it down to 15, Sōmanātha recognizes 23 mēḷa-s, Śāhaji explains 20, Tulaja follows Śāhaji but adds one more and makes it 21. All the janya rāga-s grouped under a particular mēḷa are seen to have common or similar characteristics and also have a distinct individuality which distinguishes it from the others. For example, janya-s of Māyāmāḷavagauḷa and Śrī have common characters of their respective mēḷa-s which cannot be defined in terms of svarasthāna, ārōhaṇa, avarōhaṇa, graha, amśa and so on. The most popular rāga among a group of janya rāga-s was given the status of a mēḷa, therefore, in the earlier classification, the so called mēḷa-s (and janya-s) were essentially full-fledged rāga-s and not a mere scale heading a group of rāga-s. After the rāga is identified to be the mēḷa, the very first janya is this rāga itself, and its lakṣaṇa is given.

During the Mēḷa period (16th and 17th century), the rāga is considered to be sampūrṇa, if all the seven svara-s occur in the arōha or avarōha. The arōha and avarōha are not independent, what is of real significance is not the number of svara-s in the arōha and avarōha, but how the svara-s behave in their characteristic movement known as chalan, therefore it means that the concept of arōhaṇa and avarōhaṇa is of very little significance. For instance, Dr. S. Seetha gives an example of Bilahari (srgpds – sndpmgrs) which cannot be misunderstood as a mixture of mōhanam (srgpds – sdpgrs) and Śaṅkharābharaṇam (srgmpdns – sndpmgrs). While discussing rāga lakṣaṇa, the terms auḍava, ṣāḍava, sampūrṇa, laṅghaṇa, varja and alpa, are to be carefully observed in the melodic context.

Therefore, rāga-s are considered;

- Sapūrṇa even if one or two svara-s in the ārōhaṇa or avarōhaṇa are varja.
- If one svara is varja in the ārōhaṇa and avarōhaṇa then

the rāga is considered ṣāḍava
- If two svara-s are varja both in ārōha and avarōha then it is considered as auḍava.

In the present day, rāga elaboration is based on the krama prayōga-s taken straight from the ārōhaṇa and avarōhaṇa itself. The ārōhaṇa avarōhaṇa for mukhāri in K V Śrīnivāsa Ayyaṅgār's book, s r m p n d s - s n d p m g r s is against the s r m p d s krama ārōhaṇa as given in most printed books.

In the contemporary, rāga-s can be discussed under two traditions; Dikshitar tradition as represented in SSP and the Tyāgaraja tradition as represented in the oral and textual traditions. Many notations in print and audio recordings were sourced.

Śrīrāga, a very old rāga, corresponding to the 22nd mēḷa, has remained unchanged and its characteristics are same in both the traditions of Tyāgarāja and Muttusvāmi Dīkṣita. In the Tyāgarāja tradition the pa dha ni pa prayōga in the avarōhaṇa is absent. In the Dīkṣita tradition the pa dha ni pa prayōga is to be used very sparingly where Śrīrāga is the 22nd ragaṅga rāga, the 4th mēḷa in the 4th cakra, uttama rāga and ghana rāga. The phrases ri ga ri sa and pa dha ni pa gives rañjakatvam and pa dha ni pa can appear only once in compositions as well as rāga ālāpana.

In Sangraha Cūḍāmaṇi, where Gōvindācārya gives the mēḷādhikāra lakṣaṇa for the 22nd mēḷa, he gives the Śrīrāga mēḷa lakṣaṇa (Kanakambari-phēnadyuti nomenclature) . While listing the janya rāga-s he lists them under kharaharapriya mēḷa (Kanakāṅgi-ratnāṅgi nomenclature) . Therefore, only after this period Kharaharapriya attains the status of a rāga and Tyāgarāja has composed more than eleven compositions to establish this rāga.

Mukhāri now classified under the 22nd mēḷa according to the Tyāgarāja tradition and in the 20th mēḷa according to the Dīkṣita tradition, this rāga employs both the dhaivata-s and has been dealt by both the composers. This rāga can be extensively elaborated and has the status of a mēḷa.

Ābhōgi (s r g m d s – s d m g r s): This rāga is first found in Saṅgraha-cūḍāmaṇi under Kharaharapriya mēḷa, auḍava rāga, where ga and ni are absent. This rāga is absent in SSP, though there is one composition of Muttusvāmi Dīkṣita currently in practice.

- In the printed notations vakra prayogas are seen - GR, GRS - Sabhapathikku and Evvaribōdana
- This approach of using vakra prayogas is not seen in the later composers.

Śrīrañjani (s r g m d n s – s n d m g r s): Śrīrañjani as a rāga existed before Kharaharapriyā and Ābhōgi. It was classified under the Śrīrāga mēḷa. In SSP it is classified as a bhāśaṅga rāga. Bhāśāṅga here cannot be understood as a rāga which takes anya svara. Here he refers to the earlier terminology where bhāśāṅga is derived from bhāśa which means regional in origin.

- This is an old raga handled in both the traditions
- Cannot be understood as Karaharapriya devoid of Pañcama.

Śrīrāgam, Maṇiraṅgu and Madhyamāvati

- In the Dīkṣita tradition Śri is a Rāgāṅga rāga, 4th mela in chakra 4 and ghana rāga. The kālapramāṇa of the rāga is madhyamakāla. The svara ga should not exceed two mātra-s (if one akṣara has four mātra-s).
- **Maṇiraṅgu** is found in all the southern texts and its lakṣaṇa has not undergone any change. Here we have chosen lesser heard versions of maṇiraṅgu, where the unique handling of the gāndhāra and ṛṣabha is to be noted in the renditions of M.D Ramanathan, T Brinda and in the rendition of Rānidhirādu of Madurai Somasundaram the ga is extended more than two mātra-s.
- **Madhyamāvati** is an old rāga, in the southern texts it has been classified under the 22nd mēḷa. As it is auḍava rāga, it has ample scope for manōdharma and gamaka-s. This rāga can only be classified under the 22nd mēḷa and cannot be classified under any other mēḷa.

Nāyaki: In both the traditions it has been classified under the 22nd mēḷa and is sampūrṇa in the Dīkṣita tradition. Surprisingly, Subbarāma Dīkṣita has given the kṛti Dayalēnibratukēmi in this rāga, set to miśra jhampa tāḷa, where he has given three saṅgati-s in the anupallavi for which he gives a note saying that these saṅgati-s should be sung in the second part of the caraṇa. In SSP there is a detailed note on the handling of the gamaka for gāndhāra and niṣāda. In the lakṣaṇa ślōka, the phrase lakṣya mārgānusārēṇa gīyati, and the handling of gāndhāra-niṣāda should be understood from people who know the lakṣya-krama-sampradāya, and should be practiced by playing in the instrument, and singing with voice.

Darbār: Dīkṣita has given a very detailed description about the handling of gamaka-s in Darbār and finally says that pūrvācārya-s have made the statement 'lakṣya mārgēṇa gīyatē' and other details may be grasped from kīrtana, varṇa and sañcāri. Darbār and Nāyaki require a detailed study.

Dēvagāndhāri: This rāga is referred in the Dikṣita tradition under 22nd mēḷa. It is equivalent to the karnāṭaka-dēvagāndhāri and is dēśiya in origin. The present day Abhēri belonging to the 22nd mēḷa has some similarity to this. This has been placed under the 20th mēḷa by some texts. The older version of Nagumōmu was in the rāga abhēri with śuddha dhaivata, whereas the present nagumōmu is being rendered under the 22nd mēḷa. The ābhēri of the Dīkṣita tradition has a composition oMuddusvāmi Dīkṣita, Vīnābhēri popularized by M.S Subbulakshmi. The popular Dēvagāndhāri is found under the 29th mēḷa by both traditions.

Rītigauḷa (S r G m n d p n n S – S n N d M g g r s): Tyāgarāja's Rītigauḷa should logically have śuddha dhaivata. Vīṇa Kuppayyar in his Pallavi-svara-kalpavalli has given the lakṣaṇa of Rītigauḷa with śuddha dhaivata and catuśruti dhaivata. The present ninnuvina marigaladā of

Śyāma Śāstri is under the 22nd mēḷa but there is a recording of Muḍikonḍān Venkatrama Ayyar rendering ninnuvina where the AIR announcement says ābhēri.

Husēni/Huśāni (s r g M p d n S – n d p M g r s): Among all the janya-s, Huśēni has a sampūrṇa scale except for the śuddha dha prayōga. The Huśēni of the Tyāgarāja tradition and the Dīkṣita tradition are distinctly different and the kālapramāṇa of the rāga is also entirely different. In the Dīkṣita tradition, this is a very important bhaṣāṅga and deśi rāga. A gīta, an umātilaka prabandha, a pañcalinga sthala kīrtana in jhampa tāḷa, a svarajati of Ādiyappayya and two padam-s of Kṣētragña are listed under this rāga. Such an elaborate treatment of the rāga is not found in the Tyāgarāja tradition.

Śuddha-dhanyāsi: Though mentioned in the Dīkṣita School, there is no composition in SSP. Only gītam and sañcāri are listed. The only difference between Udayaravicandrikā and Śuddha-dhanyāsi is the niṣāda. Śuddha-dhanyāsi is classified under the 20th mēḷa in the Tyāgarāja tradition.

Kannaḍa gauḷa, has been in existence for a long period. SSP only has a gītam and a composition by pīrvīkargal has been given. Sogasujūḍa taramā and Ōrajūpujū of Tyāgarāja are in this rāga.

Māḷavaśrī (Tyāgarāja: s g m p n d n s – s n d m g s), (Muddusvāmi Dīkṣita: s g s m p n n s, - n n d p m p n d m m g s). SSP has given one composition by Dīkṣita, Maṅgalāmbāyai namastē, set to jhampa tāḷa which begins with a svarākṣara in tāra sthāyi. Evarunnāru brōva of Tyāgarāja is in this rāga.

Śuddha dēśi has no compositions in the Dīkṣita tradition and there is only one composition in the Tyāgarāja tradition.

Mādhavamanōhari: This is a bhāśāṅga sampūrṇa rāga and In the Dīkṣitā tradition, it belongs to the Śrīrāga mēḷa and many of its prayōga-s are similar to śrīrañjani except for a pañcama prayōga p d m, employing śuddha dhaivata. This rāga is not found in the Tyāgaraja tradition.

Kānaḍā: None of the southern texts mention Kānaḍā. The kannaḍa under the 29th mēḷa is popular. Even in the Saṅgraha Cūḍāmaṇi ślōka which lists the janya rāga-s there is no mention of Kānaḍā.

Svarabhūṣaṇi and Devamanōhari: A separate study on rāga-s with the phrase pa ni dha ni sa should be conducted. There is a very elaborate article in Guruguha.org by Ravi Rajagopalan "The Quest for the true melodic contours of Tyagaraja's 'varadarAja ninnEkOri"" where he analyses the authenticity of the renditions of this composition in the rāga svarabhūṣaṇi.

In some of the rāga-s, the svarūpa is expressed only in krama phrases and has limited scope for manōdharma. These rāga-s are popular only through the kīrtana-s.

Sāḷaga bhairavi: This rāga has one composition each by both Tyāgarāja and Dikṣitar, and treated differently in both the school. The Dīkṣita school has many vakra prayōga-s: the mūrchana is: srgrpmpdpS - nsdpmgṙs/srmgrppdps - nsdpggrs/sgrmpdpmgrsm.

- **Jayamanōhari:** s r g m d n s - s d m g r s
- **Dēvāmṛtavarṣini** s r g n m d n s - s n d p m g r s. Evarani a popular composition by Tyāgarāja is rendered in this rāga. Some schools render this true to the ārōhaṇa avarōhaṇa, whereas majority render it in kharaharapriyā.
- **Cittarañjani** is performed by some traditions as a jhaṅkāradhvani janya (19 mēḷa), popular version is a kharaharapriyā janya.
- **Saindhavi** is a very old rāga, found in the North and south Indian tradition. SSP gives only a gīta and sañcāri in this rāga

Dēvamanōhari, Devāmṛtavarṣiṇi, Husēni, Mādhavamanōhari, Mālavasri, Manōhari, Rītigauḷa, Nārīrītigauḷa, Saindhavi and others with the uttarāṅga prayōga as p n n s, or p d n s , or p n d n s require a separate study as over time these phrases seem to get interchanged. Similarly, s g r g , s g g m and s r g m require a separate study.

Observations:

- Even if the ārōhaṇa/avarōhaṇa is krama, the rāga sañcāra phrases allow vakra prayōga-s like g r m in ābhōgi, and m n d n s in śrīrañjani.
- In rāga-s like Huśēni according to both the traditions, though belonging to the same mēḷa the rāga contour and the kālapramāṇa is entirely different.
- In Nāyaki, Śrīrañjani, Śrīrāgam, Maṇiraṅgu and Madhyamāvati the rāga chāya phrases are same in both the traditions.
- Dēvakriyā, Kalānidhi, Maruva Dhanyāsi, Jayanārāyaṇi, Jayantasēna, Nādavarāṅgiṇi, Pūrna-ṣaḍjam, Phalamañjari, Brṇdāvana-sāraṅgā, Āndōḷika, Mañjari, Śuddha-baṅgāḷa and Siddhasēna are rāga-s which have one more or compositions by Tyāgarāja. The rāga is identified only by the composition, therefore does not permit elaborate ālāpana.
- A very important finding in this whole study is that: In scalar rāga when the gamaka is applied automatically the scale becomes vakra, which therefore makes the rāga dynamic.

Conclusions:

- Ārōha – Avarōha of a rāga does not explain its characteristic phrases. It may be taken as a guide for permissible svara-s for the rāga, but should not be understood as a rāga limitation.
- An attempt to adhere to the Arōha – Avarōha and the derivative Mēla of a rāga might be one of the reasons for multiple versions of a composition or even manōdharma for that matter.
- The term sampūrṇa does not necessarily mean sampūrṇa in both ārōha and avarōha. It applies to the rāga as a whole.
- Contemporary ārōha -

avarōha-s krama-s in later books should not be mistaken as rāga chāya phrases.

- Rāga-s which had the status of Mēla in the Mēla period might have retained their individuality even after being assigned the janya status in the Mēlakarta period. Contrararily, rāga-s which have been assigned Mēlakarta status in the later period may not have created a place in Karnāṭaka music.
- Rāga-s like Mañjari and Dēvāmṛtavarṣini have lost their individuality after Kharaharapriya became popular .

References:

Books:

1. Hema Ramanathan, Ragalakṣaṇasaṅgraha, Pub. N. Ramanathan, Chennai, 2004
2. Iyengar, R. History of South Indian (Carnatic) music, from Vedic times to the present. Madras, 1972.
3. Seetha, S. Tanjore as a seat of music, during the 17th, 18th, and 19th centuries. Madras, University of Madras, 1981.
4. Seetha S, Śāha mahārāja, Rāgalakṣaṇamu (1684-1711), Pub. Brhaddvani Madras, 1990
5. Śrīnivāsa Ayyaṅgār K V, Ādi Tyāgarāja Hṛdayam, Pub. M Ādi & co, Chennai Volume II – 1991 (Tamil)
6. Subbarāma Dikṣita, Saṅgīta-sampradāya-pradarṣini, Pub. Vidia Vilasini press, 1904(Telugu)
7. Subba Rao B, Rāga-Nidhi, Madras Music Academy, Chennai Vol.III -2006

Lakṣaṇgrantha:

1. Saṅgrahacūḍāmaṅi of Gōvinda and Bāhattara Mēlakartta of Veṅkaṭa Kavi ed. Subrahmaṇya Śāstri, Adyar Library, Chennai, 1938

Appendix 1

Sl No	Name of the composition	Composer	Form	Tāḷa
1.	Rāmayā ī vēḷa	Tenmaṭham Narasinhācārī	Padavarṇam	ādi
2.	Rāmanīsamāna	Tyāgarāja	Kīrtana	Rūpaka
3.	Cakkanirāja	Tyāgarāja	Kīrtana	Ādi
4.	Kōrisevimparārē (Kōvūr Pañcaratnam	Tyāgarāja	Kīrtana	Ādi
5.	Naḍaci Naḍaci	Tyāgarāja	Kīrtana	Ādi
6.	Viḍamusēyavē	Tyāgarāja	Kīrtana	Ādi

7.	Pakkalanilabaḍi	Tyāgarāja	Kīrtana	Miśracāpu
8.	Saṅkalpamu	Paṭnam Subramaṇiya Ayyar	Kīrtana	Ādi
9.	Śrīnivasatavacaraṇau	Pāpanaśam Śivan	Kīrtana	Rūpaka
10.	Sarasvatīannayē	Pāpanaśam Śivan	Kīrtana	Ādi
11.	Oh my lovely lalanā	Karur Śivaramayya	Jāvaḷi	Ādi

Appendix II

Sl No	Author	Work	Period
1.	Rāmamātya	Svaramēḷakalānidhi	1550 AD
2.	Gōvinda Dīkṣita	Saṅgīta-sudhā	1614 AD
1.	Veṅkaṭamakhi	Caturdaṇḍiprakāśikā	1620 AD
2.	Śahaji	Rāgalakṣaṇamu	1684 – 1711 AD

Footnotes

1. Saṅgrahacūḍāmaṅi of Gōvinda and Bāhattara Mēlakartta of Veṅkaṭa Kavi – Pg. 55
2. Saṅgrahacūḍāmaṅi of Gōvinda and Bāhattara Mēlakartta of Veṅkaṭa Kavi – Pg. 77
3. Refer Appendix II
4. Saṅgrahacūḍāmaṅi of Gōvinda and Bāhattara Mēlakartta of Veṅkaṭa Kavi – Pg. 55
5. Saṅgrahacūḍāmaṅi of Gōvinda and Bāhattara Mēlakartta of Veṅkaṭa Kavi – Pg. 77

Rāga-s that came from other regions into South Indian Music with special reference to the rāga Yamunākalyāṇi

Dr. R. Hemalatha

Department of Indian Music
University of Madras, Chennai

Introduction:

During the 17th century, many rāga-s came into the South Indian system from other regions. The Rāgalakṣaṇamu (RL-S) of Śāhaji (1684-1712) mentions sixteen rāga-s as 'Dēśi' meaning that these rāga-s came from North. Even though the explanation is not seen in RL-S, the Saṅgītasamparadāyapradarśini (SSP) of Subbarāma Dīkṣitar published in the year 1904 mentions that the 'dēsiya rāga-s' are those rāga-s that came from North. He also uses the name 'auttara' to denote the rāga-s that came from North. The source for SSP is the Rāgalakṣaṇam of Muddu Vēṅkaṭamakhī (RL-MV) supposed to have been written during the 18th century. Even though SSP attributes the system of rāgāṅgarāga-s and the lakṣaṇa ślōka-s to Vēṅkaṭamakhī who wrote the Caturdaṅḍīprakāśikā (CDP), the differences seen in the two works suggest that the Vēṅkaṭamakhī referred by Subbarāma Dīkṣitar is Muddu Vēṅkaṭamakhī and not the Vēṅkaṭamakhī who wrote the Caturdaṅḍīprakāśikā.

The rāga-s termed as 'Dēśi' by Śāhaji have been mentioned under the 'rakti' category meaning 'that which is pleasing to the ears' in the RL-MV and same has been quoted by Subbarāma Dīkṣitar in his SSP. For instance, in the RL-S, the rāga-s Sāvēri and Husēnii are mentioned as 'dēśi rāga-s', but RL-MV classifies Sāvēri and Husēni as rakti rāga-s. But it is seen that there are some new rāga-s which have been termed as 'Dēsiya'. For instance, the rāga-s Hamvīru, Yamunākalyāṅi have been mentioned for the first time in the RL-MV and termed as 'dēsiya' rāga-s. It is seen that the rāga-s termed as 'dēsiya' in RL-MV have also undergone changes and have become indispensable in the present day South Indian system and are also termed as 'rakti' rāga-s. Likewise, it is seen that some of the rāga-s mentioned in RL-MV undergone lot of changes and have become minor

rāga-s, that is, those rāga-s that are not dealy in detail and rendered in the concerts only towards the end. For example, the rāga Yamunākalyāṇi, which has been termed as 'dēsiya rāga' has compositions of Tyāgarāja and Muttusvāmi Dīkṣitar, seems to be treated as a minor rāga in the present day. Hence, the evolution of the rāga from RL-MV to the present day has been taken up for study in this paper.

Limitations of the study: The rāga Yamunākalyāṇi is studied only with regard to the compositions available in this rāga and the compositions are studied based on the practice in the oral traditions.

Methodology: The notation of the composition 'Jambupatē' of Muttusvāmi Dīkṣitar has been studied and the differences in the notation and the oral traditions have been recorded. The notation available in the SSP has been taken as the primary source and the recordings of the composition are secondary sources for this paper. The compositions available in the present day are being taken from the popular versions available. These compositions have been studied in relation to the composition of Muttusvāmi Dīkṣitar.

The rāga Yamunākalyāṇi is first seen in the RL-MV supposed to have been written during the 18th century. The rāga Yamunākalyāṅi is termed as sampūrṇa and has ṣaḍja as amśa. This rāga is also mentioned in the works Rāgalakṣaṇam of Muddu Vēṅkaṭamakhī (18th century), Saṅgrahacūḍāmaṇi (SC) of Gōvinda (18th century), Mahābharatacūḍāmaṇi (MBC), Saṅgītasārasaṅgrahamu (SSS) of Tiruvēṅkaṭa Kavi and the Saṅgitasampradāyapradarśi (SSP) of Subbarāma Dīkṣitar (1904).

All these texts mention this rāga as a janya of the 65th mēḷakarta/rāgāṅgarāga Mēcakalyāṇi/Śāntakalyāṇi and the ārōha-avarōha of this rāga is

S r g m p d n ś – ś n d p m g r s

SSP mentions the usage of śuddha madhyama in the phrase 'p m g m* r s'. SSP also lists out some phrases that are characteristic of this rāga. SSP also gives notations for compositions like kṛti of Muttusvāmi Dīkṣītar, sañcāri of Subbarāma Dīkṣitar. Some of the phrases mentioned by Subbarāma Dīkṣitar are

S r g p d ś, s r g m p d ś, ś n d p g r s, ś D p g m* r s, g m p R R, g m p D D , g p R R etc.

Subbarāma Dīkṣitar also mentions that even though there is a sampūrṇa ārōha-avarōha given for this rāga the above mentioned phrases are seen more.

The rāga has two names included in it namely Yamunā and Kalyāṇi and hence it is necessary to look into the references to these rāga-s. The rāga Yamunā is not mentioned in any of the treatises, whereas there are references to a name 'Īmana' in the treatises Hṛdayaprakāśa (HP), Hṛdayakautukam (HK) of Hṛdayanārāyaṇadēva (1575 AD) and Rāgatarańgiṇi of Lōcanakavi (16th century). In the Rāgamañjari(RM) of Paṇḍarīka Viṭṭhala, there is a mention of rāga-s that are supposed to have 'pāraśīka' or Persia and in that there is a rāga by name Yaman. In the Bhātkhaṇḍē system of rāga-s, there is

a mēḷa by name 'Kalyāṇ' and a rāga by name 'Īmana' has been mentioned as a derivative under it.

The rāga Kalyāṇi has been mentioned as a mēḷa in the works CDP, RL-S, Saṅgītasārāmṛta of Tulaja, RL-MV, Saṅgrahacūḍāmaṇi of Gōvindā, Saṅgītasārasaṅgrahamu of Tiruvēṅkaṭakavi, and Mahābharatacūḍāmaṇi. The mēḷa Kalyāṇi mentioned in CDP corresponds to the 65th mēḷakarta in the 72 mēḷa scheme and it is seen that all the above mentioned works mention the mēḷa Kalyāṇi in same line with the CDP. Regarding the rāga Kalyāṇi, CDP mentions it as a dēśi rāga, meaning that it is not fit for any compositional rendering. The lakṣaṇa of the rāga Kalyāṇi as given in CDP is 'the rāga omits madhyama and niṣāda in the ārōha and the avarōha is complete.

The compositions of Tyāgarāja and Muttusvāmi Dīkṣitar available in this rāga are: "Haridāsulu Veḍalē", Nārāyaṇa hari, Rāma rāma, Sāgaruṇḍu veḍale, Vidhi cakrādulaku of Tyāgarāja and Jambupathē of Muttusvāmi Dīkṣitar.

The notations available for these compositions seem to be reflecting a similar lakṣaṇa for the rāga Yamunākalyāṇi. The kṛti Jambupatē is set in a slow tempo and the phrases that are seen in this composition include:

G , , g p\ R
m g g m* R,
G , n d P
G , d p m g

The notation of the kṛti Jambupatē reveal that there are many embellishments in this rāga and particularly the gāndhāra is predominantly rendered as a dīrgha svara. There is a kampita symbol above the dīrgha gāndhāra indicating that this gāndhāra has to be rendered with an oscillation. In addition, the jāru gamaka (glide) is seen in the phrases gp\R, g/m/p\g, which indicates that there is a connection between each and every svara and it can be said that the melody throughout the composition is continuous. In the compositions of Tyāgarāja available in notation, it is seen that the melody is similar to that handled by Muttusvāmi Dīkṣitar. But in the oral traditions of the compositions, the melody is different from that available in notation and can be said that the contour of the rāga itself has changed and has no relation to that available in the notation. The oral tradition of the kṛti Jambupatē of Muttusvāmi Dīkṣitar has also changed, but when compared to the compositions of Tyāgarāja it is seen that there are pañcama and ṣaḍja varja pharses seen in the oral tradition which is not available in the notation. Hence the study of the compositions of Tyāgarāja is not taken up and only the kṛti of Muttusvāmi Dīkṣiitar is taken up for study.

For instance, the difference in the phrases in the pallavi of the kṛti Jambupathē is illustrated below:

Pallavi	1st akshara	2nd Akshara	3rd Akshara
Notation in SSP	g , , ,	p , , m	d , p ,
	jam . . .	bū . . .	. . pa .
Oral Tradition	m p g m	p , , m	d , p ,
	jam . . .	bū . . .	. . pa .
Notation in SSP	g , r ,	p g r ,	, , , ,
	tē . . .	mām . . .	. . . .
Oral Tradition	g , , ,	g m1* r g	r , , ,
	tē . . .	. . mām	. . . .
Notation in SSP	s , g r	g , p r	g r s r
	pā . . .	hi . . .	. . ni

In the table above it can be seen that fast phrases and phrases with śuddha madhyama are present in the oral tradition. The phrase 's ṇ d , g r' which is characteristic of the rāga Kalyāṇi is also present which is not available in the notation.

The compositions in this rāga are taken up for study:

Some of the popular compositions in this rāga that are in practice today are: Kṛṣṇā nī bēganē of kanakadāsa, Hari smaraṇē of Puranadara Dāsa, Bhavayāmi Gōpāla of Annamayya and bhajans of Tulsidās, Kabīr and Mīrā. Apart from this the rāga has been handled in the rāgamālika-s like the song Vandē mātaram of Subramaṇya Bhārati. The above compositions have been tuned by musicians, even though the compositions belong to an earlier period and it can be said that the melody for these compositions is composed during the mid 20th century.

The melody of the first line of the pallavi of three compositions is illustrated in the table below:

	1	2	3	4	5	6	7	8
Pibarē	, , g r	, s , ,	ṇ ḍ , ṇ	r , r ,	g , , ,	, , , ,	, , m* g	, pm* g r
	. . piba	.rē . .	. . . rā	ma ra	sam . .	. . . .	. .ra sa	.nē . .
Hari	, , g m	, r r ,	s , , ṇ	r s ḍ ,	, , ṇ ,	r g , ,	, , , r	m* , g ,
	. .hari	.smara	ṇē ..mā	..ḍō	. .ni .	ran . .	. . . .	ta.ra .
Tuńgā	g , , ,	g , , m	p , g ,	, r , ṇ	r , r ,	, , , ,	, , ṇ ḍ	, ṇ r ,
	tuṇ . . .	gā . . .	. . tī .	.ra . vi	rā.jam	. . . .	. bhaja	ma na

The following observations can be made with regard to the melody illustrated above:

- All the compositions are set in Ādi tāḷa (1 kaḷa)
- The compositions are set in a medium tempo
- The graham svara is gāndhāra in all the compositions
- The usage of śuddha madhyama is seen in the avarōha descending phrases.

The melody of the composition Kṛṣṇa nī bēganē and a Tiruppāvai are illustrated below:

Pallavi	1	2	3	1	2	3
Kṛṣṇa nī	, , , , s ,	g , , m*	r , , ,	ṇ r s ṇ ḍ ,	ṇ , , ,	r , , ,
	, , , , kṛ	ṣā . . .	nī . . .	bē	ga . . .	nē . . .
Tiruppāvai	, , , , s ,	g , , m*	r , , ,	ṇ r s ṇ ḍ ,	ṇ , , ,	r , , ,
	. . . .aṅ	gaṇ . . .	mā . ..	ñā	lat . . .	tu . . .
Caraṇa	, , , , g d	p m r ,	g , m ,	p , , , , ,	m p d n	d p p ,

The following observations can be made from the melody given above:

- Both the compositions are set to Miśra Cāpu tāḷa
- The overall melody is similar in both the compositions.
- Both of them are set in a similar tempo.

Observations

From the illustrations of the melody of the composition of Muttusvāmi Dīkṣitar and the compositions of the present day the following observations can be made with regard to the evolution of the rāga Yamunākalyāṇi:

- The gait of the kṛti of Muttusvāmi Dīkṣitar is Viḷamba whereas the present day compositions are set in madhyama kāla.
- In the kṛti of Muttusvāmi Dīkṣitar, the melody ranges from mandra dhaivata to tāra gāndhāra whereas in the present day compositions the melody ranges from mandra dhaivata to tāra ṣaḍja
- Because of the range of the composition, the kṛti of Muttusvāmi Dīkṣitar is sung in the sama śruti and the present day compositions are sung in the madhyama śruti.
- The śuddha madhyama prayōga is seen only once or twice in the kṛti of Muttusvāmi Dīkṣitar, that too only in the phrase 'g , , m r ,' whereas in the other compositions the śuddha madhyama is seen in all the descending phrases.
- The handling of the rāga Yamunākalyāṇi is different in the kṛti of Muttusvāmi Dikṣitar and other compositions.
- The melody of the present day compositions indicates that there seems to be a template or

a common melodical structure adopted by the musicians while setting melody to these compositions

The handling of the rāga in the South Indian system in the present day makes it necessary to look into the structure of the rāga in the Hindustāni system. In the Hindustāni system, it is seen that there is a thāṭ by name Kalyāṇ and a rāga by name Yaman has been mentioned as a derivative under it. The thāṭ Kalyāṇ is similar to the 65th mēḷakarta Mēcakalyāṇi and the rāga Yaman takes all the notes of the Kalyāṇ thāṭ. There is another rāga by name Yamankalyāṇ which has a śuddha madhyama prayōga as seen in the South Indian system. This Yamankalyāṇ of Hindustāni system seems to have been evolved in the late 19th century or the early 20th century as it is not mentioned in the Bhātkhaṇḍē system. Bhātkhaṇḍē mentions rāga-s Jayat Kalyāṇ and Śuddha-kalyāṇ under the Kalyāṇ thāṭ.

The following conclusions can be made after the study of the compositions available in the present day:

- The rāga Yamunākalyāṇi handled by Tyāgarāja and Muttusvāmi Dīkṣitar is no longer in vogue in the present day except for their compositions. In that also the oral traditions of Tyāgarāja compositions have changed in accordance with the handling of the rāga as in present day.
- The rāga Yamunākalyāṇi in the present day compositions has a similar structure to the rāga Yamankalyāṇ of the Hindustāni system but with differences. For example, in the Hindustāni system, the rāga is sung in the sama śruti and with a range of two octaves. As said earlier in the South Indian system the rāga has a range of only one octave and to a maximum of 1 ½ octaves and it is sung in madhyama śruti.

It can be said that the rāga has been restricted to a certain structure and has not been explored to its fullest potential. The rāga that is in vogue today in the South Indian system is an altered version of Yaman Kalyāṇ belonging to the present day Hindustāni system and not the Yamunākalyāṇi of 18th century. It can also be said that the rāga Yamunākalyāṇi of the 18th century lives only through the kṛti Jambupatē of Muttusvāmi Dīkṣitar and that too as said earlier is not sung in its original form but with minor variations.

Bibliography

1. Subbarāma Dīkṣitulu, Saṅgīta-sampradāya-pradarśini (1904), pub. The Music Academy, Madras, 2011, Volume 2, English translation
2. Muddu Vēṅkaṭamakhī, Rāgalakṣaṇa (first quarter of 18th c.AD.), critically edited text with critical notes by R.Sathyanarayana, Kalāmūlaśāstra series, Pub. Indira Gandhi National Centre for the Arts, New Delhi & Motilal Banarsidass Publishers pvt. Ltd., 2002.
3. Ganguly O C, Rāga-s and Rāgiṇi-s, pub1935 and revised in 1947
4. Hema Ramanathan, Rāgalakṣaṇasaṅgraha: Collection of Rāga Descriptions from Treatises on

Music of the Mēla Period with translation and notes, pub. N.Ramanathan, Chennai, 2004
5. R.Raṅgarāmānuja Ayyangār, Kṛtimaṇimālai - Sathguru Śri Tyāgarāja Svāmi kṛti-s, English Edition,
6. Subba Rao B, Rāga-Nidhi, Madras Music Academy, Chennai Vol.I-1980, II-1964, III-1965, IV-1966

Lakṣaṇāgrantha-s

Caturdaṇḍī-prakāśikā of Vēṅkaṭamakhī	Part I-Sanskrit text, ed. by Pandit S.Subrahmanya Sastri, T.V.Subba Rao and T.L. Venkatarama Iyer, pub. by The Music Academy, Madras, 1934.
Hṛdayakautuka of Hṛdayanārāyaṇa Dēva	ed. D.K. Joshi, pub. B. S. Sukthankar, Bombay, 1918.
Hṛdayaprakāśa of Hṛdayanārāyaṇa Dēva	ed. D.K. Joshi, pub. B. S. Sukthankar, Bombay, 1918.
Rāgalakṣaṇam of Muddu Vēṅkaṭmakhī	printed as an Appendix to the Caturdaṇḍī-prakāśikā of Vēṅkaṭamakhī, ed. by Pandit S.Subrahmanya Sastri, T.V.Subba Rao and T.L. Venkatarama Iyer, pub. by The Music Academy, Madras, 1934.
Rāgalakṣaṇamu of Śaha Mahārāja	Editor-Dr.S.Seetha, Bṛhaddhvani, Chennai.1990.
Rāgamālā of Puṇḍarīkaviṭṭhala	ed. N.G. Ratanjankar & G.G. Barve, pub. B.S. Sukthankar, Bombay, 1914
Rāgamañjarī of Puṇḍarīkaviṭṭhala	ed. D.K. Joshi, pub. B.S. Sukthankar, Bombay, 1918
Rāgataraṅgiṇi of Lōcana Kavi	ed. by Pt. Baladeva Misra, pub. by Darbhanga-Raj Press, 1934.
Saṅgrahacūḍāmaṅi of Gōvinda and Bāhattara Mēlakartta of Veṅkaṭa Kavi	ed. Subrahmaṇya Śāstri, Adyar Library, Chennai, 1938.
Saṅgītasārasaṅgraha of Tiruvēṅkaṭa	pub Madras Music Academy, Madras, 1940

(Footnotes)

1 *m indicates suddha madhyama

Rāga Dīpaka — A Study

Dr M.Subhasree

Assistant Professor, Department of Indian Music, University of Madras

Dīpaka is one of the prominent raga-s figuring in many of the texts. It is also a raga which has survived till today though with a few number of compositions representing the present melodic structure. This paper will be a study of the evolution of the raga and the treatment of the melody described in various texts.

Saṅgītacūdāmaṇi:

Jagadēkamallā (1138-1150) in his work Saṅgītacūdāmaṇi mentions a rāga named Dīparāga as the 20th rāga. This work mentions 29 śuddha rāga-s, (Jagadēkamalla 1958:73). The editor gives the description as seen in Bharatakōśa and Aumāpatam while explaining Dīpaka. Bharatakōśa is a 20th century work, which is a compendium of verses taken from early texts. With regard to Dīpaka, the work Bharatakōśa, quotes the works of following authors - Bhaṭṭamādhava (1400 AD), Jagadēka, Madana (1375 AD), Sōmarāja's Saṅgītaratnāvaḷi, Mōkṣadēva (1320 AD), Bharata, Paṇḍarīka Viṭṭhalā's Rāgamañjari, Ahōbala and Dāmōdara. Saṅgītadīpika of Bhaṭṭamādhava mentions Dīpa as one of the Rāgāṅgā-s which has sa as the graha svara and ma as the nyāsa svara. A sampūrna rāga that evokes vīra rasā (Rāmakṛṣṇa Kavi1951:272)

The lakṣaṇa of Dīparāga as seen in Saṅgītacūḍāmaṇi is as follows:

Sa is the graha svara. Ma is the amśa svara. Ga and pa are the anta svara (nyāsa); Ri mandra; Sampūrṇa rāga, having bhinnakaiśika madhyama, evokes śānta rasā. (Jagadēkamalla 1958:79)

According to Aumāpatam, the rāga Divi is the apabhrahṃśa of Dīpa rāga. This work also gives the svara phrases - ri ri ga ma ga ma pa pa ga ga ga sa ri ri . This rāga is said to evoke śānta rasā (Jagadēkamalla 1958:79).

Saṇgītaratnākara of Śārṅgadēva mentions Dīpaka as one of the prākprasiddha dēśi rāga-s. This is grouped under the rāgāṅga-s which is eight in number. Kallinātha gives a brief description of Dīpaka which says Dīpaka is a sampūrṇa rāga having Bhinnakaiśika madhyama; ga and pa are weak notes; sa is the graha svara; ma in the nyāsa svara. (Śārṅgadēva 1944:128)

Saṅgītasamayasāra of Pārśvadēva (1300 AD) mentions Dīparāga as one among the twelve rāgāṅga sampūrṇa rāga-s. (Pārśvadēva 1925:16)

In **Bṛhaddharmapurāṇa** (second

half of 13th century?) there is a mention of Dīpaka. The author mentions that 'The svara compositions are the rāga-s and the ragiṇi-s, which are 5 crore 5 lakhs 5 thousand in number. The six principal raga-s according to Bṛhaddharmapurāṇa are Kāmada, Vasanta, Mallāra, Vibhāṣaka, Gāndhāra and Dīpaka. Each rāga is assigned with six wives, six Dāsi rāga-s and a male servant rāga. (Journal of The Music Academy 1938:37- 38)

The rāgiṇi-s and the Dāsi rāga-s of Dīpaka are as follows.

Rāgiṇi-s of Dīpaka	Uttarī, Pūrvikā, Gujjari, Kālagukkari, Goṇḍakarī and Mālā
Dāsi-s of Dīpaka	Dīpahastā, Dīpavarṇā, Dīpakarṇā, Pradīpikā, Dīpākṣi and Dīpavaktrā
Male Servant of Dīpaka	Pradīpanābha

It is interesting to note that the dāsi-s of this rāga also have the name, 'dīpa' either as prefix or suffix.

Rāgataraṅgiṇi of Lōcana Kāvi written in 1375 AD mentions12 major root rāga-s/melodies and their derivatives. This work belongs to the Southern School of tradition. (GangolyOC1935:196). Dīpaka is the twelfth rāga according to this work. There is neither any description nor are there any derivatives from this rāga; for the reason that the rāga Dīpaka was not popular at that time; the musicians were unawre of this rāga.

Rāgamāla of Mēśakarṇa written in 1509 AD mentions the name of the Rāga Dīpaka. Further, this work also gives the names of the rāgiṇī-s and putra rāga-s of Dīpaka. Accordingly, the rāgiṇi-s of Dīpaka are Kāmōdini, Paṭamañjari, Tōḍi, Gujjari and Kāhēli/ Sāraṅgi. The putra rāga-s of Dīpaka are Kamala, Kusuma, Rāma, Kuntala, Kaliṅga, Vahuḷa, Campaka and Hēmala. (GangolyOC1935:195)

Catvārimśacchatarāganirūpaṇa of Nārada written in the 1525-1550 AD mentions Dīpaka as the 9th rāga of 10 male rāga-s (Nārada 1914:21). As mentioned earlier, the dhyānaślōka of Dīpaka seen in Saṅgītadarpaṇa is similar to the dhyānaślōka seen in this work. Similarly, the rāgiṇi-s of Dīpaka according to Catvārimśacchatarāganirūpaṇa are Āsāvēri, Nāṭikā, Dēhali, Karnāṭi and Kēdāri.

asāvēri nāṭikā ca dēhali kānaḍa tathā́ ||
kēdārīti striyaḥ pañca dīpakasya yathā kramaṃ ||

Among the five wives mentioned above, Nāṭika, Karṇāṭi and Kēdāri are also seen in Saṅgītadarpaṇa as the rāgiṇi-s of Dīpaka. The son rāga-s are Kēdāragauḷa, Vairañji, Holi and Saurāṣṭra. Further this work also mentions the wives of the son's. They are Kurañjamañjari, Nāgavarāḷi, Dēvarañjani and Surasindhu.

Dīpaka in Saṅgītadarpaṇa

The work Saṅgītadarpaṇa was written by Catura Dāmōdara. In the chapter Rāgādhyāya the author gives three types of rāga rāgiṇi classification; one is according to the text Rāgārṇava, the next according to Sōmēśvara and the third according to Hanuman mata. The

three classifications give different groups of rāga-s. Following this classification, the author gives the characteristics of some of the rāga-s that were in vogue during his period.

According to the colophon mentioned in Hanuman mata, Dīpaka is a puruṣa rāga having five wives namely, Kēdārī, Kānaḍā, Dēśī, Kāmōdī and Nāṭikā

kēdārī kānaḥ dēśī kāmōdī nāṭikā punaḥ | dīpakasya priyāḥ pañca khyātā rāgaviśāradaiḥ |

The rāga Dīpaka is not seen in the other two classifications. However, the rāgiṇi-s of Dipaka mentioned under Hanuman mata also figure in the other two classifications.

According to Rāgārṇava classification
Kāmōdi and Nāṭika are the wives of Dēśākhya
Kēdāri and Karṇāṭi are the wives of Nāṭa
Dēśi under pañcama

According to Śōmēśvara classification
Kēdāri is the rāgiṇi under Śrīrāga
Dēśi is the rāgiṇi under Vasanta
Karṇāṭi is the rāgiṇi under Pañcama
Kāmōdi and Nāṭika are the wives of Naṭanārāyaṇa

After giving the lakṣaṇa-s of all the five rāgiṇi-s of Rāga Dīpaka, there is a line 'iti pañcabhāryāsahitō hindōḷaḥ' – meaning these are the five wives of Hindōḷa, which seems to be an editorial error. This is seen in the book edited by Vāsudēva Śāstri. It should be read as 'iti pañcabhāryāsahitō dīpakaḥ' (Dāmōdara 1952:43)

Dīpaka and its rāgiṇi-s in Saṅgītadarpaṇa

Rāga	Dīpaka	Sa is graha, amśa and nyāsa; sampūrṇa.; mūrcchana starts with śuddha madhyama s r g m p d n s
Rāgiṇi 1	Kēdārī	Ri and dha are absent; auḍava. Ni is graha, amśa and nyāsa. Kākalisvara is present. n s g m p n n p m g s n
Rāgiṇi 2	Kānaḍā/Karnāṭī	Sampūrṇa, Ni is vikrta. Ni is graha, amśa and nyāsa. n s r g m p d n
Rāgiṇi 3	Dēśī	Pa is omitted. Ri is Graha, amśa and nyāsa. r g m d n s r
Rāgiṇi 4	Kāmōdī	dha is Graha, amśa and nyāsa; belongs to Pauravi Mūrchana;sampūrṇa d n s r g m p d
Rāgiṇi 5	Nāṭikā	Sa is graha, amśa and nyāsa. Sampūrṇa. s r g m p d n s s n d p m g r s

The lakṣaṇa of Dīpaka according to Saṅgītadarpaṇa states that this is a sampūrṇa rāga. The svara sa is the graha, amśa and nyāsa svara. The mūrchana starts on śuddhamadhyama. This can be sung at all times.

ṣaḍjagrahāmśakanyāsaḥ sampūrṇō dīpakō mataḥ |
mūrchanā śuddhamadhyāsyāt gātavyā gāyanai sadā||

(Dāmōdara1952:40)

Dhyānaślōka in Saṅgītadarpaṇa

bālāratārthaṃ pravilīnadīpe gṛhē'ndhakāre subhagī pravṛtaḥ ||
tasyāḥ śirōbhūṣaṇaratnadīpaiḥ lajjām tadānīm kṛtavān pradīpaḥ ||

(Dāmōdara 1952:40)

The dhyānaślōka of Dīpaka in Saṅgītadarpaṇa is similar to that of the ślōka given in Catvārimsacchatarāganirūpaṇam.

Dhyānaślōka in Catvārimsacchatarāganirūpaṇam

bālāratārthaṃ pravilīnadīpe gṛhē'ndhakāre subhagī pravṛtaḥ ||
tasyāḥ śirōbhūṣaṇaratnadīpairlajjām sasajjāṃ kṛtavān pradīpaḥ ||

(Nārada 1914:21)

Meaning

Dīpaka is a young girl bejewelled with ornaments was engaged in the house which was in darkness; she appeared charming with the lighted lamp and was filled with shyness when the lamp reflected the light from her and her husband's ornaments.

Rāgavibōdhā of Sōmanātha written in the year 1609 mentions a rāga Pāvaka. Emmie Nijenhuis in her work, Rāgā-s of Sōmanātha gives a description of Pāvaka/Dīpaka. According to this work, Sōmanātha and Nārada (author of Catvārimśacchatarāganirūpaṇa) are the only two to mention Pāvaka. In Nārada's dhyānaślōka, the rāga is represented as Agni - the God of fire which may be synonymous to Dīpaka - the lamp light. According to this work, the rāga Pāvaka which denotes fire is born from Māḷavagauḍa mēḷa. The lakṣaṇa of the rāga is as follows: ga is the graha svara. dha is the amśa svara and sa is the nyāsa svara. This can be sung at all times. (sadāgānakāla) ni is varja. The dēvatāmaya rūpa of Pāvaka is mentioned thus –

The deity of Pāvaka represents the beautiful, dark blue-coloured gōpāla playing on the vīṇa, during his never ending sports of pleasure, who is fond of applying various sorts of the unguent to his body. (Sōmanatha - M S Rāmasvāmi Ayyar(ed):36)

Since the name Dīpaka also denotes light and fire, it is said that the word Dīpaka was replaced by Pāvaka. However, Nārada mentions both the rāga-s Dīpaka and Pāvaka in his work.

agnivarṇō dhūmraśikhī taptadēhō'ti sundraḥ |
śaktihastō mēṣavāhaḥ pāvakaḥ kathitaḥ punaḥ ||

(Nārada 1914:12)

Pañcamasārasamhita is a work attributed to Nārada. According to Guru Bipin Singh, the editor of this work, the period is placed as 1570-72 to 1630-32. This work mentions rāga Dīpika which is said to be the Stri (Wife) of Hindōḷa. Rāga dhyānaślōka of this work states

that, this rāga is fit to be sung in the evening. The description is as follows- Body red in colour, Dressed in red, Holding dīpaka (lamp) in hand, having a bindi in her forehead, wearing red necklace. (Nārada 1984:19)

Svaramēḷakalānidhi of Rāmamātya (1550 AD) mentions the rāga Dīpaka under Śuddharāmakriya mēḷa (Rāmamātya 1932:23). The svara-s sa, ri, pa and dha are śuddha in this Śuddharāmakriya mēḷa. It is also mentioned as an adhama rāga. (Rāmamātya 1932:30)

Rāgamañjari of Puṇḍarīka Viṭṭhala (1572-1578 AD) mentions Dīpaka as a derivative of Dēśikāra mēḷa, which is equated to the 51st mēla Kāmavardhani. The description of the rāga is as follows – a sampūrṇa rāga having Dha as the graha, amśa and nyāsa svara. Fit to be sung in the evening. It is to be noted that this rāga is not found in the other works of Puṇḍarīka Viṭṭhala. However, the author in his work Sadrāgacandrōdaya mentions that Śuddharāmakriyā also possess the same set of svaras as in Dēśikāra mēḷa. But he does not mention the name Dīpaka. (Hema Ramanathan 2004:400)

Rāgatāḷacintāmaṇi of Pōluri Gōvinda Kavi, a work belonging to early 17th century mentions the rāga Dīpaka as a derivative born from Śuddharāmakriyā mēḷa (Pōluri Gōvinda Kavi 2008:352). This work gives the names of twenty mēḷā-s and their derivatives. The twenty mēḷā-s are the same as mentioned in Svaramēḷakalānidhi. Dīpaka is mentioned as a masculine rāga. (Pōluri Gōvinda Kavi 2008:372)

Hṛdayakautukam of Hṛdayanārāyaṇādēva written in the year 1646 follows the southern principle of classification (GangolyOC1935:207). This work mentions Dīpaka as an additional root-raga which is just included but it is not actually described. (Hema Ramanathan 2004:401)

atha ṭhāṭa-prakaraṇa dīpak-samsthānam lēkhyam

Rāgatattvavibōdha of Srinivāsa (1665-1680 AD) states that this is born from Māḷava. The mūrchanā begins from gāndhāra (graha svara.) The svara-s ma and ni are absent in the ascent. sa is amśa and nyāsa svara. This description is also seen in Saṅgītapārijāta and Bhāvabhaṭṭa's works. In addition this work also gives svara sañcāra-s

ga pa dha sa ga ri sa ni dha dha dha pa ma ga ga pa ma ga ga pa ma ga. ri sa ri sa. - ri sa sa sa sag a pa dha ni dha dha. pa ma ga. ri sa sa ri sa ri sa rig a pa. ma ga ri sa

(Hema Ramanathan 2004:401)

Rāgalakṣaṇamu of Śāhajī (1684-1711AD) mentions this as a Rāgāṅga rāga, born from Śuddharāmakriya. This is a sampūrṇa rāga having similar svara phrases as in parent rāga but employs more of jhaṇṭa svara-s. ((Hema Ramanathan 2004:403,404)

Saṅgītapārijāta of Ahōbala belonging to 17th century mentions Dīpaka as a derivative of Māḷava having its melodic movement starting from ga. Hence, the svara ga may be taken as the graha svara. Sa is the amśa and nyāsa svara. The svara-s ma and ni are varja in ārōhaṇa krama. The Māḷava is equated to the 15th mēḷa Māyāmāḷavagauḷa. This rāga has to be sung after second watch. This work also mentions the svara phrases and the melodic movement in

this rāga.

‘ga pa dha sa ga ri sa sa sa ni dha pa dha. pa ma ga. ri sa sa
ri sa ri sa ri ga pa dha ni dha dha. pa ma. ga ga. ri sa’
‘sa ri sa sa dha sa sa ri ga ma (?) pa ga ri sa ma ri ga ga pa dha sa sa ni dha dha. pa ma. mi(?)
ga ga. ri sa ri ri sa sa ni dha pa pa dha sa sa sa ri sa ga ga pa ga pa ga pa dha sa sa ri ga pa ma ma. ri ga. ga. ri sa ri sa sa ni dha pa dha ni dha pa pa ma ga ga pa ma ga ri ri sa sa.’

(Hema Ramanathan 2004:400)

Saṅgītasārāmṛta of Tulaja (1729-1735 AD) describes Dīpaka as the rāga born from Rāmakriya mēḷa. This is a sampūrṇa rāga where the saḍja is the graha, amśa and nyāsa svara. This is sung during the fourth watch of the day. This work also gives the rāgavardhani and ṭhāya prayōga-s. (Hema Ramanathan 2004:404)

Saṅgītasārāmṛtōddhāra by Tuḷaja (1763-1787) gives this rāga as a derivative of Śuddharāmakriyā mēḷa. A sampūrṇa rāga where the svara sa serves as the sa graha, amśa and nyāsa svara. (GangolyOC 1935:213)

In Bhāvabhaṭṭa’s works Anupasaṅgītaratnākara, Anupasaṅgītavilāsa and Anupasaṅgītāṅkuśa there is a mention of Dīpaka. According to Anupasaṅgītaratnākara, Dīpaka is a sampūrṇa rāga mēḷa. Dha graha, amśa and nyāsa svara. This rāga is apt for singing during evening. (Hema Ramanathan 2004:402). Anupasaṅgītavilāsa mentions Dīpaka as born from Māḷava. The mūrccana begins from gāndhāra (graha svara), the svara-s ma and ni are absent in the ārōhaṇa krama. Sa is amśa and nyāsa svara. This work quotes from Saṅgītapārijāta and Rāgamañjari. (Hema Ramanathan 2004:402). Anupasaṅgītāṅkuśa gives the same names of the rāgiṇi-s attributed to Dīpaka as in Saṅgītadarpaṇa.

Rāgalakṣaṇamu of Muddu Vēṅkaṭamakhi belonging to first quarter of 18th century mentions Dīpaka as a upāṅga rāga janya of 51st mēḷa (Hema Ramanathan 2004:400).

Saṅgrahacūḍāmaṇi of Gōvinda (1750-1800 AD) states that Dīpaka is born from Kāmavardhani having sa as the graha, amśa and nyāsa svara. Ri and ni are varja in the ārōhaṇa krama. The rāga is sampūrṇa in the avarōhaṇa krama (Hema Ramanathan 2004:406).

Mahābharatacūḍāmaṇi (18th-19th century) mentions Dīpaka as the janya of Nāṭakapriya mēḷa (Hema Ramanathan 2004:407).

According to Saṅgītasārasaṅgrahamu of Tiruvēṅkaṭakavi (1800 AD) Dīpaka is a janya of Kāmavardhani mēḷa having the ārōhaṇa and avarōhaṇa s g m p d p ṡ - ṡ n d n s g p m g r s (Hema Ramanathan 2004:400)

Rāgākutūhala of Rādhakṛṣṇa Kavi (Samvat 1853-1781) mentions Dīpaka as one of the masculine rāga and gives five rāgiṇi-s which are Kanaḍā, Dēśi, Kāmod, Kēdāra and Naṭ (GangolyOC1952:214)

- Dīpaka for a period of time was a root melody (according to some texts) and was also treated as a masculine rāga.
- This was also a sampūrṇa rāga as mentioned in Saṅgītadarpaṇa

and various early texts. Later it came to evolve as a Auḍava sampūrṇa rāga.

- Some other texts treat Dīpaka as a feminine rāga placing it under the following rāga-s namely Hindōḷa, Dēśikāra, Śuddharāmakriyā and Ramakriyā
- The works Anupasaṅgītavilāsa and Rāgakutūhala give the same names of the rāgiṇi-s for Dīpaka following Saṅgītadarpaṇa.
- The later period texts predominantly mēḷa texts invariably mention Dīpaka as the derivative of Dēśikāra, Śuddharāmakriyā and Rāmakriya mēḷa in which the svara-s taken are similar to the present day Kāmavardhani mēḷa.
- Saṅgītapārijāta mentions Dīpaka under the Māḷava which resembles the 15th mēḷa Māyāmāḷavagauḷa – the śuddha madhyama counterpart of Kāmavardhani.
- There is one composition in Dīpaka today. The kṛti 'Kaḷaḷanērccina' of Tyāgarāja is composed in the rāga Dīpakam which is treated as a janya of Kāmavardhani mēḷa following the ārōhaṇa and avarōhaṇa s g m p d p ṡ- ṡ n d n p m g r s
- The Dīpakam of Karṇāṭak music has more resemblance to the rāg Dīpak belonging to Pūrvi thāt of Hindustani music. In Dīpak of Hindustani music, ni is present in the ascent but omitted in the descent. It is to be noted that there are two other rāga-s by the name Dīpak which belongs to Bilāval thāt and Khamāj thāt (Subba Rao1964:4-5).

Conclusion

The rāga Dīpaka finds a place right from the earlier part of 12th century. This was considered a masculine rāga having rāgiṇi-s attributed to it. Some texts treat Dīpaka as a rāgiṇi itself. The earlier Dīpaka was a sampūrṇa rāga. The dhyānaślōka of Dīpaka seen in Saṅgītadarpaṇa and Catvārimśacchatarāganirūpaṇa of Nārada are similar. The three rāgiṇi-s Kēdāri, Kānaḍa and Nāṭika of Dīpaka are seen in both the texts. The rāga description is same in both the works.

The texts Svaramēḷakalānidhi, Rāgamañjari, Rāgatāḷacintāmaṇi, Rāgalakṣaṇamu of Śāhaji, Saṅgītasārāmṛta, Saṅgītasārāmṛttōdhāra, Rāgalakṣaṇa of Muddu Vēṅkhaṭamakhi, Saṅgrahacūḍāmaṇi and Saṅgītasārasaṅgrahamu describe the rāga Dipaka as the derivative of Śuddharāmakriyā mēla, Dēśikara mēḷa which is equated to the 51st mēḷa Kāmavardhani. The works Saṅgītapārijata, Rāgatattvavibōdha and Anupasaṅgītavilāsa mention Dīpaka as a derivative of Māḷava. The present day Dīpaka as handled by Tyāgarāja in his composition Kaḷalanērcina follows the former version - the janya of Kāmavardhani mēḷa.

In Hindustani music, there are three rāga-s by the name Dīpaka belonging to

three different thāṭ-s Bilāval, Khamāj and Pūrvi. There is also a rāga Dīpakalyāṇ belonging to Kalyāṇ thāṭ. This is also mostly referred to as Dīpak. According to Subba Rao, it is only regarding Dīpak rāga belonging to Pūrvi thāṭ that unanimity and reliability of opinion exists.

Dīpak of Pūrvi thāṭ is a ṣāḍava - ṣāḍava rāga omitting ri in the āṛoha and ni in the avarōha. s g m p d n ṡ – ṡ d p m g r s . It is to be noted that Pūrvi thāṭ of Hindustani music corresponds to the Kāmavardhani mēḷa. The present day Dīpaka of Karṇāṭāk music follows the ārōha and avarōha s g m p d p ṡ - ṡ n d n p m g r s. This is auḍava sampūrṇā rāga. The svara-s ri and ni are omitted iin the ascent.

Dīpaka was a popular rāga in the north. An interesting anecdote associated with Tānsēn shows the greatness of the rāga. Tānsēn adorned the court of Akbar. He was a legendary musician. Once, Akbar requested Tānsēn to sing the rāg Dīpak. Tānsēn hesitated to perform the rāga Dīpak as it was known as the rāga of fire. So Tānsēn requested the King to give him some time. Meanwhile Tānsēn taught his daughter the rāga Mēgh-the rāga of rain. One fine day, Tānsēn was set to perform the rāga Dipak in the court of Akbar. As he started singing Dīpak, the temperature of the hall started rising. Suddenly, the hall was lit with countless diyā-s. As the performance continued, everything in the surrounding started burning. In the meantime Tānsēn's daughter started singing rāg Mēgh which brought clouds and rains all over to douse the fire. This shows the greatness of his music and the power of the rāga.

Thus it is observed that the rāga Dīpaka, an ancient rāga has developed as one of the major rāga-s for a period of time. In some texts like Hṛdayakautukam and Rāgataraṅgiṇi, there is just a mention of the rāga but there is no description of the rāga. In general, the description seen in many of the texts denote the rāga Dīpaka as the rāga of lamp, light, fire etc. Later the lakṣaṇa-s given in the mēḷa texts predominantly state that Dīpaka is born from Śuddharāmakriya and Dēśikara which is equated to Kāmavardhani mēḷa. This rāga is still in vogue in the northern and southern schools of classical music.

Bibliography

Anūpa-saṅgītāṅkuśa of Bhāvabhaṭṭa	ed. Dattātrēya Kēśava Jōśī, pub. BS Sukhathaṇakara, Mumbai 1919.
Anūpa-saṅgīta-ratnākara of Bhāvabhaṭṭa	ed. Dattātrēya Kēśava Jōśī, pub. BS Sukhathaṇakara, Mumbai 1919.
Anūpa-saṅgīta-vilāsa of Bhāvabhaṭṭa	ed. Dattātrēya Kēśava Jōśī, pub. BS Sukhathaṇakara, Mumbai 1921.
Aumāpatam of Umāpati,	ed. by K.Vasudeva Sastri, pub. by Government Oriental Manuscripts Library, Madras, 1957.

Catvāriṃśacchata-rāganirūpaṇam of Nārada	ed. Dattātrēya Kēśava Jōśī, published by BS Sukthankara, Mumbai, 1914.
Hṛdayakautuka of Hṛdayanārāyaṇa Dēva	ed. D.K. Joshi, pub. B. S. Sukthankar, Bombay, 1918.
Hṛdayaprakāśa of Hṛdayanārāyaṇa Dēva	ed. D.K. Joshi, pub. B. S. Sukthankar, Bombay, 1918.
Nartananirṇaya of Paṇḍarīkaviṭṭhala	ed., tran., comm. R. Sathyanarayana, pub. The Indira Gandhi National Centre for the Arts & Motilal Banarsidass, Delhi, Vol.1 - 1994 Vol.2 – 1996 Vol.3 -1998
Pañcama-sāra-samhita of Nārada and Saṅgīta-dāmōdara of Dāmōdara Sen	ed. Bipin Singh, pub. by Manipuri Nartanalaya, Kalkatta 700026, 1984
Rāgavibōdha of Sōmanātha	with his own commentary Viveka, ed. by Pandit S. Subrahmanya Sastri, Pub. in the Adyar Library Series by Adyar Library, Madras, 1945.
Saṅgītacūḍāmaṇi of Kavicakravarti Jagadēkamalla	ed. by Pandit D.K.Velankar, pub. in the Gaekwad's Oriental Series by Oriental Institute, Baroda, 1958.
Saṅgītadarpaṇa of Dāmōdara Paṇḍita.	ed. by K Vasudeva Sastri, pub. in Tanjore Sarasvati Mahal Library series, Tanjavur, 1952.
Saṅgītamakaranda of Nārada	ed. M.R.Telang, Gaekwad Oriental Series - XVI, Baroda, 1920.
Saṅgītasamayasāra of Pārśvadēva	ed. by T.Ganapati Sastri, pub. in Trivandrum Sanskrit Series, Trivandrum, 1915.
Saṅgītaratnākara of Śārṅgadēva	with the commentaries Kalānidhi of Kallinātha and Sudhākara of Simhabhūpāla, ed. by Paṇḍita S. Subrahmaṇya Śāstrī, pub. in the Adyar Library Series by Adyar Library, Madras --vol. II 1944.

Svaramēlakalānidhi of Rāmāmātya	ed. and translated in English by M.S. Ramaswami Iyer, pub. by Annamalai University, Annamalai nagar, 1932

Books:

Gangoly O C, Rāga-s and Rāgiṇi-s, pub1935 and revised in 1947

Hema Ramanathan (HemaR 2004), Rāgalakṣaṇasaṅgraha: Collection of Rāga Descriptions from Treatises on Music of the Mēla Period with translation and notes, pub. N.Ramanathan, Chennai, 2004. www.musicresearch.in

Krishna Veni.N, Rāgatāḷacintāmaṇi of Pōlūri Gōvinda Kavi: (Critical Edition with Translation and Comments), pub. by Dhanush Infotech, Hyderabad, 2008.

Nijenhuis, E. Wiersma-te. The rāgas of Somanātha. Leiden, E. J. Brill, 1976.

Raghavan V, Some Names in Later Sangita Literature, Journal of the Music Academy, 1933, pp.16-24; 50-85; Sangeet Natak Akademi, Bulletin 1960, no.17 (pp.1-24) & 1961, no.18 (pp.1-18), New Delhi.

Rāmakṛṣṇa Kavi, Bharatakōśa, TTD Religious Publications Series, no.230, Tirupati, 1951.

Subba Rao B Rāga-Nidhi: pub.by Madras Music Academy, Chennai Vol.I-1980, II-1964, III-1965, IV-1966

Journals

Raghavan V. "Music in the Brhadharmapurana." Journal of the Music Academy, IX, 1938.

Structure of the Musical Form 'Varṇam' in Karnāṭaka Music — An Oveview

Dr Rajshri Ramakrishna
Associate Professor and Head i/c
Department of Indian Music
University of Madras
Chennai

Anuthama Murali
Research Scholar
Department of Indian Music
University of Madras
Chennai

Introduction:

Musical form and compositions are an important element of Indian music. This is more so in Karnāṭaka music for rāga-s are conveyed and understood through them. Lakṣaṇa grantha-s are also a source for understanding rāga-s and their lakṣaṇa-s, but it is known that the lakṣya precedes the lakṣaṇa. Karnataka music has a gamut of musical forms like the gīta, svarajati, kṛti, kīrtana etc. One such early musical form is the Varṇam. It is historically said to be composed in praise of kings and patrons and mostly in Telugu language.

Varṇam as a musical form of Karnāṭaka music was composed from the late 17th century. Composers of varṇam prior to the Musical Trinity (Tyāgarāja, Muddusvāmy Dikṣita and Śyāma Śāstri) or pre-trinity were Gōvindasāmayya, Kūvaṇasāmayya, Paccimariyam Ādiyappiah, Pallavi Gōpālayya, Rāmasvāmi Dīkśita and Soṇṭi Vēṅkaṭasubayyar. From the Karnātaka music trinity only Śyāma Śāstri and Muddusvāmi Dīkśita have composed varṇam-s. Some of the post trinity varṇam composers include Bālusvāmi Dīkśita, Subbarāma Dīkśita, Vīna Kuppayyar, Pañcapakeśa Bhāgavatar and Tiruvōṛṛiyūr Tyāgayya. A study of Varṇam-s throws light on its developments in the above mentioned time periods with respect to elements like the rāga (melody), structure, tāla (time span), composers style of composing etc. Notations available in publications are an important source for the study for varṇam. This paper brings forth an overview of an important aspect of the Varṇam – its structure, through a study of varṇam-s in pre -1940 publications. This paper does not cover the study of other aspects of varṇam related to tāla, melody and it classification.

1. Varṇam—A conventional representation

1.1 Structure - The opening section of the Varṇam is called the "Pallavi" (P) which is mostly composed for a duration of 2 āvarta-s (āvarta = one complete tāla). This is followed by the Anupallavi

(AP) which is composed for 2/4 āvarta-s. normally, the sāhitya of the P and AP is rendered. The AP is followed by a svara (solfa)/svara- sāhitya (lyrics) passage of 2/4 āvarta-s. This section is called the Muktāyi svara (MS). The Caraṇa (C) appears after the MS for 1 āvarta. Like the P, the sāhitya of the C is alone rendered. The C is followed by svara passages or svara/sāhitya passages called Ciṭṭa svara (CS). There may be different nomenclature in use in different languages and publications. The CS is alternatively called the ettugaḍa svara, caraṇa svara. the C may be alternatively be called as Ettugaḍa Pallavi. The anubandham (AB) is a section composed after the last CS in some aṭa tāla and very few ādi tāla varṇam-s. Singing of AB is out of practice in recent times. A varṇam without an AB ends with the C while that without one ends with the P.

1.2 Classification – Tāna varṇam and Pada varṇam are the two commonly understood categories of varṇam in the contemporary practice. Tāna varṇam-s are composed with or without sāhitya for all sections. The sections which essentially have sāhitya are the P, AP and C. The sections which may or may not have sāhitya in a tāna varṇam are the MS and CS. Most of Tāna varṇam-s practiced do not have sāhityam for MS and CS. Pada varṇam as understood today is a dance form with sāhitya for all its sections. Cauka varṇam is one more categorization which is seen in publications. The implication of Tāna, Pada and Cauka categorization of varṇam-s is an independent in-depth study which is necessary to associate it with other aspects of varṇam.

1.3 Sequence of rendering – Notations of most varṇam-s give both svara and sāhitya of the varṇam. Commonly, the sāhitya of P and AP of the varṇam is rendered, followed by the MS and rested at the P. The C is rendered next followed by CS with the caraṇa sung in between each CS. In some publications like the Gāyakalōcana and the SSSS, the sāhitya alone is given for P, AP and C for pada varṇam-s. Svara sāhitya is given for rest of the sections. There are few publications wherein notations indicate the svara as the refrain for svara passages and sāhitya as refrain for sāhitya segment. An example for this can be seen in Cakravākamu rāga varṇam in the Gandharva Kalpavalli (GK) – 1929 (p.49). AB-s in varṇam-s are rendered after singing the last CS and C. The AB connects to the MS after which the Pallavi is rendered. Hence varṇam with AB end with the P.

2. Terms used in varṇam-s in pre-1940 publications

This section deals with the terms which are used in context to structure of varṇam-s.

Pallavi, Anupallavi and Caraṇa are the sections observed in most books. It is to be noted that these are the sāhitya sections and the only consistent ones found in varṇam-s. These sections may be called consistent because there cannot be found any addition and deletion of elements in these sections. For eg- There are no Varṇam-s found without these sections. Similarly these sections cannot be found with any element other than sāhitya

like jati. The section names Muktāyi svara, svara sāhitya, ciṭṭa svara, svara sāhitya jati, etc differ from text to text depending upon the elements found in them like svara, sāhitya and jati. It is noted that these sections are dynamic with respect to their content. These sections may be composed either with sāhitya, jati or without them. This may be one of the reasons for the variation in nomenclature. Observations with respect to the terms related to the structure of varṇam-s in notations are given below-

- Sections are not marked in few books like SSSS. Sequence and structure for these are known from the markings provided for the refrain lines. The 'caraṇa' in the SSSS refers to the section which is commonly known as 'anubandham '. Eg - 'Viribhōni' - Bhairavi rāga (aṭa tāla) varṇam, 'Sāmininne' - pantuvarāḷi rāga (ādi tāla). The Prathama Sikśa Prakaraṇamu (PSP) is one such other book which does not give any section names.
- Most of the publications mention the sections P, AP and C. The svara passages are given as a part of AP and C as applicable. Other books with such notations are the Gāyaka Pārijātamu (GP),1877, Saṅgīta Sudhāmbudhi (SSu) 1917, Saṅgīta Pradāyini (SP), 1916.
- The nomenclature ciṭṭa svara is found in Ādi-saṅgīta-sarvārtha-cintāmaṇi (ASSC), (date??). It is used for svara section following both the AP and the C. the gāyaka lōcanmu gives the name Ciṭṭasvara to the svara passage following the AP and the name Viḍisvara to the svara passages following the caraṇa.
- The marking for Muktāyi svara as a svara segment in found in the Saṅgītānanda Ratnakaramu (SR-Ten), 1917. The svara passages following the C are however not named.
- The term ettugaḍa is used in two elements – ettugaḍa svara and ettugaḍa pallavi. Ettugaḍa svara is found in the tamil and telugu editions of Gandharva kalpavalli GP(Tam), 1912 and GP(Tel),1929 for marking the svara sections following the AP. Gānavidyāvinōdini (GVV), 1915, uses the the term Ettugaḍa pallavi to demarcate the section containing the C and svara-s following it.
- The name cittai pallavi and ettugaḍai is also used in Saṅgīta Prathama Śikṣa Prakaraṇamu (SPSP), 1913 in place of Caraṇa.
- The Saṅgīta-saṁpradāya-pradarśini (SSP), 1904 and the Prathama Abhyāsa pustakamu (PAP), 1905 are the only books which give section names in Varṇam-s like Muktāyi svara, Citta svara, Muktāyi svara sāhitya, Muktāyi svara sāhiyta jati, svara sāhitya, svara sāhitya jati. These sections seem to be customized according to the contents of the corresponding sections.

The various terms and nomenclatures related to the structure of Varṇam-s have been discussed above. The following section will deal with the structure of the varṇam –

3. Study of Structure of Varṇam-s

A study of Varṇam-s have been made taking into consideration their sections, sāhitya structure, sequence of singing and the number of āvarta-s in each section. Varṇam-s have been categorized as under for study purpose and clarity.

3.1 Regular type - Varṇam-s with P,AP of 2 āvarta-s each and svara passage of 2/4 āvarta-s each.
3.2 Regular type varṇam with anubandham.
3.3 Pallavi more than 2 āvarta structure –
3.4 Anupallavi more than two āvarta structure
3.5 Anupallavi more than 4 āvarta structure
3.6 MS more than two āvarta structure
3.7 Caraṇa more than 1 āvarta structure.
3.8 Multiple carana structure
3.9 Irregular structure – any other structure different from that of above

3.1 Regular type - Varṇam-s with P, AP of 2 āvarta-s each followed by svara passage of 2/4 āvarta-s each.

Most of the varṇam-s (pre-trinity, trinity and post trinity) studied are composed in this structure. It is observed that the varṇam-s in this group have a maximum length of 4 āvarta-s in any of their CS-s.

Evvari in Ābhōgi rāga, ādi tāla of Paṭṭam Subramanya Ayyar is an example with 2 āvarta-s of MS. Tōdi rāga varṇam 'ērā nāpai" of the same composer is another composition of the same composer with 4 āvarta-s in the MS.

3.2 Regular type - with Anubandham

Varṇam-s composed by pre-trinity, trinity and post – trinity composers are found in this structure. Similarly tāna, pada and cauka Varṇam-s are also found under this type.

Sāminīrammana in rāga Ānandabhairavi by Śyāmā Śāstri is an eṭample of trinity varṇam with anubandham in aṭa tāla. Sāmi dayajūḍa in Kēdāragauḷa set to ādi tāla is an eṭample to post trinity. Ninnekōri in rāga Gamakakriya is an example of Pre-trinity varṇam composed by Soṇṭi Veṅkaṭasubbayyar.

3.3. Pallavi more than 2 āvarta structure

About 9 varṇam-s are found with such structure. There is one varṇam set to rūpaka tāla and one set to tiśra ēka. Remaining 7 varṇam-s are set to ādi tāla. It is observed that composers of 5 of these varṇam-s varṇam belong to pre-trinity. Gōvindasāmayya, Kūvanasāmayya, Rāmasāmy Dīkṣita are among the composers of these varṇam-s.

'Nīsari' of Gōvindasāmayya (kedāragauḷa) set to ādi tāla is a pre-trinity varṇam with this structure. 'Entaninne' of Subbarāma Dikṣita (kamās) in tiśra ēka is a post trinity varnam with this structure.There are no trinity varṇam-s with this structure.

3.4 Anupallavi with more than 2 āvarta-s structure

About 27 varṇam-s are found in this category. Two varṇam-s are found with AB-s. 6 varṇam-s have sāhitya for all their sections. Both pre and post trinity varṇam-s are found to be composed with this structure. It is observed that there are

no varṇam-s with AB-s in this category. Only one aṭa tāla with 4 āvarta-s in AP which is pre-trinity varṇam given below.

Cālanammināchāna in erukulakqmbhōji rāga composed by pañcapakeśa bhāgavatar set to ādi tāla is a post trinity varṇam with anupallavi of 4 āvarta-s. Nenaruñci in rāga Bilahari set to aṭa tāla composed by Soṇṭi veṇkaṭa subbayyar is a pretrinity varṇam in this category. There are no trinity varṇam-s with this structure.

3.5 Anupallavi more than 4 āvarta-s

There is only one varṇam found with AP of 6 āvarta-s.

Virakamu in vamśavati rāga set to ādi tāla composed by Muttukumārapulavar and dhātu by Bālusvamy dīkśita making it a post trinity varṇam.

3.6 MS more than two āvarta structure

Both pre trinity and post trinity varṇam-s are composed in this category. It is noted that two ādi tāla varṇam-s of Vīṇa Kuppayyar are composed with AB in this structure. No other varṇam-s are found with AB in this category.

'Sārasākśi nine' by Vīna Kupayyar set to ādi tāla is an example with AB. Cauka varṇam by Rāmasāmy Dīkśita set to Rūpaka tāla 'ēla nammine cēvu' is pre trinity example. No trinity varṇam-sa re composed with MS more than 2 āvarta-s.

3.7 Caraṇa more than 1 āvarta structure.

There are 4 varṇam-s found in this category - two ādi tāla varṇam-s, one rūpaka tāla and one tiśra jāti ēka tāla. It is understood that the number of āvarta-s may be more in smaller tāla-s like rūpaka to accommodate necessary sāhitya and melody. More than one āvarta in C in ādi tāla varṇam appears to be a pre-trinity feature.

Svarasthāna varṇam 'sarigādāni' by Rāmasāmy Dīkṣita in ādi tāla is a pre-trinity varṇam. 'entaninne' in Kamās by Subbarāma Dīkśita is a post trinity pada varṇam with this structure. No trinity varṇam-s are found with C more than 1 āvarta.

3.8 Multiple caraṇa structure

The Kamās rāga pada varṇam composed by Subbarāma Dīkśita set to tiśra jāti ēka tāla is the only varṇam found in the study having multiple C-s. These C-s are however not named as C. But this can be concluded from sequence of singing indicated in the SSP. The 4 C's in this Varṇam have 4, 4, 4, and 8 svara sāhitya respectively. There are no pre-trinity and trinity varṇam-s with nore than one caraṇa-s.

3.9 Varṇam-s with irregular structure.

Varṇam-s which do not have any of the structure mentioned above are included in this. The varṇam 'manci samayamidē' in rāga cakravākamu, in the Gandharvakalpavalli (p.49) is one such varṇam. This Varṇam has a P followed with 5 svara sāhitya passages. Thus other sections which compose a varṇam are not seen in this composition. This composition is given under the title of Rāgamālika varṇam-s in the book.

'sargadāni' in Mōhana rāga composed by Gōvindasāmayya could be included in this category as there is no ādi tāla varṇam with more than 2 āvarta-s oḍ melody and sāhitya in the P. this varṇam has 4 āvarta-s in the AP and 8 in the CS.

Conclusion

1. Varṇam-s with 2 āvarta-s in P and AP and 2/4 āvarta-s in the MS

normally do not have CS-s of more than 4 āvarta-s.

2. Varṇam-s with more than two āvarta-s in the P are normally set to tāla-s other than ādi. for eg. Rūpaka or tiśra ēka.
3. All aṭa tāla varṇam-s have two āvarta-s in the AP and one āvarta in the C.
4. Vīna Kuppayyar, Subbarāma Dīkśita have composed ādi tāla varṇam-s with AB. Hence AB-s are not typical to aṭa tāla varṇam-s alone. However Vīṇa Kuppayyar ādi tāla Varṇam-s in PSK alone are observed to have AB-s. besides Vīṇa Kuppayyar, Subbarāma Dīkśita and Bālusvāmy Dīkśita have composed ādi tāla varṇam-s with AB-s. Thus varṇam-s with AB-s are found in pre-trinity, trinity and post trinity period.
5. C with more than 1 āvarta is not found among varṇam-s. It appears to be a pre trinity feature. The pada varṇam in Kamās rāga composed by Subbarāma Dīkśita is the only post trinity varṇam with C having 4 āvarta-s.
6. Normally Varṇam-s are composed with one C. Subbarāma Dīkśita's varṇam in Kamās rāga is one composed with multiple C.

Thus, the various structures of varṇam-s as seen in publications have been studied here. The structure of varṇam-s as composed in different time periods by different composers are also studied.

Bibliography

1. Ramanathan N, "Pre-1940 Music publications" http://musicresearchlibrary.net/omeka/items/show/2355
2. Krishna svamy ayyar C S, Saṅgīta Sikṣa Prakaraṇam, m/s cookson and company, Chennai, 1913.
3. Krishna Svamy Ayyar C.S, 'Saṅgīta Prathama Sikṣa Prakaraṇamu', m/s Craves Cookson and co., Scottish press, Chennai, 1913.
4. Nadamuni, Saṅgītasvaraprastārasāgaramu, record 1502, Dauden co. Mudrākṣaraśāla, 1914.
5. Saṅgīta-sampradāya-pradarṣini of Subbarāma Dikṣita, English Web Version, 1908
6. Subbarāma Dikṣita, Saṅgīta-sampradāya-pradarṣini, Pub. Vidia Vilasini press, 1904 (Telugu)
7. Taccūru Singāracāryulu brothers, Gāyaka Pārijātamu, (book 2), Kalāratnākara press, 1912
8. Taccūru Singāracāryulu brothers, Gāyaka Pārijātamu, (book 2), Kalāratnākara press, 1877
9. Taccūru Singāracāryulu brothers, Gāyaka Siddhānjanamu (Book 5, Part 2), Kalāratnākara press,1903
10. Taccūru Singāracāryulu brothers,Gāyaka Siddhānjanamu (Book 5, Part 2), Kalāratnākara press,1906
11. Tiger Varadācāriyār, Tamil Isai Padalgal Part II, Tamil Gītavarṇangaḷ, Annamalai Publication, Tyāgarājan T.M, Isai Muttukkal, Dr. Lakshmi Poduval,
12. Tiruvoṛṛiyūr Tyāgaraja, Pallavi-svara-kalpavalli, Tiruvoṛṛiyūr Tyāgarāja, Chennai, 1900.
13. Vasudevacariyar K, krishnamacariyar, , 'Saṅgītapradāyini', Srinivasa Ayyangar K.V 1916.
14. Moonooswamy Naidu N, Sangeetha sutha sangraham The, Sreenikathanam Press, Madras, 1906.
15. Savitri Rajan and Michael Nixom, ' Saṅgīta Sarvārtha Sāra Saṅgrahamu', Journal of Music Academy, Madras, vol 52, 1981.
16. Sripathy Rajshri, Critical study of Sangīta-sarvārtha-sāra-saṅgrahamu, Mother Teresa Women's University, 2008.
17. Veṅkaṭēśa Śāstri TM, Saṅgīta-svayam-bōdhini, 1892, Lawrence Institute Press (Taylor G.W.), Madras, 1892.

Appendix

S.No	PUBLICATION NAME	Language	AUTHOR	YEAR OF PUBLISHING
1	Saṁgīta-Sarvārtha-Sāra-Saṁgrahamu (SSSS)	Telugu	Vīṇa Rāmānuja	1859
2	Gāyaka Parijātamu (GP)	Telugu	Taccūru Siṅgāracāryulu & Alaha Siṅgāracāryulu	1877, (1927??)
3	Prathama Sikṣa Prakaraṇam (PSP)	Telugu	Cittūr Lōkanāda Mudaliyār	1874,77,90
4	Saṅgīta Svayambōdhini (SSBo)	Telugu	T.M.Veṅkatēśa Śāstri	1892
5	Pallavi Svara Kalpavalli (PSK)	Telugu	Tiruvoṟṟiyūr Tyāgayya (Ed.)	1900
6	Gāyakalōcanam (GL)	Telugu	Taccūru Siṅgāracāryulu & Alaha Siṅgāracāryulu	1902
7	Saṅgīta-saṁpradāya-pradarśini (In Two Parts.) (SSP)	Telugu	Subbarāma Dikṣitar	1904
8	Prathamabhyāsa Pustakamu (PAP)	Telugu	Subbarāma Dikṣitar	1905
9	Saṅkīrtana Ratnāvali (SkR)	Telugu	Tiruvoṟṟiyūr Tyāgayya (Ed.)	1907
10	Saṅgīta Sudhā Saṅgrahamu (SSSan)	Telugu	C.Munusvāmi Naiḍu	1909
11	Saṅgīta Vidya Darpaṇam (SVD)	Telugu	Ummiḍi Seṭṭi Veṅkaṭa Svāmi Naiḍu	1910
12	Gandharva Kalpavalli (GK)	Tamil	Rāmulu Chetty.P.S	1912
13	Saṅgīta Prathama Sikṣha Prakaraṇamu (SPSP)	Tamil	Kriśnasvāmi Ayyar C.S	1913
14	Saṅgita Svara Prastara Sagaramu (Ssps)	Telugu	Nādamuni Paṇḍitulu	1914
15	Gāna Vidya Vinōdini (GVV)	Telugu	Vīṇa Basavappa	1915
16	Saṅgīta Pradāyini (SPra)	Telugu	Vidvān K.Varadācāri Vīnai. K.Kṛśnamacāriyār & K.V.Śrīnivāsa Ayyaṅgār	1916
17	Saṅgīta Sudhāmbudhi (SSu)	Telugu	K.V.Śrīnivāsa Ayyaṅgār	1917
18	Saṅgītānanda Ratnakaramu (SR-Ten)	Telugu	Tenmatham Veṅkata Narasiṁhacāryulu & Veṅkata Varadacāryulu.	1917

1. Ramanathan N, "Pre-1940 Music Publications, http://musicresearchlibrary.net/omeka/items/show/2355.
2. Sâhitya section which follows the last svara passage in some varṇµam-s

An Overview of Dēśya rāga-s of Saṅgīta Sampradāya Pradarśini — A Historical Perspective

Dr R Hemalatha
Assistant professor
Department of Indian Music
University of Madras
Chepauk, Chennai

S Suchitra
Research Scholar
Department of Indian Music
University of Madras
Chepauk, Chennai

Introduction:

The term dēśīya is seen in the first quarter of 18th century as found in the treatise, "Rāgalakṣaṇam" (RL-MV) of Muddu Vēṅkaṭamakhī. Muddu Vēṅkaṭamakhī classifies 25 rāga-s as dēśīya rāga-s. Following RL-MV to a greater extent, Saṅgīta Sampradāya Pradarśini (SSP) of Subbarāma Dīkṣitar, 1904 AD mentions 23 rāga-s as dēśīya rāga-s (or) "auttara rāga-s" and gives explanation as those that have come from the North. Before Muddu Vēṇkaṭamakhī, Śāhaji in his text "Rāgalakṣaṇamu" (RL-S), 1684-1711 AD, has mentioned and described 16 rāga-s under dēśī classification.

Subbarāma Dīkṣitar while describing dēśīya rāga-s, gives a note that they are "auttara rāga-s" meaning those rāga-s that have come from the North. It is also interesting to note that most of the rāga-s that were classified as dēśī in RL-S, have been classified as rakti in SSP. RL-MV and SSP mention 20 rāga-s in common. Bilahari and Gamakakriyā are not mentioned as a dēśīya rāga and Kamās has not been mentioned in RL-MV. RL-S and SSP mention 3 rāga-s in common under the dēśīya classification, namely Janatōḍi, Māruva and Pūrvi. Though these rāga-s have been mentioned as dēśīya, all these rāga-s have also been classified as rakti in SSP.

The evolution of the 23 dēśīya rāga-s can be traced back to five centuries, since the beginning of the mēla period. The classification of dēśīya rāga-s have been so significant in the texts RL-S, RL-MV and SSP. Hence, the 23 rāga-s are studied across all the three texts. The tabulation below shows the classification of the 23 dēśīya rāga-s of SSP across all the three texts; SSP, RL-S and RL-MV.

S. NO.	RĀGA NAME	CLASSIFICATION Rā	Upā, bhāṣā and description	CLASSIFICATION AS IN RL-S	CLASSIFICATION AS IN RL-MV
1.	Janatōḍi (ra - dē)	8th Mēḷa	Rāgāṅga rāga Sampūrṇa, rakti, dēśī rāga. Saḍja graha	Mentioned as Tōḍi. Sampūrṇa, dēśī rāga Sa, ri, ma, pa, dha are śuddha, Sādhāraṇa ga, pañcama varja prayōgā-s are available in gītā-s	Mentioned as Janatōḍi. Rāgāṅga, dēśīya, rakti rāga of the 8th mēḷa.
2.	Pūrvi	15th Mēḷa	Bhāṣāṅga – 2 Sampūrṇa, rakti, dēśī rāga. Saḍja graha	Mentioned as Pūrvi. Sampūrṇa, dēśī rāga Straight progression of svara-s in both the ārōha and avarōha.	Mentioned as Pūrvī. Sampūrṇa with sa as graha. This text lists this rāga under Bhāṣāṅga rāga-s of the 15th mēḷa and classes it as rakti as well as dēśīya rāga.
3.	Māruva	15th Mēḷa	Bhāṣāṅga–4	Sampūrṇa, rakti, dēśī rāga. Saḍja graha Sūlādi and prabandha prayōgā-s are given	Mentioned as Māruva. Sampūrṇa, dēśī rāga Mentioned as Māruva. (Sam) pūrṇa with sa as graha omitting ri in the ascent. This text lists this rāga under Bhāṣāṅga rāga-s of the 15th mēḷa. This text doesn't mention this rāga under dēśīya rāga-s.
4.	Rāmakali	15th Mēḷa	Bhāṣāṅga – 9 Sampūrṇa, rakti, dēśī rāga. Saḍja graha. Ma and ni are varjya in the ārōhaṇa	Mentioned as Bibhāsu. Śāḍava, dēśī rāga Ma varja prayōgā-s are given. This rāga is mentioned as Bibhāsu	Mentioned as Rāmakalī. Sampūrṇa omitting ma and ni in ascent with sa as graha. This text lists this rāga under Bhāṣāṅga rāga-s of the 15th mēḷa and classes it as dēśīya rāga.
5.	Pharaju	15th Mēḷa	Bhāṣāṅga – 10 Sampūrṇa, rakti, dēśī rāga. Saḍja graha	This rāga is not mentioned in this text	Mentioned as Pharajū. Sampūrṇa rāga with sa as graha. This text lists this rāga under Bhāṣāṅga rāga-s of the 15th mēḷa and classes it as dēśīya rāga.
6.	Gauri (ra – dē)	15th Mēḷa	Bhāṣāṅga – 11 Sampūrṇa, rakti, dēśī rāga. Saḍja graha. Ga varjya in the ārōhaṇa, cyuta pañcama is featured in the avarōhaṇa.	This rāga is not mentioned in this text	Mentioned as Gaurī. Sampūrṇa rāga which includes cyuta pañcama with sa as graha. This text lists this rāga under Bhāṣāṅga rāga-s of the 15th mēḷa and classes it as rakti as well as a dēśīya rāga.

7.	Vasanta	15th Mēḷa	Bhāṣāṅga – 12 Sampūrṇa*1, rakti, dēśī rāga. Saḍja graha. Pa varjya in the ārōhaṇa, vakra cyuta pañcama in the avarōhaṇa.	This rāga is not mentioned in this text	Mentioned as Vasanta. Sampūrṇa rāga which includes cyutapañcama. In the ascent, it is devious around ga and drops ri. This text lists this rāga under Bhāṣāṅga rāga-s of the 15th mēḷa and classes it as dēśīya rāga.
8.	Bhairavam	16th Mēḷa	Bhāṣāṅga – 1 Sampūrṇa, rakti, dēśī rāga. Saḍja graha. Suddha Dhaivata prayōgā-s are found.	This rāga is not mentioned in this text	Mentioned as Bhairava. (Sam) pūrṇa rāga with sa as graha. This text lists this rāga under Bhāṣāṅga rāga-s of the 16th mēḷa and classes it as dēśīya rāga.
9.	Māñji	20th Mēḷa	Bhāṣāṅga – 5 Sampūrṇa, rakti, dēśī rāga. Saḍja graha. Suddha Dhaivata prayōgā-s are found.	This rāga is not mentioned in this text	Mentioned as Māñjī. Sampūrṇa rāga with sa as graha. This text lists this rāga under the 20th mēḷa and classes it as dēśīya rāga.
10.	Bṛndāvani	22nd Mēḷa	Bhāṣāṅga – 4 Auḍava, rakti, dēśī rāga. Saḍja graha. 'Ga' and 'dha' varjya rāga. Svalpa Gāndhāra prayōgā-s are seen in the prayōgā-s	This rāga is not mentioned in this text	Mentioned as Bṛndāvanī. This rāga is auḍava lacking ga and dha. It has sa as graha. This text lists this rāga under Bhāṣāṅga rāga-s of the 22nd mēḷa and classes it as dēśīya rāga.
11.	Rudrapriya	22nd Mēḷa	Bhāṣāṅga – 9 Sampūrṇa, rakti, dēśī rāga. Saḍja graha. Dha varjya in the avarōhaṇa.	This rāga is not mentioned in this text	Mentioned as Rudrapriyā. (Sam)pūrṇa rāga and drops dha in ascent. This text lists this rāga under the 22nd mēḷa. This text doesn't mention this rāga under dēśīya rāga-s.
12.	Darubāru	22nd Mēḷa	Bhāṣāṅga – 10 Sampūrṇa, rakti, dēśī rāga. Saḍja graha.	This rāga is not mentioned in this text	Mentioned as Darubāru. Sampūrṇa rāga. This text lists this rāga under Bhāṣāṅga rāga-s of the 22nd mēḷa and classes it as dēśīya rāga.
13.	Sahāna	22nd Mēḷa	Bhāṣāṅga – 11 Sampūrṇa, dēśī	This rāga is not mentioned in	Mentioned as Sahānā. (Sam) pūrṇa rāga with sa as graha.

			rāga. Saḍja graha. P vakra in the ārōhaṇa.	this text	It is devious around pa in the ascent. This text lists this rāga under Bhāṣāṅga rāga-s of the 28th mēḷa and classes it as dēśīya rāga.
14.	Nāyaki	22nd Mēḷa	Bhāṣāṅga – 12 Sampūrṇa, dēśī rāga. Saḍja graha.	This rāga is not mentioned in this text	Mentioned as Nāyakī. Sampūrṇa rāga with sa as graha. This text lists this rāga under Bhāṣāṅga rāga-s of the 22nd mēḷa and classes it as dēśīya rāga.
15.	Suraṭi	28th Mēḷa	Bhāṣāṅga – 4 Sampūrṇa, dēśī rāga. Saḍja graha. Ga and dha varjya in the ārōhaṇa.	This rāga is not mentioned in this text	Mentioned as Suraṭi. This rāga drops ga and dha in ascent. This text lists this rāga under Bhāṣāṅga rāga-s of the 28th mēḷa and classes it as dēśīya rāga.
16.	Aṭhāṇā	28th Mēḷa	Bhāṣāṅga – 6 Sampūrṇa, dēśī rāga. Saḍja graha. There is the usage of Kākali niṣāda seen in this rāga. Modern writers are placing it under 29th mēḷa.	This rāga is not mentioned in this text	Mentioned as Aṭhāṇā. Sampūrṇa rāga with sa as graha. This text lists this rāga under Bhāṣāṅga rāga-s of the 28th mēḷa and classes it as dēśīya rāga.
17.	Jujāvanti	28th Mēḷa	Bhāṣāṅga – 8 Sampūrṇa, dēśī rāga. Saḍja graha. Usage of both sādhāraṇa gāndhāra and antara gāndhāra are seen.	This rāga is not mentioned in this text	Mentioned as Jujāvantī. Sampūrṇa rāga with sa as graha. This text lists this rāga under the 28th mēḷa and classes it as dēśīya rāga.
18.	Kamās	28th Mēḷa	Bhāṣāṅga – 9 Sampūrṇa, dēśī rāga. Saḍja graha. Sādhāraṇa gāndhāra phrases are seen only in the tāra sthāyi.	This rāga is not mentioned in this text	Mentioned as Kamāsū. The rāga is mentioned under the mēla Harikāmbhōjī and has sa as the graha, amśa and the nyāsa svara. The author mentions that there is a trace of ri in the ārōha and it omits

			In the lakṣya, there is no sañcāra below mandra sthāyi niṣāda.		ri in the avarōha. The svara movement is given as under: 'sa ma ga ma pa dha ni sa' 'ri sa ni dha pa ma ga sa'
19.	Bilahari (dē – ra)	29th Mēḷa	Bhāṣāṅga – 1 Sampūrṇa, rakti, dēśī (?)*2 rāga. Saḍja graha.	Sampūrṇa, dēśī rāga Mentioned as "Bilāhuri" under the mēḷa of Śankarābharaṇam	Mentioned as Bilāhurī. Rakti rāga Mentioned as "Bilāhuri" in the list of Bhāṣāṅga rāga-s of the 29th mēḷa.
20.	Dēvagāndhāri	29th Mēḷa	Bhāṣāṅga – 8 Sampūrṇa, dēśī rāga. Saḍja graha. Kaiśiki niṣāda shoes up at some places. In the ārōhaṇa, ga and ni show up in some places.	Only one Dēvagāndhāri under Śrīrāga mēḷa is described in this text. The dēvagāndhāri under Śankarābharaṇam mēḷa is not mentioned in this text.	Mentioned as Dēvagāndhārī. This rāga under 29th mēḷa is mentioned both in the list of rakti and Dēśīya rāga-s but description of only one dēvagāndhāri is available under the 22nd mēḷa.
21.	Gamakakriya	53rd Mēḷa	Rāgāṅga Sampūrṇa, rakti, dēśī rāga. Saḍja graha. Ni varjya in the ārōhaṇa.*3	This rāga is not mentioned in this text	Mentioned as Gamakakriya. Rāgāṅga rāga sung at all times
22.	Yamunākalyāṇi	65th Mēḷa	Bhāṣāṅga -1 Sampūrṇa, dēśī rāga. Saḍja graha. Śuddha madhyama is seen at certain prayōgā-s.	This rāga is not mentioned in this text	Mentioned as Yamunākalyāṇī. Sampūrṇa, Dēśīya rāga
23.	Haṁvīru	65th Mēḷa	Bhāṣāṅga – 3 Sampūrṇa, dēśī rāga. Saḍja graha. Śuddha madhyama is seen at certain prayōgā-s.	This rāga is not mentioned in this text	Mentioned as Haṃvīru. This text classes this rāga under dēśīya rāga, but does not describe it.

Observation:

The rāga-s (Jana)tōḍi, Māruva and Pūrvī are found to be classified as dēśīya and dēśī rāga-s in SSP, RL-MV and RL-S respectively. The status of these rāga-s have remained unchanged though, they have been seen elevated as rakti rāga-s in SSP. All the rāga-s have been mentioned as Bhāṣāṅga rāga-s in SSP except Janatōḍi and Gamakakriya, which have been mentioned as Rāgāṅga

rāga-s. This classification as a bhāṣāṅga rāga signifies that all these rāga-s have developed through the four centuries. All the rāga-s are found to possess ṣaḍja as their graha svara. The rāga-s: (Jana) tōḍi, Māruva, Pūrvi, Bilahari (mentioned as Bilāhuri in RL-S) and Dēvagāndhāri are found mentioned in RL-S.

According to Subbarāma Dīkṣitar, Rāmakali (9th Bhāṣāṅga rāga of the 15th mēla) is also called as Bibhās by people in the North. Hence the rāga Rāmakali can be equated to Bibhāsu. The rāga Rāmakali is not found mentioned in RL-S text (here; it is to be noted that R. Sathyanarayana in his critical edition and commentary of Rāgalakṣaṇam of Muddu Vēṅkaṭamakhī, mentions that the rāga Rāmakalī has been used by Śāhaji in his Tyāgēśa pada-s. [:82,133-,5]). Whereas, the rāga Bibhāsu has been mentioned by Śāhaji as a dēśī rāga. Quite interestingly, Muddu Vēṅkaṭamakhi mentions both Bibhāsu and Rāmakali under dēśīya rāga-s for which the reason is unknown. The other 17 rāga-s are not mentioned in RL-S. This indicates that these rāga-s were not in vogue during Śāhaji's period.

The information regarding some of the dēśīya rāga-s found in SSP are given below:

*1 – There is a note about rāga Vasanta in SSP by Subbarāma Dīkṣitar stating that some people believe that pañcama is absent for vasanta rāga which is incorrect. In the first ācchvāsa of vasu caritra, composed by the eminent poet Rāmarāja Bhūṣaṇa, who was applauded as great scholar and had the ability to compose four different types of kāvya-s in both Sanskrit and Telugu and was also the recipient of the birudu – Saṅgīta rahasya kalānidhi, it is stated that "arigā pañcamamēpagiñci" and in the 131st padya it is again mentioned that "vasantamu mahā sampurṇa bhāvōnnatin". From these statements, it seems Vēṅkaṭamakhi arrived at the conclusion that vasanta rāga is sampūrṇa."

*2 – Bilahari has been mentioned as a deśī rāga (dē-ra) in the table of "Rāgāṅgōpāṅga Bhāṣāṅga Rāga Mūrcchanaṃ Table (Rāgāṅga and Janya rāga-s)" but it has not been mentioned as a dēśī rāga in the lakṣaṇa vivaraṇa given by Subburāma Dīkṣitar.

*3 – Subbarāma Dīkṣitar gives a note that the rāga Gamakakriya is also known as Pūrvikalyāṇi.

Conclusion:

The reason for the change in the category of the rāga from dēśi to rakti as classified in RL-S and SSP respectively, can be attributed to the compositions composed in these rāga-s during the period of Trinity. For example, the rāga Tōḍi, which is mentioned as dēśī, is a prominent rāga in the South Indian Music today. Moreover, the embellishments or gamaka-s are more in this rāga, which should be again attributed to the handling of this rāga by the various composers. Similarly, as mentioned above, RL-MV mentions 25 dēśīya rāga-s and SSP mentions 23 dēśīya rāga-s. Some of the rāga-s classified as dēśīya rāga-s in RL-MV

have not been mentioned as dēśīya rāga-s in SSP, but have been mentioned as rakti rāga-s. For example, rāga Māñji is described as dēśīya rāga in RL-MV, but as a rakti, bhāṣāṅga rāga in SSP. This change clearly indicates that the compositions during the trinity period may have paved the way for the growth.

References:

1. Subbarāma Dīkṣitulu, Saṅgīta-sampradāya-pradarśini (1904), pub. The Music Academy, Madras, 2011, Volume 2, English translation.
2. Śāha Mahārāja, Rāgalakṣaṇamu (1684-1711), ed. Dr.S.Seetha, Pub. Brhaddhvani Madras, 1990.
3. Muddu Vēṅkaṭamakhī, Rāgalakṣaṇa (first quarter of 18th c.AD.), critically edited text with critical notes by R.Sathyanarayana, Kalāmūlaśāstra series, Pub. Indira Gandhi National Centre for the Arts, New Delhi & Motilal Banarsidass Publishers pvt. Ltd., 2002.
4. Hema Ramanathan, Rāgalakṣaṇasaṅgraha, Pub. N. Ramanathan, Chennai, 1st Edition, 2004.
5. Rāmāmātya, Svaramēlakalānidhi (1550 AD), ed. by Bharadvaja Sharma, pub. by Sri Ganesa yantralaya, 1910.

Footnote

1. ‹åhaji terms dç›ðya as dç›ð in RL-S.

Analysis of Svarāvaḷi Exercises in Karnāṭaka Music from early Telugu Publications

Dr Rajshri Ramakrishna
Associate Profesor & Head i/c
Department of Indian Music
University of Madras,
Chepauk, Chennai

Deepa Iyer S
M.Phil Scholar
Department ofIndian Music
University of Madras
Chepauk, Chennai

INTRODUCTION

Karnāṭaka Music is an aesthetic art form of South India. The basic practice exercises with a graded approach helps to understand the grammar of Karnāṭaka Music and forms the foundation for learning and understanding the nuances of this art form. The basic exercises are created with the seven basic notes in rāga (mode) māyāmālava gaula (double harmonic scale). The basic exercises include; Svarāvali/SaraḷiVariśai-s, Jaṇṭa Variśai-s, Hēccu Sthāyi Variśai-s, Dātu Variśai-s, Alaṅkāra-s and Gīta-s.

A popular publication 'Gānāmṛta Bōdhini' by Pañcāpakēsa Ayyar is the source of reference for all students of Karnāṭaka music. In the early Telugu publications apart from the commonly practiced exercises as given in 'Gānāmṛta Bōdhini' have listed varisai-s, and an analysis of the svara groupings in these varisai-s introduce the student to the different melodic and rhythmic intricacies of Karnāṭaka music. These early music publications are treated as the primary source as they are documented for the first time in print by the performer/creator himself.

This article aims to analyse the svarāvaḷi exercises as seen in pre-1940 Telugu publications. This is a comparative study of the commonly practiced Saraḷi Variśai-s as given in 'Gānāmruta Bōdhini' vis-à-vis the Svarāvaḷi exercises from the pre-1940 Telugu publications. This study will also enable us to understand the purpose and benefits of practising these music exercises as documented in these publications.

Though a good number of music texts were published during 1859-1940, only a few are available today. The Telugu publications taken up for the study include;

Publication	Author	Year	Contents
Saṅgīta Sarvārtha Sāra Saṅgrahamu (SSSS)	Vīṇa Rāmanuja	1859	Caturaśra Jāti Varusalu (17)
Gāyaka Pārijāta (GP-TB)	Taccur Siṅgāracaryulu & Alaha Siṅgāracaryulu	1877	Svarāvaḷi (16)
Saṅgīta Svayambōdini (SSB)	T.M.Veṅkatēśa Śaṣtri	1892	Svarāvaḷi (17)
Pallavi Svara Kalpavalli (PSK)	Tiruvoṛṛiyūr Tyāgayya	1900	Svarāvaḷi (12)
Prathamabhyāsa Pustakamu (PAP)	Subbarāma Dīkṣita	1905	Varusalanēdi Alaṅkāramulu (6)
Saṅgīta Sudha Saṅgrahamu (SSS-MN)	C. Munusvāmi Naidu	1909	Svarāvaḷi (12)
Gāna Vidya Vinōdini (GVV)	Vīṇa Basavappa	1915	Svarāvaḷi (12)
Saṅgīta Pradāyini (SP)	K. Varadācāri, Vīṇai K. Kṛṣṇamācāryār and K. V. Śrīnivāsa Ayyengār	1916	Svarāvaḷi (32) Section I – 15 Section II – 6 Section III – 10
Saṅgītānanda Ratnākaramu (SAR)	Tenmatṭham Brothers	1917	Svarāvaḷi (24)
Saṅgīta Sudhāmbudhi (SSu)	K. V. Śrīnivāsa Ayyengār	1917	Svarāvaḷi (15)
Svaramañjari (SM-TB)	Taccur Siṅgāracaryulu & Alaha Siṅgāracaryulu	1924	Svarāvaḷi (12)
Gandharva Kalpavalli (GK-RS)	P. Rāmulu Setti	1929	Svarāvaḷi (11)
Gānāmrutha Bōdhini (GB)	A.S Panchāpakēsa Iyer		Swarāvaḷi Varisaigaḷ (14)

ANALYSIS OF SVARAVAḶI FROM EARLY TELUGU PUBLICATIONS

1. Saṅgīta Sarvārtha Sāra Saṅgrahamu

In the 1859 publication, Saṅgīta Sarvārtha Sara Saṅgrahamu by Vīṇa Ramānuja, the practical lessons are called Lakṣyamu which means 'Practical music'. The Svarāvaḷi section in this text is called as Caturaśra Jāti Varusalu which begins with māḷava rāga dhyāna ślōkamu followed by ādi tāla dhyānamu.

Svarāvaḷi Exercises in SSSS[1]
s r g m – p d n s
s r g m – s r g m – s r g m – p d n s
s r s r – s r g m – s r g m – p d n s
s r g m - s r g m - s r s r - s r g m - p d n s
s r g m – p d s r – s r g m – p d n s
s r g m – p d n , - s r g m – p d n s
s r g s – r g s r – s r g m – p d n s
s r g m - p s r g - s r g m - p d n s
s r g m – p m g r – s r g m – p d n s
s r g m – p , s r – s r g m – p d n s
s r g m – p , p , - s r g m – p d n s
s r g m – p m d p – s r g m – p d n s
s n d p - m p g m - s r g m - p d n s
s , r , g , m , - pm dp - sn rs - sn dp - sn dp
s r g m - p , p , - d n s r - s , s ,
s, n, d, p,- m, m, d, n, - s, n, d, p, - d, s, n, d, - s, r, s, s, - n, s, n, d, - p, m, g, r, - s,
s, r, g, m, - p , , , g m - p , , , p , , ,

Observation:

This work lists 17 exercises under Svarāvaḷi section out of which 8 exercises are different from the exercises in popular practice today.

All the Varusalu have a mention of two terms, Vilambamu and Drutamu. Vilamba means Dhīrga akṣara-s with vowel extensions whereas; Drutamu refers to Hṛsva akṣara-s with no vowel extensions. It is seen that each exercises has a meaningful Sāhitya passage. The concept of Caturaśra where the svara-s are grouped as four forms the basis of the later musical form, Varnam. The last exercise is a arranged in a format of singing kalpana svara-s.

2. **Gāyaka Pārijāta**

This publication by Taccur brothers lists 16 exercises in the svarāvaḷi section.

Svarāvaḷi Exercises in GP-TB
s r g m – p d n s
s r g m – s r g m – s r g m – p d n s
s r g m - s r g m - s r s r - s r g m - p d n s
s r g m – s m g r – s r g m – p d n s
s r g m – p d m p – s r g m – p d n s
s r g m – p d s r – s r g m – p d n s
s r g m p d – r g m p d n – p d n s
s r g m – d p m g – s r g m – p d n s
s r g m – p d n d – s r g m – p d n s
s r s g – r g m g – s r g m – p d n s
s r g r – g m g r – s r g m – p d n s
s r g r – r g m g – g m p m – m p d p
s r g – s r g – s r – s r g m – p d n s

s , r – g , m g r – s r g m – p d n s
s r g m p – r g m p d – g m p d n s
s r g m p – g m p – s r g m – p d n s

Observation:

In the Svarāvaḷi exercises, Dāṭu svara prayōga-s are also used. The later Svarāvaḷi exercises do not restrict itself to the Madhya Sthāyi and includes Tāra Sthayi svara phrases.. Technical terms are used to show the different grouping of notes such as; Tiśra for 3, Caturśra for 4 and Khaṇḍa for 5.

3. Saṅgāta Svayamōdini

Saṅgīta Svayambōdini is an 1892 publication by T.M.Veṅkatēśa Śaṣtri. The Svarāvaḷi section gives 17 exercises which include commonly practised and rare exercises.

Svarāvaḷi Exercises in SSB
s r g m - p d n ṡ - ṡ n d p - m g r s
s r g m - s r g m - s r g m - p d n ṡ
s r g m - s r s r - s r g m - p d n ṡ
s r g m - p m g r - s r g m - p d n ṡ
s r g m – p d s r – s r g m – p d n s
s r g m - p d r g - m p d n - p d n ṡ
s , r g - m g r s - r g m p - d n ṡ ,
s r g m - p d n ṡ - ṡ ṡ ṡ ṡ - p p p p
s r g m - p d n ṡ - ṡ , ṡ , - p , p ,
s r g m - p d n ṡ - ṡ , ṡ , - p , p , (withslur)
ṣ ṛ g ṃ - p ḍ ṇ s - s r g m - p d n ṡ - ṡ n d p - m g r s - s ṇ ḍ p - ṃ g ṛ ṣ
s r g m - g p m r - g p m g - r m g s
s r g m - g p m d - p g m r - s p g s
s g r m - g p m d - p n d s - n p d m - p m g r - g p g s
s m g r - d p m g - p ṡ n d - n ṡ d p - d n p g - m d p r - g p g s - n s s ,
s p g s - r d m r - g n p g - m d m r - g p g s - r ṇ s ,

Observation:

A noteworthy aspect seen in this publication is that all the basic exercises are set to Śaṅkarābharana (C Major) and not to Māyamālava gaula. From the 17 Svarāvaḷi exercises listed by the author, around 12 exercises are uncommon. The concept of the elongated usage of S-P-Ṡ is seen in this work. The Svarāvaḷi exercises do not restrict itself to the Madhya Sthāyi and includes Mandra Sthāyi notes as well. These exercises include Dāṭu svara and Jaṇṭa svara prayōga-s as well.

4. Pallavi Svara Kalpavalli

Tiruvotturu Tyāgayya published the work Pallavi Svara Kalpavalli in 1900. This work is a compilation of the compositions of Vīna Kuppayyar. The first chapter of this work Svarāvaḷi Gīta Prakaranamu is completely dedicated to the basic exercises of Karnāṭaka Saṅgīta. The first section of Svarāvaḷi Gīta Prakaranamu consists of twelve Svarāvaḷī exercises.

Svarāvaḷi Exercises in PSK
s r g m - p d n ṡ - ṡ n d p - m g r s
s r g m - s r g m - s r g m - p d n ṡ
s r g m - s r s r - s r g m - p d n ṡ
s r g m - p , p , - s r g m - p d n ṡ
s r g m – p , s r – s r g m – p d n ṡ
s r g m - p m g r – s r g m - p d n ṡ
s r g m – p m d p – s r g m – p d n ṡ
s r g m – r g m p - s r g m - p d n ṡ
s r g m - p , g m - p , , , - p , , ,
s , n d - n , d p - d , p m - p , p ,
s r g r - g , g m - p m p , - d p d ,
s r g m - p , p , - d d p , - m m p ,

Observation:

The Svarāvaḷi exercises seen in this text are commonly practised in the present day. These exercises include karma, dhīrga and Jaṇṭa svara prayōga-s.

5. Prathamābhyāsa Pustakamu

This work by Subbarāma Dīkṣita was published in the year 1905. The Svarāvaḷi exercises in this work are called Varusalaneḍi Alaṅkāramulu. Apart from the regular vocal exercises, this works gives techniques and exercises from playing vīṇa as well. There are six varusalu called alaṅkāramulu that are commonly practised today listed by the author which is followed by a series of ten exercises that include S-P-Ṡ varusalu.

Svarāvaḷi Exercises in PAP
s r g m - p d n ṡ - ṡ n d p - m g r s
s r g - s r g s r - s r g m - p d n ṡ
s r g m – p , s r – s r g m – p d n ṡ
s r g m – p m d p – s r g m – p d n ṡ
s r g m - p m g r – s r g m - p d n ṡ
s r g m - s r g m - s r g m - m p m p - ṡ n d p - m p d ṙ - ṡ n d p - m g r s
srgm pdnṡ - s , s , - ṡndp mgrs - s , s ,
srgm pdnṡ - s , · s - ṡndp mgrs - s , · s
srgm pdnṡ - ṡ , s , - ṡndp mgrs - s , s ,
srgm pdnṡ - ṡ s s s - sndp mgrs - s s s s
srgm pdnṡ - sṡṡṡ - ṡṡṡṡ - ṡndp mgrs - ssss – ssss
srgm pdnṡ - s , p , - ṡndp mgrs - s , p ,
srgm pdnṡ - s s p p - ṡndp mgrs - s s p p
srgm pdnṡ - sṡṡṡ - pppp - ṡndp - mgrs - ssss – pppp
srgm pdnṡ - ṡ p s p - ṡndp - mgrs - s p ṡ p
srgm pdnṡ - ṡ ṡ p p - s s p p - ṡndp mgrs - s s p p - ṡ ṡ p p

Observation:

It is noted that the basic Svarāvaḷi exercises are called as Varusalaneḍi Alaṅkāramulu. The ten S-P-Ṡ varusalu incorporates karma and jaṇṭa svara prayōga-s. The ninth and tenth varusa-s introduces the S-P-Ṡ concept in a single exercise. The ninth exercise combines two speeds in a single exercise while the tenth exercise is sung in a single speed with jaṇṭa svara prayōga-s.

6. Saṅgīta Sudhā Saṅgrahamu

The 1909 publication, Saṅgīta Sudhā Saṅgrahamu by C. Munusvāmi Naidu includes 12 Svarāvaḷi exercises.

Svarāvaḷi Exercises in SSS-MN
s r g m - p d n ṡ - ṡ n d p - m g r s
s r g m - s r g m - s r g m - p d n ṡ
s r g m - s r s r - s r g m - p d n ṡ
s r g m - p , p , - s r g m - p d n ṡ
s r g m – p d m p – s r g m – p d n ṡ
s r g m p d – s r – s r g m - p d n ṡ
s r g m p d – r g m p d n – p d n ṡ
s r g m – d p m g - s r g m - p d n ṡ
s r g m - p d n d – s r g m – p d n ṡ
s r g m – r g m g – s r g m – p d n ṡ
s r g m – g m g r – s r g m – p d n ṡ
s r g r - r g m g - g m p m - m p d p

Observation:

The 12 Svarāvaḷi exercises seen in this text have 9 uncommon exercises listed. These exercises include karma svara-s or linear notes along with dāṭu svara-s and dhīrga svara prayōga-s.

7. Gāna Vidya Vinōdini, Svaramañjari & Gandharva Kalpavalli

This 1915 publication, GVV and 1924 publication, SM-TB give initial exercises

for practise which include 12 Svarāvaḷi exercises and GK-RS includes 11 exercises.

Observation:

The Svarāvaḷi exercises seen in these texts are similar to the exercises listed in the 1900 publication, Pallavi Svara Kalpavalli. These exercises include karma, dhīrga and Jaṇṭa svara prayōga-s.

8. Saṅgīta Pradāyini

Saṅgīta Pradāyini is a 1916 publication that stresses on the basic initial exercises and lists 32 Svaravaḷi exercises in 3 different sections. The First section gives 16 exercises, the second section lists 6 exercises and there are 10 exercises in the last section.

Svarāvaḷi Exercises in SP
Section I (16)
s r g m - p d n ṡ - ṡ n d p - m g r s
s r g r - s r g m - s r g m - p d n ṡ
s r g s - r s r g - s r g m - p d n ṡ
s r g m – s r s r - s r g m - p d n ṡ
s r g m p - s r g - s r g m - p d n ṡ
s r g m - p d s r - s r g m - p d n ṡ
s r s r - s r s r - s r g m - p d n ṡ
s r g s - r s r g - s r g m - p d n ṡ (4th)
s r g m - p m g r - s r g m - p d n ṡ
s r s r - g r s r - s r g m - p d n ṡ
s r g r – g m g r – s r g m – p d n ṡ
s r s r - s r g r - s r g m - p d n ṡ
s r g s - r g s r - s r g m - p d n ṡ
s r g r - g r s r - s r g m - p d n ṡ
s r g m - g m g r - s r g m - p d n ṡ
s r g m - s r g m - s r g m - p d n ṡ
Section II (6)
s r s g - r g r m - s r g m - p d n ṡ
s g r m - g r g s - s r g m - p d n ṡ
s m g m - r g s r - s r g m - p d n ṡ
s m g m - p g m r - s r g m - p d n ṡ
s m g p - m d p n - s r g m - p d n ṡ
s m r p - m r p ṡ - s r g m - p d n ṡ
Section III (10)
s r g m - p d n ṡ - s , , , - s , , ,
s r g m - p d n ṡ - r , , , - r , , ,
s r g m - p d n ṡ - g , , , - g , , , - ṡ n d p - m g r s - d , , , - d , , ,
s r g m - p d n ṡ - m , , , - m , , , - ṡ n d p - m g r s - p , , , - p , , ,
s r g m - p d n ṡ - ṡ , ṡ , - p , p , - ṡ n d p - m g r s - s , s , - p , p ,
s r g m - p d n ṡ - ṡ , p , - s , p , - ṡ n d p - m g r s - s , p , - ṡ , p ,
s r g m - p d n ṡ - ṡ ṡ ṡ ṡ - p p p p - ṡ n d p - m g r s - s s s s - p p p p
s r g m - p d n ṡ - ṡ ṡ p p - s s p p - ṡ n d p - m g r s - s s p p - ṡ ṡ p p
s r g m - p d n ṡ - ṡ d p m - s g d ṡ - ṡ n d p - m g r s - s g d p - ṡ d p ṡ
s r g m - p d n ṡ - ṡ , p , - d n ṡ , - ṡ n d p - m g r s - s , p , - m g s ,

Observation:

This publication gives many uncommon svarāvaḷi exercises in three different sections. It is seen that each section has a different approach. The first section has 16 exercises with krama svara and dāṭu svara prayōga-s. The next section has 6 exercises with dāṭu svara or zigzag phrases. The last section with 10 exercises emphasises on the S – P - Ṡ relationship with dhīrga svara and dāṭu svara prayōga-s.

9. Sangītānanda Ratnākaramu

Tenmatṭham Brothers published SAR in the year 1917. This work lists 24 Svarāvaḷi exercises.

Svarāvaḷi Exercises in SAR
s r g m - p d n ṡ - ṡ n d p - m g r s
s r s r - s r g m - s r g m - p d n ṡ
s r g – s r g – s r – s r g m – p d n ṡ
s r g m – s r g m – s r g m – p d n ṡ
s r g m p – s r g – s r g m – p d n ṡ
s r g m – p , p , - s r g m – p d n ṡ
s r g m – p , s r – s r g m – p d n ṡ
s r g m – p d s r – s r g m – p d n ṡ
s r g m – r g m p – s r g m – p d n ṡ
s r g m – p m g r – s r g m – p d n ṡ
s r g m – s m g r - s r g m – p d n ṡ
s r g m – p m d p – s r g m – p d n ṡ
s r g m p d – r g m p d n – p d n ṡ
s r g r – g m g r – s r g m – p d n ṡ
s r g r – g m g m – p m p d – p d n ṡ
s r g r – g m g m – m p d p – p d n ṡ
s r g r - g m g m - g m p m - p d p d - p m d p - n d ṡ n - ṡ n d p - m g r s
s r s g – r g m g – s r g m – p d n ṡ
s r g m - p d n ṡ - ṡ , , , - p , , ,
s r g m - p d n ṡ - ṡ , p , - s , p , - ṡ n d p - m g r s - s , p , - ṡ , p ,

Observation:

This publication gives around 13 uncommon svarāvaḷi exercises. It is observed that the composer has incorporated krama and dhīrga svara prayōga-s. The last two exercises have S – P - Ṡ phrases with dhīrga svara-s.

10. Saṅgīta Sudhāmbudhi

Saṅgīta Sudhāmbudhi is another 1917 Telugu publication that includes 15 Svarāvaḷi exercises.

Svarāvaḷi Exercises in SSu
s r g m - p d n ṡ - ṡ n d p - m g r s
s r g m – s r g m – s r g m – p d n ṡ
s r g m – s r s r – s r g m – p d n ṡ
s r s r - s r g m - s r g m - p d n ṡ
s r g m – p m g r – s r g m – p d n ṡ
s r g m – p m d p – s r g m – p d n ṡ
s r g s – r g s r – s r g m – p d n ṡ
s r g m – p , s r – s r g m – p d n ṡ
s r s r – g s r g – s r g m – p d n ṡ
s r g s – r s r g – s r g m – p d n ṡ
s r g m - p , g m - p , , , - p , , , - ṡ , n d - n , d p - d , p m - p , p , ṡ ṡ n d - n n d p - d d p m - p , p , - s r g r - g , g m - p m p , - d p d ,
s r g m - p d n ṡ - ṡ , , , - ṡ , , , - ṡ n d p - m g r s - s , , , - s , , ,
s r g m - p d n ṡ - ṡ , , , - p , , , - ṡ n d p - m g r s - s , , , - p , , ,
s r g m - p d n ṡ - ṡ , ṡ , - p , p , - ṡ n d p - m g r s - s , s , - p , p ,
s r g m - p d n ṡ - ṡ , p , - s , , , - ṡ n d p - m g r s - s , p , - s , , ,

Observation:

This publication gives 15 Svarāvaḷi exercises out of which 9 exercises are found to be uncommon. The uncommon exercises include krama, dhīrga and dāṭu svara prayōga-s. The last five exercises include S – P - Ṡ phrases.

OBSERVATIONS

- The Caturaśra elements are emphasised in most of the publications which stands as the basis for the musical form Varna. This is not found in GB. Each tāla akṣara has only one syllable mentioned though in practical demonstration different degrees of speeds are taught while most of the early publications give the split for singing different degrees of speeds.
- It is noted that SSSS emphasises on concept of dhyāna which is concentration

before the basic exercises with the Dhyāna Ślōka-s and the Sāhitya for each exercise trains the student for singing advanced melodic forms such as Varna-s, Svarajati-s, etc.,

- Most of the publications extensively use Dāṭu svara, Jaṇta svara and Dhīrga svara prayōga-s in the Svaravaḷi exercises.
- Publications such as PAP, SP, SAR and SSu have S – P - Ṡ indicating the importance of the relationship between the two notes.
- The Svarāvaḷi exercises listed the publications PSK, SM-TB, GVV and GK-RS are very much similar to the exercises given in GB.
- It is seen that SSB does not restrict Svarāvaḷi exercises to just plain notes by using Gamaka Symbols (Slur).
- SP and SAR are publications that stress on the initial exercises and list maximum number of different variations of exercises under Svarāvaḷi section. This clearly indicates the importance of the basic exercises in Karnāṭaka Music.

CONCLUSION

Practising these basic exercises helps the student in getting a firm hold on the svarasthāna-s which serves as the building blocks for the understanding of the later musical forms like Varna-s and Kṛtī-s along with the creative aspects in Karnāṭaka Music such as Alāpana, Tānam and Kalpana Svara-s.

REFERENCES

1. Vīṇa Rāmanuja, Saṅgīta Sarvārtha Sāra Saṅgrahamu (1859), pub. Śrī lakṣmi nṛsimha mudrākṣaraśāla Chennappattanamu, 1912.
2. T.Singara charyulu & Brothers, Gāyaka Pārijāta (1877), pub. Ganollasini office, Madras, 1907.
3. T.M.Venkatesa sastri, Saṅgīta Svayambōdhini, pub. Lawrence institute press, Principal Zenana Music Institution, Madras, 1892.
4. Tiruvoṛṛiyūr Tyāgayya, Pallavi Svara Kalpavalli, Chennai, 1900.
5. Subbarāma Dīkṣita, Prathamabhyāsa Pustakamu (1905), pub. Ettayapuram Samasthanam, Vidia Vilasini Press.
6. Subbarāma Dīkṣita, Prathamabhyāsa Pustakamu (1905), pub. Ettayapuram Samasthanam, Vidia Vilasini Press, English (web) edition, 2010.
7. C. Munusvāmi Naidu, Saṅgīta Sudha Saṅgrahamu, pub. Sreenikathanam press, Madras, 1906
8. T.Singara charyulu & Brothers, Svaramañjari, pub. K.R press, Madras, 1914.
9. Vīṇa Basavappa, Gāna Vidya Vinōdini, pub. Anandamudranalaya, Madras, 1915.
10. Vidvān K. Varadācāri, Vīṇai K. Kṛṣṇamācāryār, K. V. Śrīnivāsa Ayyengār; Saṅgīta Pradāyini, pub. K. V. Śrīnivāsa Ayyengār, 1916
11. Tenmaṭṭham Brothers, Saṅgītānanda Ratnākaramu, pub. Śrīnikētanamudrayantra, Madras, 1917
12. K. V. Śrīnivāsa Ayyengār, Saṅgīta Sudhāmbudhi, Pub. M. Adi & co, Madras, 1917.
13. P. Rāmulu Setti, Gandharva Kalpavalli., pub. Śrī Rāma Mudrākṣaraśāla, Chennapuri, 1929
14. A.S Panchāpakēsa Iyer, Gānāmṛta Bōdhini (Sangeetha Bāla Pādam), pub. Ganamruta Prachuram, Chennai, 2006.

Footnotes

1. **The exercises in Bold indicate variation from** Gānāmṛta **Bōdhini.**

सांगीतिक परम्परा एवं महिला- कलाकार : ध्रुपद गायन के विशेष सन्दर्भ में

कु. आकांक्षा पाल

शोध छात्रा (संगीत गायन)

संगीत एवं प्रदर्शन कला विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

भारतीय संस्कृति की गौरवशाली परम्परा की अनन्य धरोहर हमारा भारतीय संगीत सृष्टि के प्रादुर्भाव के समय से ही संसार की प्रत्येक गतिविधि में व्याप्त रहा है। यह एकमात्र ऐसी कला है जो मानव भावनाओं की अभिव्यंजना का सशक्त और सुन्दरतम साधन है। इतना ही नहीं अपितु यह मानव हृदय के कोमतम प्रकोष्ठ से अंकुरित होता हुआ अपनी रमणीयता तथा करुणा से मन को भाव-विभोर कर देता है।

''संगीत की सौंदर्य शक्ति के द्वारा प्राणी के स्थाई भावों को जगाकर उसे रसमग्न कर देना कलाकार का लक्ष्य होता है।''[1]**- बाल कृष्ण गर्ग**

संगीत मानव समाज की कलात्मक उपलब्धियों के साथ सांस्कृतिक परम्पराओं का मूर्तिमान प्रतीक भी रहा है। ऐसी अक्षुण्ण कला जो हमे धरोहर के रूप में विरासत में प्राप्त हुई है यह शताब्दियों की दासता के उपरान्त भी अपनी श्रेष्ठता, परिपक्वता साथ ही निष्ठावान कलाकारों की लगनशीलता के कारण बिखरने नहीं पाई। देखा जाये तो 'किसी भी ललित कला के दो अंग रहते है, जिनके सहयोग से ही कला निर्माण की क्रिया पूरी होती है। मानवीय स्वभाव की एक विशिष्टता यह है कि सुंदरता के प्रति उसे अनिवार्य आकर्षण रहता है, सुंदरता को अनुभव करने की शक्ति भी प्रत्येक मनुष्य में अंशतः होती है। परन्तु कलाकार में यही शक्ति कई गुना अधिक होती है।''[2]

"The sensitive artiste develops the 'hearing ear' and 'seeing eye' which forever lead one to seek search, making one's entire life a voyage of discovery."[3]

-Chitra Visweswarn

संगीत सृजन के समय कलाकार के अंतःकरण में ज्ञान, भाव व क्रिया इन तीनो का संचार क्रम होता रहता है इन तीनो के सम्मिश्रण से नवीन सृजन करने के संस्कार उत्पन्न होते है। इन संस्कारो के साथ पाँचो ज्ञानेन्द्रियो से युक्त रूप, गंध, शब्द, स्पर्श और रस की स्मृतियाँ साकार होती है जिससे मन एकाकार होता है। फलस्वरूप कलाकार नवीन भावो को प्रकट करता है। इन्हीं से विविध रसों की सृष्टि व संगीत के सौंदर्य तत्वो का उद्घाटन होता है।'[4] कहने का तात्पर्य यह है कि 'जब कोई कला विद्या विकसित व परिष्कृत होते- होते सुसंस्कृत और समृद्ध हो जाती है, कि कला मर्मज्ञ जन समाज में उसकी विशेष मान्यता व प्रतिष्ठा हो जाती है, तब उसकी एक परम्परा चल पड़ती है।'[5]

परंपरा एक ऐसी प्रक्रिया है जो शास्त्रीय कला को जीवंत अनुभव प्रदान करती है। कला की नींव सुदढ़ हो साथ ही विकास का क्रम सहज एवं सुचारु रूप से बना रहे इसके लिए परम्पराओं का पालन करना व नवीन सौंदर्यात्मक दृष्टि को अपनाना अत्यंत ही आवश्यक हो जाता है। इसी

सांगीतिक परंपरा के अन्तर्गत विगत कई वर्षों में विभिन्न गायन शैलियों के शास्त्र वर्णित स्वरूपों के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि वर्तमान में भारतीय संगीत का आधार स्तम्भ जिस विधा को मानते है वह है - 'ध्रुपद'।

अट्ठारहवीं शताब्दी में भावभट्ट ने अनूप संगीत -रत्नाकर ग्रन्थ में गायन की ध्रुपद शैली की रचनागत विशेषताओं का उल्लेख इस प्रकार किया-

''गीर्वाण मध्यदेशीय भाषा साहित्यराजितम।
द्विचतुर्वाक्यसम्पन्नं नरनारी कथाश्रेयम।
श्रृंगार रसभावाद्यं रागालापपदात्मकं। .
पादान्तानुप्रासयुक्तं पादान्तयमकं च वा ।
प्रतिपादं यत्र बद्धमेवं पादचतुष्ट्यम।
उदग्राह ध्रुवकाभोगोत्तमं ध्रुवपद स्मृतम।।''[6]

ध्रुवपद एक अत्यंत प्राचीन परंपरा है जो प्राचीन ध्रुवा का पर्याय है ध्रुवपद एक आध्यात्मिक, भक्ति परक संरचना है जिसमे विशुद्ध रागों की ही अत्यंत विलम्बित लय में संरचना की जाती है। ध्रुवपद विशेषकर भक्ति, शांत और श्रृंगार रस प्रधान होता है व विषय आध्यात्म, उपासना व ईश्वर स्तुति प्रकृति का गुणगान, नृपति का गुणगान आदि होता है। प्राचीन समय से ही ध्रुवपद गायन शैली मंदिरो व देवालयों में गयी जाती थी। इसलिए आधुनिक समय में भी ध्रुवपद रचनाओं का जो साहित्य प्राप्त होता है, उसमे भगवत वंदना, मंत्र स्त्रोतों आदि की महिमा परक विषय वस्तु है।'[7] अर्थात मानव की निरंतर परिवर्तनशील सौंदर्य प्रवृत्ति एवं उससे प्रभावित अभिरुचियों के कारण वैदिक काल से तेरहवीं शताब्दी तक वृत्त, गति, छन्द जाति एवं प्रबंध आदि रूपों में अनेक शैलियाँ क्रमशः विकसित हुई और उसी क्रम में मध्यकाल में प्रचलित होने वाली भारतीय शास्त्रीय संगीत की आधारभूत शैली ध्रुवपद' का जन्म हुआ, जिसका वर्तमान में ध्रुवपद' नाम से उच्चारण किया जाता है।

ध्रुवपद शब्द संस्कृत के 'ध्रुवपद' शब्द का अपभ्रंश अथवा हिंदी नामांतरण है, जो कि मुख्यतः दो शब्दो के मेल से निर्मित है-(1) ध्रुवा अथवा ध्रुव, (2) पद। 'ध्रुव' का तात्पर्य है- 'दृढ़' तथा 'पद' का तात्पर्य है—गेय शब्द समूह, जो निश्चित स्वर एवं ताल के आकार प्रकार में गठित या निबद्ध हो, जिनमें गायन के समय यत्किंचित परिवर्तन या फेरबदल नई किया जाता था।'[8]

Oxford dictionary esa èkzqoin 'kCn ds fy, strain or melody] passage or snatch of music, tone, style, character इत्यादि अर्थों का उल्लेख है।

'हिंदी शब्द सागर'- ध्रुपद एक गीत जिसके चार तुक होते है। स्थाई, अंतरा, संचारी, आभोग। कोई-कोई पांच तुक भी मानते है। इनके द्वारा देवताओ की लीला, राजाओ के यश तथा युद्धादि का वर्णन गूढ़ राग-रागिनियों से युक्त गाया जाता है।'[9]

अनादि काल से भारतीय संगीत की इसी धारा में सौंदर्य एवं माधुर्य की अभिवृद्धि में महिलाओ की अत्यंत ही महत्वपूर्ण भूमिका रही है।इस बात का इतिहास भी साक्षी रहा है कि हर युग की महिलाओ ने अपनी कला साधना द्वारा कला के क्षेत्र में नए-नए आयाम स्थापित किये है। ऐसा भी एक उल्लेख प्राप्त होता है कि अबुल फजल ने 'दफ्जन' वह वर्ग की महिलाओं को ध्रुपद गायन करने वाली कहा है। परन्तु फिर भी ध्रुपद को मर्दाना गायकी कह कर इसका क्षेत्र पुरुषोचित माना गया है।

दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि जिस प्रकार भारतीय संगीत की अन्य गायन शैलियों में महिला - कलाकारों का जितना अधिक योगदान प्राप्त हुआ है, चाहे वह ख्याल गायन हो, ठुमरी गायन हो, सुगम संगीत हो, लोक संगीत हो या फिर वाद्य एवं नृत्यादि विधाएँ हो, इन सभी की तुलना में एकमात्र ध्रुपद गायन शैली ही ऐसा क्षेत्र है जिसमें महिलाओं का अभाव सा दृष्टिगोचर होता है। परन्तु वर्तमान समय में इस क्षेत्र में भी महिलाओं ने सम्माननीय स्थान प्राप्त कर यह साबित कर दिया है कि आज के समय में वो पुरूषों की भांति हर क्षेत्र में (संगीत संस्थाओं में, आकाशवाणी, दूरदर्शन

एवं संगीत सम्मेलनों) इत्यादि स्थानों पर संगीत को कैरियर के रूप में अपनाकर इन्होंने संगीत के हर पक्ष पर अपना वर्चस्व स्थापित कर लिया है।

प्रस्तुत लेख में ऐसी ही कुछ उत्कृष्ट महिला - कलाकारों का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है, जिन्होंने ध्रुपद के क्षेत्र में अपना अतुलनीय योगदान दिया है-

- **श्रीमती असगरी बेगम-** मध्य प्रदेश के बिजवार गांव में जन्मी बेगम देश की शीर्षस्थ ध्रुपद गा. यिकाओं में से एक है। इनकी विशेष ख्याति ध्रुपद गायकी में चमत्कारिक - लयकारी एवं उपज करने में थी। इन्हे मध्य प्रदेश शासन ने 'तानसेन -सम्मान' व 'शिखर सम्मान' प्रदान किया। मध्य प्रदेश शासन ने शिखर सम्मलेन, भारत भवन भोपाल के ध्रुपद-समारोह, ध्रुपद सोसाइटी, इत्यादि संगीत समारोह में इन्होंने शिरकत की।
- **प्रो सुमति मुटाटकर-** आप दिल्ली विश्वविद्यालय के संगीत विभाग में प्रोफेसर के पद पर कार्यरत रहीं। आपको 'सुरसिंगर' की उपाधि से सम्मानित किया गया। ध्रुपद गायन के अतिरिक्त आपको अन्य गायन शैलियों का भी ज्ञान प्राप्त था।
- **डॉ मधुभट्ट तैलंग-** आप राजस्थान विश्वविद्यालय के संगीत विभाग में कार्यरत रहीं है। आ. पने ध्रुपद गायन की शिक्षा अपने पिताश्री पंडित लक्ष्मण तैलंग से प्राप्त की। आपको राजस्थान सरकार द्वारा 'युवा रत्न, सुरमणि, स्वर कोकिला' आदि पुरस्कारो से सम्मानित किया गया है।
- **सुश्री शुभदा देसाई-** आपने 1959 में 'संगीत विशारद' की उपाधि प्राप्त की। 1978 में अखिल भारतीय गांधर्व महाविद्यालय मंडल महाराष्ट्र से 'संगीत अलंकार' की उपाधि प्राप्त की। आपने एम.एस.यूनिवर्सिटी, बड़ौदा के संगीत विभाग में अध्यापन कार्य किया।
- **सुश्री कल्पना कपूर-** आप प्रयाग संगीत समि. ति से गायन व सितार में प्रवीण एवं इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़ से गायन की उपाधि प्राप्त की। संगीत प्राध्यापिका होने के साथ मथुरा आकाशवाणी से सम्बद्ध रहीं हैं।
- **श्रीमती कावेरीकर-** आप उस्ताद रहीम फहीमुद्दिन डागर की शिष्या है और आ. काशवाणी की ख्याल - ध्रुपद गायिका होने के साथ अनेक ध्रुपद समारोहों में शिरकत की है। आप सुरमणि की उपाधि से भी विभूषित की गई है।
- **डॉ.ईरा बनर्जी-** आपकी प्रारंभिक शिक्षा पिता श्री कानन कुमार मुखर्जी के अतिरिक्त उस्ताद रहीम फहीमुद्दिन डागर की शिष्या रहीं हैं और आकाशवाणी की ध्रुपद - कलाकार भी रह चुकी हैं।
- **सुश्री इतू बनर्जी-** आपने अपने पिता विख्यात ध्रुवपदाचार्य श्री उदय भट्टाचार्य के सानिध्य में ध्रुपद-शिक्षण प्राप्त किया। आप रवीन्द्र भारती विश्वविद्यालय से सम्बद्ध रहीं है।
- **नंदी बहनें-** सुश्री आलोक नंदी एवं आशोका नंदी ने उस्ताद नसीर अमीनुद्दिन डागर से ध्रुपद की तालीम प्राप्त की। इन दोनों बहनों ने कई प्रतिष्ठित मंचों पर अपनी प्रस्तुतियां भी दीं है।
- **श्रीमती आशा गाडगिल-** आप पूना से है, आपने दिल्ली के छोटे डागर बंधुओ से ध्रुपद की तालीम ली है।
- **सुश्री बेलापंत-** सागर की बेलापंत ने उस्ताद जिया फरीदुद्दीन डागर से मध्य प्रदेश सरकार की विशेष छात्रवृत्ति के अंतर्गत ध्रुपद केंद्र, भारत भवन भोपाल में ध्रुपद की तालीम प्राप्त की।[10]
- **श्रीमती सोमबाला और श्रीमती सुलभा-** आप दोनों ने ध्रुपद गायन की तालीम उस्ताद जिया फरीदुद्दीन डागर से ध्रुपद केंद्र भोपाल

में प्राप्त की। इसके अतिरिक्त उस्ताद जिया मोहियुद्दीन डागर से भी शिक्षा ग्रहण की।

इस प्रकार ध्रुपद गायकी के क्षेत्र में महिला-कलाकारों का पदार्पण आदि प्रगति के तेजी से आगे बढ़ते हुए कदमों से ध्रुपद गायन शैली के और अधिक प्रचार -प्रसार की सम्भवनाएँ प्रस्फुटित होती हुई दिख रही है क्योंकि इस क्षेत्र में आज ऐसी महिला -कलाकारों की आवश्यकता है जो योग्य, सृजनशील, जिज्ञासात्मक वृत्ति से परिपूर्ण हो साथ ही वे विभिन्न संगीत पद्धतियों का ज्ञान भी रखतीं हों एवं जो नए विचारों को ग्रहण करने और उपयोग करने हेतु सदा तत्पर हों जिससे वे संगीत के क्षेत्र में नए आयामों को जन्म दे सकें।

सन्दर्भ-सूची

1. अंतर्मन का संगीत, 'वर्मा, डॉ. अमित कुमार' (नई दिल्ली - कनिष्क पब्लिशर्स, डिस्ट्रीब्यूटर्स, प्रथम संस्करण - 2012) पृष्ठ संख्या-79
2. लक्ष्य - संगीत अंक- 4, संपादक - रातंजनकर, श्री कृष्ण नारायण (बम्बई - श्री चिदानंद डी. नगरकर, मार्च - 1958) पृष्ठ संख्या-91
3. अंतर्मन का संगीत, वर्मा, डॉ. अमित कुमार, (नई दिल्ली-कनिष्क पब्लिशर्स, डिस्ट्रीब्यूटर्स, प्रथम संस्करण - 2012) पृष्ठ संख्या - 79
4. भारतीय संगीत के नए आयाम, 'मिश्र, पं. विजय शंकर' (नई दिल्ली- कनिष्क पब्लिशर्स, डिस्ट्रीब्यूटर्स, प्रथम संस्करण - 2009) पृष्ठ संख्या - 126
5. संगीत शिक्षण के विविध आयाम, 'ऋषितोष, डॉ. कुमार' (नई दिल्ली - कनिष्क पब्लिशर्स, डिस्ट्रीब्यूटर्स, प्रथम संस्करण - 2010) पृष्ठ संख्या - 98
6. ध्रुपद गायन परंपरा, 'तैलंग, डॉ. मधुभट्ट' (जयपुर - जवाहर कला केंद्र, प्रथम संस्करण -1995) पृष्ठ संख्या-2
7. संगीत मीमांसा, 'पुरी, डॉ. मृदुला' (नई दिल्ली-सत्यम पब्लिशिंग हाऊस, प्रथम संस्करण -2007) पृष्ठ संख्या - 89- 90
8. ध्रुपद गायन परंपरा, 'तैलंग, डॉ. मधुभट्ट' (जयपुर - जवाहर कला केंद्र, प्रथम संस्करण-1995) पृष्ठ संख्या-1
9. प्राचीन सांगीतिक परम्पराये एवं ध्रुपद शैली - एक अध्ययन, 'शर्मा, अनीता' (दिल्ली-संजय प्रकाशन, प्रथम संस्करण-2004) पृष्ठ संख्या -2
10. ध्रुपद गायन परंपरा, 'तैलंग, डॉ. मधुभट्ट' (जयपुर - जवाहर कला केंद्र, प्रथम संस्करण -1995) पृष्ठ संख्या - 46

पंडित स्व. बड़े रामदास जी के सांगीतिक रचनात्मक गायन शैलियों की विवेचन

आशीष मिश्रा

कलाविध, वाराणसी

पंडित स्व. बड़े रामदास जी की गायकी

आपकी गायकी चारो पट की थी ध्रुपद धमार-अस्थायी ख्याल-टप्पा-टप ख्याल-ठुमरी-दादरा कहरवा चैती होरी कजली आदि सबके पूर्ण गायक थे। गायकी आपकी पुरानी शास्त्रवत थी मगर कुछ गायक वर्ग के सुनने में आपकी गायकी बिल्कुल नये ढंग की मालूम पड़ती थी। कारण यह था कि समय के साथ पुराने ख्याल गायकी में परिवर्तन आने लगे और गायक वर्ग अपने अपने ढंग से गाने लगे मगर गायनाचार्य जी ने चूँकि अपनी साधना संगीत शास्त्रों का अध्ययन करके किया था, इसलिये अन्य गायकों से भिन्न रहता था। मगर आपने ख्याल गायकी का पुनरोद्धार किया। कितने प्राचीन व अप्रचलित रागों का जिनका नाम तक लोग नहल्ल जानते थे, अध्ययन करके प्रकाश में लाये। जब भी आप गाने बैठते तो गायन कला के सारे अंगो को यथा यथा - वादी-संवादी अनुवादी-विवादी, श्रुति-मूर्छना, छन्द-प्रबंधवाणी, मुद्रा-सम, अतीत-अनागत, स्वर-लय, मीड़-सूत, गमक-खनक, खटक-मुरकी, तान आदि साथ लेकर गाते थे। गाते समय अंगों को मरोड़ना, मुँह टेढ़ा कर गाना या बिचकाना, उछलना-कूदना आँख मूदना, इन सब दोशों को त्याग कर शान्त भाव से हँसते हुए गाते थे। चक्करदार, हवाई व छूट की तानों का यह हाल था कि संगत करने वाले सारंगी-हारमोनियम या वायलिन वादकों के लिये कठिन हो जाता था, सिवा छेड़ने के वे कुछ नहीं कर सकते थे।

लय तथा ताल-लय तथा ताल के आप पूर्ण आचार्य थे। राग-रागिनियों की तरह कितने कठिन तालों को जैसे लक्ष्मीताल ब्रह्मताल-रूद्रताल-आड़ा पंज, कुंभताल, गनेशताल, शिखरताल आदि को प्रकाश में लाये। इन कठिन तालो में आप सरलता से गाते थे। काशी में पहले टप्पा व ठुमरी ही प्रधान गायकी थी, जो प्रचलित तालों में जैसे झपताल-एकताल-तीनताल में गाये जाते थे। मगर गायनाचार्य जी उपरोक्त कठिनतालों में गाना शुरू किया जिसका संगत करना मामूली तबला वादक के लिये असंभव सा प्रतीत होता था। आपकी गायकी में एक विशेष प्रकाश था कि जब जहाँ गाते संगीत का एक प्रकाश पुंज विखर जाता था। सुनने वालों की तबियत ऊबती न थी। यह थी भगवान शंकर की कृपा। अध्ययन का यह हाल कि शाम छः बजे महात्मा कबीरदास जी के चबूतरे पर एक आसन पर बैठकर दूसरे दिन प्रातः नौ बजे तक लगातार गाते, फिर नित्य कर्म से निवृत्त होकर दोपहर तक गाते व भोजन के पश्चात फिर शाम तक गाते। इस तरह 30-32 वर्ष तक आप अध्ययन किये। समय के साथ-साथ आप की ख्याति बढ़ने लगी और 32 वर्ष की अवस्था में आप नेपाल राज्य में बुलाये गये। वहाँ कई वर्ष रहे। नेपाल राज्य से ख्यातिवान होकर और लाखों रुपया-हीरों जवाहिरातों व कीमती वस्त्रों से भूषित और एक उच्च श्रेणी

का अश्व पारितोषिक से पुरस्कृत होकर काशी चले आये कुछ दिन आप पंजाब प्रान्त के अन्तरर्गत कुछ विलासपुर नामक एक छोटी सी रियासत में 5 वर्ष तक रहे। फिर नौकरी त्याग आप काशी चले आये और फिर कहल्ल नौकरी करने नहल्ल गये। दुबारा फिर नेपाल गये। इसके बाद नेपाल से आने पर भारत के रियासतों में रामपुर-उदयपुर ग्वालियर इन्दौर-भूपाल-काश्मीर-रायगढ़ मांडा, विलासपुर-मुक्ता-गाछा- दरभंगा आदि रियासतों में गये जहाँ-जहाँ गये वहाँ के दरबारी गायकों व संगीतज्ञों से सामना हुआ। और सबको अपना लोहा मना कर चले आये। रियासतों के अतिरिक्त आप भारत के प्रमुख नगरों कलकत्ता, पुरी, भागलपुर, पटना, गया, आरा, बलिया, गाजीपुर, आजगमढ़, जौनपुर, मिरजापुर, इलाहाबाद, कानपुर, सहारनपुर, दिल्ली, बंबई, जबलपुर, आदि नगरों में गये जहाँ-जहाँ गये वहाँ-वहाँ अपने गायकी से लोगों को प्रभावित कर सुनाम कर काशी आ जाते। काशी के आस पास के देहातों में भी छोटे बड़े जमीन्दारों-काश्तकारों व किसानों के यहाँ जाकर गाये और वहाँ के ग्रामीणों को अपनी तथा उनके मनचाही गीतों से प्रसन्न कर काशी चले आते। देश के एक कोने से दूसरे कोने तक गाँव-गाँव में आपका नाम हो गया। गायन कला में अत्यंत ख्यातिवान होकर आप काशी में स्थायी रूप से रहने लगे। सहृदय व अत्यंत उदार तथा आपके गायन शैली से आकर्षित होकर काशी तथा दूर-दूर के शिष्य आपका शिष्यत्व बड़े चाव से स्वीकार करने लगे आपके सर्वप्रथम शिष्य काशी राज्य रामनगर के निवासी श्री रामसेवक जी मिश्र हुये जो संगीतज्ञ व श्रेष्ठ कथा वाचक हैं।

रोचक घटना-

ओंकारनाथ ठाकुर जब काशी हिन्दू विश्वविद्यालय स्थित संगीत महाविद्यालय के प्राचार्य पद पर नियुक्त होकर स्थायी रूप से काशी में बस गये तो अपने गुरू पं. विष्णु दिगम्बर पलुष्कर एवं अन्य विद्वानों से सुनी प्रशंसात्मक चर्चा की उत्सुकता से प्रभावित होकर पं. बड़े रामदास मिश्र से मिलने बिना किसी पूर्व सूचना के कबीरचौरा आये। पं. रामदास जी अपने संगीत शिक्षा देने के पश्चात् मृग चर्म पर बैठ भगवान नाम जप कर रहे थे उधर ओंकारनाथ जी आपके आवास के समीप तक पहुँचकर किसी मुहल्ले के व्यक्ति से पंडित रामदास जी का आवास पूछ रहे थे।

आपके परिवार के किसी बालक ने जिसने ओंकार जी के चित्रें को कई बार देखा था, तत्काला ही उन्हे पहचान लिया और दौड़कर बड़े रामदास जी को ओंकार नाथ जी के आगमन की सूचना दी। भगवन्नाम के जप के बाद जैसे ही आप चैतन्य हुए, तब तक मुहल्ले के कई पड़ोसी कलाकारों की भीड़ के साथ ओंकार नाथ जी आपके बैठक की ड्योढ़ी तक पहुँच चुके थे। पं. ओकार जी को देखते ही बड़े रामदास ने राग तोड़ी की साढ़े तीन सप्तक की ऐसी विलक्षण तान मारी कि ओंकार नाथ जी बैठक के दरवाजे को हाथों से थामें हुए अवाक ठगे से खड़े रह गये और गदगद वाणी में बोले, "मैंने जैसा आपके विषय में गुरू जी आदि विद्वानों से सुना था, आज वैसा ही विलक्षण दर्शन एवं प्रत्यक्ष अनुभव लाभ मिला।" उस समय रामदास जी की अवस्था 65 वर्ष के आसपास थी। देश के आप जैसे महान लोकप्रिय विद्वान गायक का जैसा विलक्षण स्वागत एक कलाकार द्वारा होना चाहिए, वैसा तो वृद्धावस्था के कारण नहीं कर पाऊँगा, अतः अब केवल उसकी बानगी ही दिखला सकता हूँ। जब ओंकार नाथ जी बड़े रामदास जी मिश्र से मिल कर लौटे, तो उनके मानस पटल पर पं. रामदास जी की गायकी, नायकी, प्रतिभा, विद्वता, सरलता, उदारता, आत्मीयता, अतिथि सत्कार आदि गुणों की अमिट छाप अंतिक हो चुकी थी।

पं. बड़े रामदास मिश्र सरीखे विलक्षण विद्व ानों से काशी का गौरव हमेशा उच्च शिखर पर आसीन रहा। आजीवन किसी भी प्रकार के दुर्व्यसन से अत्यन्त अछूते, पूर्ण संयमित नियमित जीवन को संगीत आराधना में समर्पित कर मुक्त हस्त से

विद्यादान करने पर तत्पर अनुपम विद्वान संगीतज्ञ के रूप में आप हमेशा याद किये जाते रहेंगें।

पद्विभूषण विदुषी श्रीमती गिरजा देवी जी के अनुसार पं. बड़े रामदास जी के रचनात्मक शैलियों की विवेचन -

उनकी गायन शैली अद्भुत थी जो कि बनारस घराने की तान के साथ आलाप के साथ, सरगम के साथ, लय के साथ बड़ी ही रोचक जानकारियां थीं। और बंदिश की प्रस्तुतीकरण शब्द को समझकर उसमें भाव डालकर प्रस्तुतिकरण उनकी खास विशेषता थी। जिससे राजा महाराजा सुनकर बड़े प्रसन्न होते थे। उनकी आवाज दादुर की तरह बोलती थी। यह एक महान साधक थे। वह किसी राग को शुरु करते थे तो वह घण्टों चलता था।

एक-एक राग को रात-रात भर गाते थे। आज कल के तरह नहीं कि बीस मिनट, आधा घण्टा या एक घण्टा समय देख कर गाया जाये।

बनारस घराने के हर घर की एक खास बात है कि यह तबला भी बजाते हैं, गाने भी गाते हैं, नृत्य भी करते हैं तथा सितार भी बजाते हैं। ये विशेषता भी थी कि वह डान्स भी बहुत अच्छा करते थे। इन्हें कृष्ण जी का वरदान था जिसके कारणवश उनकी हर रचना में भगवान कृष्ण की चर्चा होती है।

बाबा किस राज दरबार में गाते थे या उनका प्रोग्राम कैसा हुआ तो वे सब बातें बताते थे। बहुत सी गायिकायें भी बाबा की शिष्या थी, जो उनकी कृपा से अपना और काशी का नाम ऊँचाई पर ले गयी थी। ये लोग कलाकारी में पूरी दुनियाँ में नाम तो कमायें ही, परन्तु अपने शिक्षा के अभाव के कारण अपने बंदिशों के शब्दों पर ध्यान नहीं देते थे। ठुमरी के शब्दों पर हमने विशेष ध्यान दिया है। जैसे शब्दों को स्वरों से कैसे प्रस्तुत करना है। जैसे एक ठुमरी है-

''बंसुरिया अब न बजाओ श्याम''

इस वाक्य में श्याम किस प्रकार बांसुरी बजाते थे उसके भाव को समझकर गाने को प्रस्तुत करना थोड़ा कठिन होता है। तो हमने इन सब विषयों पर कुछ काम किया है। इसी चीज को अगर शिक्षा प्रणाली के रुप में देखा जाय तो हमें बच्चों को इस प्रकार से सिखाना चाहिए कि वह कुशलतापूर्वक इस चीज़ को समझकर संगीत को और आगे तक ले जाय तो हमने इस क्षेत्र में कुछ कार्य किये हैं।

हमारे पूर्वजों का रहन-सहन, उठना-बैठना, खान-पान और ओढ़ना-पहनना बड़े हो गये थे। फिर भी वे टोपी लगाया करते थे। कभी पगड़ी भी बांध लिया करते थे। वह लोग बड़े खूबसूरत रहे होगे। अपने जीवन में जब वो सत्तर वर्ष की आयु में इस प्रकार के पहनावा को धारण करते थे। दिखने में बड़े अच्छे लगते थे। और बब्बा की खासियत थी कि वह खान-पान के बड़े शौकीन थे। वे पान, मलाई की पूरी, हलवा व च्यवनप्राश का सेवन घर पर बनाकर ही करते थे। चूंकि वह राजा महाराजा के साथ रहते थे तो इस वजह से उनकी जीवनशैली राजा-महाराजाओं जैसी ही थी।

उनकी रचनाओं की विशेषता

बब्बा ने बहुत सारी कठिन बंदिशों की रचना की और उनको गायन शैली का एक अलग अंग ही था। उन्होंने अपना एक अलग अंग ही बना लिया था। किसी भी बंदिश को वे सरल नहीं बनाते थे वे जो भी रचना करते थे, जितनी भी छन्द प्रधान बंदिशों की रचना करते थे, कठिन करते थे और उन कठिन बंदिशों को इतना सरलतापूर्वक गाते थे कि उनके बंदिशों में चार चांद लग जाते थे। उनके गायकी की जो विशेषता थी वह यह थी कि थोड़ा तान, थोड़ा लयकारी, थोड़ा आलापचारी और थोड़ा उपज और उसमें सुन्दरता झलकती थी। उनके तानों की तैयारी तीनों सप्तक की थी। मानों ऐसा लगता था कि कोई मोती की माला को गले में पिरो दिया गया हो। वो जब टप्पा गाते थे तो टप्पा की गायकी में ढाई दाना, तीन दाना, साढे तीन दाना तानों से गूथकर ये बनती है, उसको वह बहुत खूबसूरत ढंग से विस्तार कर के गाते थे जो सुनने में बड़ा अच्छा लगता था।

पं. बड़े रामदास जी नौहारवाणी के एक कुशल गायक थे, नौहारवाणी हमने इसलिए कहा क्योंकि इनकी आवाज कोयल की तरह थी। इसलिए इन्हें नौहारवाणी का गायक कहा जाता था, क्योंकि शब्दों को वह अत्यधिक मधुरता से गाते थे। जिससे आम श्रोता भी इनके आवाज के प्रेमी थे। इनकी गायकी की खास विशेषता थी कि वे बन्दिशों में शब्दों के भाव को समझकर काकूओं को प्रयोग करके मधुरतापूर्वक उसका प्रस्तुतिकरण करते थे। और कठिन-कठिन तालों में जैसे 28 मात्र, 18 मात्र, 14 मात्र, 11 मात्र, 7 मात्रओं में अपनी स्वयं की बनायी हुई रचना को प्रस्तुत करते थे। इनकी तालबद्ध रचनायें हुई हैं जिसमें एक रचना में दो ताल कहरवा और दादरा का समावेश होता था। और कुछ ऐसी भी रचनाऐं भी हैं जिसमें बन्दिशों को द्रुत लय में प्रस्तुत किया जाय और उसके साथ ठाह लय में बांधकर बजाया जाय। कहीं-कहीं तबले वाले इसे समझ नहीं पाते थे और उसे समझना पड़ता था। ऐसी कई रचनाएं हैं जो मेघ राग में, खमाज राग में, देश राग में अनेकों रचनाऐं बनाये हैं। ऐसी अनेकों रचनायें जो इन्होंने कृष्ण के ऊपर, राम के ऊपर तथा अनेकों देवी-देवताओं के ऊपर बनाये हैं। इनकी कई रचनाये मौसम के ऊपर भी है जैसे मेघ राग में खास रचना है

''बादर गरज नभ घोर सोर, पपीहरा अति करत है। धधकार सुन मन्दलनके मन गुनीनलयी सुर भरत है बादर गरज नभ घोर सोर।।

पं. राजन जी के शब्दों में उनकी रचना की निम्न विशेषताएँ है-

उनकी रचना की प्रमुख विशेषता ये थी कि जितना साहित्य प्रबल होता था। उतना लय भी प्रबल होता तो लय साहित्य और राग पर उनका पूरा नियंत्रण था और हमने सुना है कि पं. कन्ठे महाराज जी के साथ वो ब्रह्म ताल लक्ष्म ताल और गणेश ताल, रूद्र ताल इन सब तालों को वो गाते थे। अब वो सब तालों पर गाने वाले तो रहे नहीं, 18 मात्र, 21 मात्र, 15 मात्र, पंचम सवारी और उसमें ऐसे गाते थे इतनी सहजता से की लोग जैसे अब 3 ताल गाते हैं उनके तानों के बारे में हमारे पिता जी ने बताया कि 8 गुन का तान इतनी आसानी से लेते थे कि उसके बारे में सोचना ही मुश्किल है। मतलब तान लेने के लिये उनको सोचना नहीं पड़ता था। वो एकाएक 8 गुन की ताने मारते थे, इतना रियाज या इतनी तपस्या थी कि इतना उस पर अधिकार था तानों का चक्रव्यूह जैसे रचा जाये वैसे वो चक्रव्यूह रचते थे तानों का।

एक बार अन्धे मुहम्मद खाँ साहब आये थे और उस समय और समय उन्होंने इतनी बड़ी तपस्या की थी सारंगी में की वो हर गवईयों को सारंगी से अपने नापते थे। उस समय पं. गणेश मिश्र जी और हमारे गुरू पं. बड़े राम दास जी की आयु मात्र 13 या 14 साल थी तो उन्होंने कहा कि चल सार जरा चल तो तुम्हारे साथ जरा गा तो देख कि मुहम्मद खाँ साहब कितना सारंगी पर संगत करते हैं तो जब गुरू जी गाने लगे तो वो संगत कर रहे है और कोई भी उपज नहीं छोड़ रहे हैं। मुहम्मद खाँ साहब तो गुरू जी गाते-गाते मन्द्र से अति तार में चले गये तो सारंगी में तो मुश्किल है एक सेकेण्ड में यहाँ-वहाँ करना कभी ऊपर-नीचे, दाये-बायें वो सारंगी रख कर बोले कि गणेश भाई ये कौन सा तूफान उठा लाये हैं आप, वो तो यहाँ से वहाँ, वहाँ से यहाँ कर रहा है अरे ये बीच का तो छोड़ दे रहा है। ये तो बहुत ही होनहार बच्चा है और इसको मैं हृदय से आशीर्वाद दे रहा हूँ तो ऐसे थे बड़े राम दास जी बहुत बड़े सन्त थे मैं छोटा था पर मुझे जरा सा याद है कि एक बड़े जार में इनका दध आता था जिसमें बदाम और दलमखाना उस दूध में रहता था और दलमखाना एक बड़े जार में भर कर रहता था। देशी घी में छना हुआ उसमें से रोज दो तलमखाना खाते थे उनका हम पर बहुत आर्शीवाद है।

कृष्ण कुमार रस्तोगी : काशी संगीत सभा के संयोजक

पं. बड़े राम जी बनारस घराने के बहुत ही ख्याति लब्ध संगीतज्ञ थे। शिवनन्दन जी उनके पिता जी ये जिससे उन्होंने संगीत की शिक्षा ली। पं. बड़े राम दास जी दो भाई ये श्याम सुन्दर दास जी थे। इनके घरानों में चारों पट की गायकी थी। चारों पट की गायकी का मतलब है ध्रुपद, धमार, ख्याल, टप्पा, खेमटा, दादरा, खेटरा, लावनी, दादरा, चैती, कुसरी, ठुमरी ये सब जितनी भी चीजे हैं इन सबका बहुत बड़ा समुद्र उनके अंग-तरंग में समाया हुआ था और पं. बड़े राम जी की कोई रिकॉर्डिंग इस समय उपलब्ध नहीं है ये हम लोगों का दुर्भाग्य है। किन्तु जो उन्होंने सीखा था उसको उन्होंने पूरी दुनिया में फैलाया उनके कई अच्छे-अच्छे शिष्य भी हुए। उन्हीं में से एक पं. राजन-साजन मिश्र जी हुए जो बनारस घराने का भी और अपना भी नाम फैला रहे हैं। पं. बड़े राम दास जी के समकालीन दरगाही जी थे वो गायन तो जानते ही थे परन्तु वादन भी अच्छा जानते थे और जो 1906 में काशी संगीत समाज का विद्यालय चलता था तब दरगाही जी वहाँ प्रधानाचार्य थे और उन्होंने पं. बड़े राम दास जी को, पं. छोटे राम दास जी को उस समय इस विद्यालय में अध्यापक नियुक्त किया था और जो ये संगीत का विद्यालय चलता था वो यहाँ दुलहिन जी की एक कोठी है और गोलघर पर अब वो पूरा मालवीय बाजार बन चुका है। उसमें कृष्ण बाग या कृष्णबाग के भीतर तक बड़ी सी बारादरी थी। झाड़ फनूस लगी हुई थी उस बारादरी में राजाओं को जमींदारों के रहीशों के बच्चे बच्चियाँ जाते थे गायन, वादन, नृत्य सीखने और उन्हें निःशुल्क सिखाया जाता था। उसका सार व्यय काशी संगीत समाज के संचालक वहन करते थे अर्थात् जो विरू महाराज तबला सिखाते थे उनकी परवरिश बड़े राम दास जी का छोटे राम दास जी का भोलानाथ पाठक जी का इन सभी लोगों का जो पारस्परिक या, वो ये राजा रजवाड़े अपने पास से करते थे। उस जमाने में सो सब संगीत को हेय दृष्टि से देखा जाता था। उस समय में राजा रजवाणें के बच्चें को संगीत की तालीम देने का कार्य काशी संगीत समाज कर रहा था। सन् 1925 में बनारस क्षेत्र में काशी संगीत समाज का दो लाख रूपया डूब गया। उस समय उसके चेयरमैन श्री श्री प्रकाश जी जो बाद में राज्यपाल हुए उनकी मूर्ति भी लगी हुई है, संगमरमर की यहाँ लौहराबीज के ऊपर तो उसका दो हजार रूपये का मुआवजा दिया और जो दिल्ली नील की कोर्ण के जो रघुनन्दन प्रसाद जी थे जिन्होंने अपना हाल या जिस हाल में बड़े राम दास जी, छोटे राम दास जी और भोला नाथ पाठक मृदंग सिखाते थे वेणी माधव जी ध्रुपद सिखाते थे। जयकरण जी भी उस समय कुछ दिनों तक आये हो वो स्थान बन्द हो गया तालीम का आज भी हमारे यहाँ उससे सम्बन्धित कई दस्तावेज सुरक्षित रखे हुए हैं जिनसे पता चलता है कि पं. बड़े राम दास जी का भी बड़ा योगदान रहा है। काशी में संगीत के प्रचार-प्रसार के लिये उन्होंने बड़ी सुन्दर-सुन्दर बन्दिशों का निर्माण किया था जैसे उनकी एक बन्दिश है-''अरे जावो रे जावो पिया, हमसे ना बोलो तुम।''

बनारस घराने की गायकी किस प्रकार की थी?

उस समय बनारस घराने की जो गायकी थी, वो बड़ी साफ-सुथरी और बड़ी सीधी थी जैसे एक लड़ी के बाद दूसरी फिर तीसरी तो इसी तरह हमारे यहाँ गायकी का विस्तार तो करते थे चाहे वे आलाप हो। अब ध्रुपद की जो आलाप चारी है, वो नोम-तोम की थी उसमें वो प्रणव मन का उच्चारण करते थे ''हरि ओम नारायण'' और ये जो थी एक प्रकार की मन्दिरों की गायकी थी जिसमें भगवान जी की स्तुति को यही ध्रुपद के रूप में गाया जाता था। धमार में तो भी राधा कृष्ण की होली का वर्णन है और इसी तरह जैसे ध्रुपद के चार अंग है। गौहारवाणी, नवहारवाणी, दादरवाणी, खंडारवाणी। गुरू शिष्य परम्परा में जो लोग संगीत

सीखना चाहते, वो लोग गुरू के घर काम करते थे, और कहते थे, आप मुझे अपना शिष्य बना लीजिए। बहुत से तो उनकी सेवा यथा- हाथ-पाँव दबाना, उनके घर के कुछ छोटे-मोटे काम करना और भिन्न-भिन्न तरीके से जो भी उनसे बन पड़ता था, तन-मन से दिल लगा कर वो गुरू की सेवा करते थे और विद्या दान प्राप्त करते थे।

पं. बड़े रामदास जी का हार्मोनियम-

पं. बड़े रामदास जी जिस हार्मोनियम पर रियाज़ करते थे वह जर्मन रीड का था, इस हार्मोनियम की आवाज बहुत मीठी थी। यह हार्मोनियम डबल रीड की थी। यह ढ़ाई सप्तक का था इसके पर्दा 37 से 41 पर्दे का होता था। यह वाद्य बजाने में अन्य हारमोनियम की अपेक्षा आसानी से बजती थी। इसकी आवाज कोयल की तरह बजती थी।

इस हार्मोनियम की लकड़ी सागौन की थी। यह बाजा पाटीदार होता है, जो उस समय आसानी से कहीं भी ले जाया जा सकता था। इस हार्मोनियम की खास विशेषता यह है कि इसके स्वर आज के हारर्मोनियम के स्वर से थोड़ा ऊँचा था। इस हारर्मोनियम पर बनारस घराने के कई कलाकार रियाज कर चुके हैं, जैसे- हरिशंकर मिश्रा जी, पं. बड़े रामदास जी, पं. गणेश प्रसाद मिश्रा जी, पं. महादेव मिश्रा जी, पं. राजेश्वर मिश्रा, श्री सिद्धेश्वरी देवी तथा वर्तमान में श्री आशीष मिश्रा जी प्रतिदिन उसी हार्मोनियम पर रियाज करते हैं। यह हार्मोनियम पड़ा ही सिद्ध हार्मोनियम रहा है। इस हार्मोनियम पर जो भी रियाज किये हैं, वह देश-विदेश जाकर नाम रोशन किये हैं। जैसे- राजन-साजन मिश्रा जी, विद्याधर मिश्रा जी इत्यादि।

फिल्म संगीतकार चित्रगुप्त एवं भोजपुरी संगीत

आशीष जायसवाल

शोध छात्र

संगीत एवं ललित कला संकाय, दिल्ली विश्वविद्यालय

'गोरकी पतरकी रे मारे गुलेलवा जियरा उड़ि उड़ि जाये' (मोहम्मद रफी), 'मेला में सइयां भुलाइल हमार अब का करी' (आशा भोसले), 'हे गंगा मइया तोहे पियरी चढ़इबो' (लता मंगेशकर)...ऐसे कालजयी भोजपुरी गाने जो आज भी लोगों की जुबान पर छाए हुए हैं और तो और 50 -60 साल पहले बनी ये धुनें आज भी यदि सुने तो नए से लगते हैं और रोमांचित करते हैं। इन सभी धुनों के प्रणेता थे अमर संगीतकार चित्रगुप्त।

साल 1963 में भारत की पहली भोजपुरी फिल्म रिलीज हुई। देश के पहले राष्ट्रपति बाबू राजेंद्र प्रसाद की प्रेरणा से बने इस फिल्म में संगीत दिया था संगीतकार चित्रगुप्त ने। फिल्म के निर्देशक थे कुंदन कुमार, जिसमें मुख्य भूमिका में थे आशिम कुमार, कुमकुम और नाजिर हुसैन। फिल्म के गीतों को लिखा शैलेंद्र ने और आवाज दी मोहम्मद रफी और लता मंगेशकर ने।

16 नवम्बर 1917 में बिहार के गोपालगंज में जन्मे श्री चित्रगुप्त की गिनती उन चंद गिने-चुने संगीतकारों में की जाती है जो पढ़ाई के क्षेत्र में अग्रणी थेद्य उनका पूरा नाम चित्रगुप्त श्रीवास्तव था।साहित्यिक कायस्थ परिवार से ताल्लुक रखने वाले चित्रगुप्त उच्च शिक्षित थे। डबल एमए अर्थशास्त्र में और पत्रकारिता में किया था। उन्होंने लखनऊ के प्रतिष्ठित संगीत संस्थान भातखंडे कॉलेज से संगीत की शिक्षा भी प्राप्त की। पटना में ही लेक्चरर की नौकरी भी की परंतु मन नहीं लगा और 1945 में संगीत के क्षेत्र में अपना भाग्य आजमाने के लिए मुंबई (तत्कालीन बंबई) आ गए।वह पटना कॉलेज में प्रोफेसर थे उस परिवार में किसी को पसंद ना था कि कॉलेज में एमए की पढ़ाई के दौरान दोस्तों को गीत सुनाने वाले चित्रगुप्त पार्श्व गायक बने अपने चाचा से फारसी और उर्दू तथा भाई से संस्कृत पढ़ने के बावजूद संगीत के प्रति अपने जुनून के कारण पटना कॉलेज की नौकरी छोड़ 1945 वो बम्बई आये, ये सोचकर कि यदि संगीत देने का अवसर न मिला तो बिहार लौट आएंगे। पटना से मुम्बई तक का उनका ये सफर भोजपुरी संगीत के लिए इतिहास रचने वाला ही रहा।वो समय जब भोजपुरी सिनेमा या भोजपुरी संगीत का किसी ने नाम भी नहीं सोचा होगा उस समय उन्होंने हिंदी सिनेमा के लिए संगीत देने का प्रयास किया।अपने फिल्मी करियर की शुरुआत उन्होंने 1945 में संगीतकार एसएन त्रिपाठी (वे भी भातखंडे संगीत विद्यालय में संगीत की शिक्षा ग्रहण कर चुके थे) को असिस्ट करने के साथ किया। परंतु अगले ही साल उन्हें स्वतंत्र रूप से संगीतकार बनने का शुभ अवसर प्राप्त हो गया, मुंबई आकर भी अपनी दोस्त मदन सिन्हा के माध्यम से प्रसिद्ध निर्देशक सर्वोत्तम बादामी के सहायक से मिले उन्ही दिनों नितिन बोस से भी उनकी मुलाकात हुई तत्कालीन हरि प्रसन्नदास जिनके सहायक के रूप में उन दिनों मन्ना डे कार्य कर रहे थे, के निर्देशन में उन्होंने एक समूह गीत भी गाया। उन्हें 1945 में ही पहला काम रामिक वैद्य के साथ मिला इसके बाद वे संगीतकार एसएन त्रिपाठी के सहायक बन

गए। संगीतकार एसएन त्रिपाठी के सहायक के रूप में काम करने के साथ चित्रगुप्त को फिल्म 'लेडी रॉबिनहुड' में स्वतंत्र रूप से संगीत देने का अवसर मिला। जिसमें मशहूर अभिनेत्री नादिरा ने शीर्ष भूमिका निभाई।

इस फिल्म में उन्होंने राजकुमारी के साथ दो सुमधुर गीत भी गाये। उनका गाया 'भगवान तुझे मैं खत लिखता' उस समय काफी लोकप्रिय हुआ था। यहीं से चित्रगुप्त का फिल्मी सफर गति लेना शुरू कर दिया और चित्रगुप्त फिल्मों में बेजोड़ संगीत देने में मशगूल हो गये।

1953-54 में धार्मिक फिल्मों में संगीत देने का उनका सिलसिला शुरू हुआ तो उन्होंने लगभग 15 फिल्मों जैसे 'नाग पंचमी', 'शिवरात्रि', 'महाशिवरात्रि', 'नवरात्रि', 'शिव भक्त श्री गणेश विवाह'आदि में संगीत दिया इसी दौरान एसएन त्रिपाठी के संगीत निर्देशन में बनी धार्मिक फिल्म 'नवदुर्गा' में त्रिपाठी जी ने अपने इस शिष्य से गीत गवाया,वो गीत था--''जयजयकार करो माता की आओ शरण भवानी की,एक बार फिर प्रेम से बोलो जय दुर्गा महारानी की'' जो उस समय भक्ति संगीत में अत्यंत लोकप्रिय हुआ। चित्रगुप्त को अपनी पहचान बनाने में काफी संघर्ष व मेहनत करनी पड़ी।पहला ब्रेक मिलने के करीब 6 साल बाद चित्रगुप्त ने 1952 में फिल्म 'सिंदबाद द सेलर' में संगीत दिया।इस फिल्म में मोहम्मद रफी और शमशाद बेगम के गाए युगल गीत ''अदा से झूमते हुए''के जरिए उन्होंने अपनी पहचान बनाई।एक स्वतंत्र संगीत निर्देशक के रूप में उनकी पहली फिल्म थी-'फाइटिंग हीरो' लेकिन उन्हें शोहरत मिली फिल्म 'भाभी' के संगीत से।

इसके बाद उस समय के प्रमुख संगीतकार सचिन देव बर्मन ने चित्रगुप्त को एवीएम स्टूडियोज के मयप्पन के पास भेजा और उन्होंने 1955 में 'शिव भक्त'के लिए संगीत देने का काम किया जिसके बाद उन्होंने एवीएम के बैनर तले बनी 'भाभी', 'बरखा', 'मैं चुप रहूंगी' और 'मैं भी लड़की हूं' जैसी फिल्मों के लिए भी संगीत दिया। उन्होंने इस स्टूडियो से जुड़े अनेक बड़े नामों जैसे मोहन सहगल, ऋषिकेश मुखर्जी, जीपी सिप्पी और किशोर साहू के साथ काम किया।

चित्रगुप्त संगीतकार होने के साथ-साथ एक अच्छे गायक और गीतकार भी थे। चित्रगुप्त को लोक संगीत के अतिरिक्त शास्त्रीय संगीत की गहरी समझ थी जो फिल्म 'एक राज' में किशोर कुमार के गाए राग मारू बिहग में निबद्ध गीत 'पायल वाली देखना' से साफ जाहिर होता है। उन्होंने अपने समय की प्रसिद्ध गीतकारों साहिर लुधियानवी, मजरूह सुल्तानपुरी,आनंद बक्शी ,प्रेम धवन और राजेंद्र कृष्ण के साथ काम किया।

ज्ञातव्य है कि चुत्रगुप्त ने मुख्य तौर पर कम बजट की फिल्मों के लिए संगीत की रचना की लेकिन उनकी संगीतबद्ध किए हुए अनेक गीत अत्यंत कर्णप्रिय हैं इनमें से कई गीतों का सुरीला जादू आज लोगों के सिर चढ़कर बोल रहा है। इनमें से एक राग पहाड़ी पर आधारित अविस्मरणीय गीत है ''चल उड़ जा रे पंछी'' भाभी फिल्म के इस गीत में लगता है चित्रगुप्त और इसके गायक मोहम्मद रफी ने पूरी प्रतिभा उड़ेल दी।इस फिल्म का एक और गीत ''चली चली रे पतंग'' को मोहम्मद रफी लता मंगेशकर के साथ गाया है।

वे शायद अकेले ऐसे संगीतकार रहे हैं जो बैनर या निर्देशक के छोटे बड़े होने से सर्वथा निरपेक्ष रहते आए हैं। उनके पूरे कैरियर में केवल एक बड़ी बैनर एवीएम प्रोडक्शन , मद्रास ने ही उन्हें बतौर संगीतकार साइन किया था जिनके लिए चित्रगुप्त ने 'शिवभक्त', 'मैं चुप रहूंगी' और 'भाभी' का संगीत दिया था।

प्रथम राष्ट्रपति डॉ. राजेंद्र प्रसाद की प्रेरणा से बनी पहली भोजपुरी फिल्म 'गंगा मैया तोहे पियरी चढ़इबो' में श्री चित्रगुप्त ने संगीत देकर भोजपुरी बोलने और पसंद करने वालों लोगों का मन मोह लिया। एक ही फिल्म में इतने शानदार गीत दिए कि सभी की जुबान पर चढ़ गए। जिसकी बदौलत भोजपुरी सिनेमा ने अपने सफर के छह दशक के भीतर ही देश-विदेश में धमाल मचाने के साथ ही

वैश्विक पहचान भी हासिल कर ली। रफी के गाए 'सोनवा के पिंजरा में बंद भइले हाय राम' गीत ने धमाल मचा दिया। अन्य गीतों में लता मंगेशकर द्वारा गाया 'काहे बसुरिया बजाईले', सुमन कल्याण पुर द्वारा 'अब तो लागत मोरा सोलहवां साल' आदि गीत हिट रहे और यहां से भोजपुरी फिल्मों का सिलसिला प्रारंभ हुआ।

इसके बाद साल 1963 में ही फिल्म निर्देशक कुंदन कुमार द्वारा ही निर्देशित भोजपुरी फिल्म 'लागी नाही छूटे राम' में भी श्री चित्रगुप्त के दिए सभी भोजपुरी गीत अत्यंत लोकप्रिय रहे।

साल 1979 में आई फिल्म 'बलम परदेसिया' में मोहम्मद रफी द्वारा गाया गाना' गोरकी पतरकी रे' इतना अधिक लोकप्रिय हुआ कि यह गाना भोजपुरी गानों की पहचान बन गया। इस फिल्म में अन्य गाने जैसे 'चढ़ते फागुन ले', 'चोरवा ना ले जाए' आदि हिट रहे।

इसके बाद आने वाली अन्य भोजपुरी फिल्मों में साल 1981 में आई फिल्म 'चनवा के ताके चकोर', 1983 में आई 'हमार भौजी',1981 में धरती मैया,' भैया दूज', के सारे गाने,' गंगा जइसन भौजी हमार', 'गंगा किनारे मोरा गांव' जैसी अनेक कालजई शानदार भोजपुरी फिल्में इस भूतपूर्व संगीतकार प्रोफेसर की अभूतपूर्व कृतियां हैं। जिनके गीतों के सहारे भोजपुरी में व्याप्त अश्लीलता से लड़ने वाले अपने तीर तरकश तर्क लेते हैं।

इनके कुछ बेहद चर्चित गीतों में 'मेला में सैयां भुलाईल हमार', 'रहिह होशियार बलम', 'कहे के त सब केहू आपन', 'अरे रे रे ई का तू कर ल सांवरिया हो मारे ल कंकरिया','ऐ डाक्टर बाबू बताई दवाई', 'कहवा गइल लरिकइया हो' भी हैं जो आज तक लोकप्रिय हैं और 'भैया दूज' फिल्म के गीत 'राम भैया के लाली घोड़िया', 'ससुरिया जईहा भैया धीरे-धीरे', 'अबरा कुटिले भंवरा कुटिले जम के दुआर', 'कुटिले भइया के दुश्मन'- तो लोग परंपरा का खाद-पानी लेकर भोजपुरिया लोक संस्कृति में इस कदर समा गए हैं कि वह संस्कार गीतों का रूप धर लोकजीवन में शामिल हो गए हैं। संभवत दुनिया में वह अपने किस्म के अकेले संगीतकार हैं।

चित्रगुप्त में हिंदुस्तानी संगीत की शास्त्रीयता और लोक की पारंपरिक धुन का अद्भुत समन्वय रहा। यह उनके सांगीतिक प्रयोग को खास बनाता है। भोजपुरी फिल्म संगीत के पितामह चित्रगुप्त की संगीत विरासत 80 के दशक में उनके बेटों आनंद-मिलिंद ने संभाली और 'कयामत से कयामत' तक से हिंदी सिनेमा के संगीत ने एक नई रंगत पायी।

पर अर्थशास्त्र का यह प्रोफेसर अर्थोपार्जन में इतना संकोची था कि जिस दौर में उनके समकक्ष संगीतकारों ने अपनी फीस लाखों में रखी थी वही वह बीसेक हजार में भी एक गीत तैयार करके दे देते थे। शायद यह भी एक कारण था कि बी सी या क्षेत्रीय कहे जाने वाले सिनेमा के निर्माता भी उनसे सहजता से मिलकर काम करवाने का साहस कर लेते थे। चित्रगुप्त के हिस्से हिंदी ,भोजपुरी के अलावा गुजराती, पंजाबी फिल्में भी रहीं । वह शख्स भोजपुरी फिल्म संगीत का पितामह है जहां से भोजपुरी फिल्म संगीत ने अपना आकार गढ़ा।

संदर्भ -

1- Hindi Film Songs Music Beyond Boundaries & Ashok Da-Ranade
2- Bombay Cinema & Ranjani Mazumdar
3. धुनों की यात्रा (हिंदी फिल्मों के संगीतकार 1931-2005)- पंकज राग
4. भरतीय चलचित्र संगीत का इतिहास(1900-1947)- सीमा जौहरी

Guru Shishya Parampara In Indian Classical Music

Jagjeet Shah

Research scholar, Department of Music
Punjab University, Chandigarh

There are 64 types of art discussed in Indian culture. In all these arts, the place of music is considered to be the leading or the paramount and the greatest. Music art has also been considered as a major art for the attainment of fame and fame and for the advancement of spirit and soul. We all know that music consists of singing and dancing. The music is formed by prefixing the song with the word sama. According to Indian scriptures, music was originated by Brahma ji and he gave it to Shiva, Shiva provided it to Saraswati who is considered to be the master of music or literature. Maa Saraswati gave this learning to Narada and she spread this knowledge on the earth. The practice of learning or learning music has been going on since ancient times. Music has reached the university in the modern period. And music has become a business. Where there is little compared to the all-round development of students' music. After that, music is now being taught through online medium. But music is completely Guru Mukhi Vidya. It is mandatory for the disciples to be trained by the Guru's mouth, the relationship of the Guru disciple is like that of the father and son. Along with the training of music, one also gets the knowledge of living style, moral values, ethics. The Guru Shishya tradition is considered essential for the attainment of art. As much as any artist contributes to the beautiful presentation and success of an artist. The Guru also contributes equally. In ancient times, music was taught at the house of a pandit or a maestro, but nowadays it is being done collectively or indirectly. But in this the student is at a disadvantage. Because the fine sound of the voice is understood by the Guru's mouth. He gets impure knowledge from the Guru without a Guru. Whereas in the Guru Shishya tradition, the Guru corrects every minute and every mistake of his disciple. And provides a good artist to the society. The student learns indirectly that he is at a disadvantage. However, there are some benefits of learning indirectly. For example, far-flung students who cannot go far and wide to learn music, they are able to learn their music to some extent through a throes. Unwavering faith, hard work, dedication and devotion to the Guru have great

value in the Guru Shishya tradition. The Guru Shishya relationship is important in the Guru Shishya tradition. And it is very important to get knowledge by staying with the Guru. It would be reasonable to assume that there is a slight difference between the meaning of a teacher disciple and teacher student. The relationship of a guru and a disciple is a lifetime affair, whereas a teacher-student relationship is for a fixed time. Meeting a good master is God's gift to the disciple. And getting a good disciple is also a privilege for the Guru. Ganda bandhan rasam is an important ritual in music. The guru-disciple's relationship begins with the ritual of ganda bandhan. In the tradition of the musical training of the family, the Guru is tied with a ruse before the Guru or the disciple.

The word Ganda means knot. After which he became dirty due to apathy. And Bandhan means to tie. As a result, the Guru's disciples tie both into one sutra. In which the disciple becomes a link of the household. And the idea of gharana gets connected to the stream. In this ritual the Guru ties the sacred thread on the right hand wrist of his disciple. In some traditions the thread is touched by the hands of all the gunny people present there before tying. It is believed that this brings blessings and good wishes to all the gurus. In this way the Guru takes the responsibility of the disciple on himself. The Guru feeds sweets to the disciple with his hands. This is believed to bring sweetness to the disciple. Mantras and prayers are recited during this ritual. And God wishes for a good start. The disciple then gives the Guru Dakshina to the Guru to the best of his ability. Today there are many great artists. All have passed through this tradition. It is impossible to sing Indian classical music out of this tradition. The learning learned from the mouth of the guru is what produces artists in classical music. According to today's time, it is fine to learn through the medium. People's lifestyle has changed. So it's okay to walk with him. But the Guru Shishya tradition can never be ignored. And the importance of this tradition cannot be lessened.

Bibliography-

1. Sangeet ratnavli, Ashok kumar yaman, Abhishek Publication, Chandigarh
2. Bharat me guru Shishya Parampara ki mashal, Swami Vivekananda
3. Bhartiya sangeet ka itihaas, Thakur JaiDev Singh
4. Bhartiya sangeet ka itihaas, Umesh Joshi

संस्कृति

The most sacred phrase in Hinduism : "AUM, TAT, SAT"

Dr. Prakash Joshi
Writer and Art. Kariti

The reader would probably be baffled if he is asked which is the most sacred or auspicious incantation in Hinduism. No doubt various answers would come to his mind which would include names of deities, stanzas from holy texts, etc. As per Tulsidas "Ramnam" had the power to remove man's all sorrows while Sant Tukaram called for endless recital of Vithala's name, and so on. Every Hindu, depending upon his denomination and his personal inclination, will regard certain phrases as most sacred and there cannot obviously be any consensus in this regard.

However, as per the author, the most sacred phrase of Hinduism can be regarded as "Aum Tat Sat". This is because no less a scripture than the Gita itself has commended it in the strongest possible way. The relevant stanzas of the Gita go as:

ॐतत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा॥
(17.23)

"Aum Tat Sat" -this is considered to be the three-fold symbol of Brahman. By this were created in ancient times the Brahmins, the Vedas and the sacrifices". (17.23)

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम्॥
(17.24)

"Therefore with the utterance of "Aum" the acts of sacrifice, charity and penance enjoined in the scriptures are always undertaken by the knowers of Vedas." (17.24)

तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपःक्रियाः।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः॥
(17.25)

"And with the (utterance) of the word "Tat" the acts of sacrifice and penance, and various deeds of almsgiving are performed by the seekers of salvation, without aiming at the reward." [17.25]

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते॥
(17.26)

"The word "Sat" is employed in the sense of Reality and goodness ; and so also, O Partha, the word "Sat" is used for praiseworthy action." [17.26]

In Gyaneshwari, the significance of this incantation has been expounded in great depth. As mentioned in stanza 17.23 of the Gita cited above, the

incantation "Aum Tat Sat" is nothing less than an appellation of Brahman. But here the reader may raise the objection that Brahman by definition has no name or identifiable features, and is indescribable -how could it then be given any appellation? This is answered in the Gyaneshwari as follows:¬

"A newborn child,
Nameless as it is,
It is given a name,
To which it wakes up responding;
(Similarly) (when) exhausted by worldly burdens,
People approached the Vedas,
For setting forth their grievances,
This was the incantation suggested,
To which Brahman responds,
If called upon by it."
(17.330, 17.331)

Gyaneshwari thus says that by uttering the phrase "Aum Tat Sat", a human being can find access to even ineffable Brahman, despite it being transcendent and beyond the ken of the senses.

As per Sant Gyaneshwar, Brahma got the power to create this universe only through the recital of this three-fold mantra. He says:

"Prior to the world's beginning,
Stood alone Brahma,
(Bewildered) like a madman,
Not recognizing even Me (The Supreme Being),

Devoid of the capabilities of creating the world; But recital of this incantation, Brought him all the prowess." (17.226, 17.337)

Before we analyse the implications of the expression "Aum Tat Sat" in detail, we will look into the significance of its individual components.

"AUM" undoubtedly represents one of the most sacred invocations of Hinduism. This is why the Gita affirms in stanza 17.24 that all auspicious activities are started by righteous people with the chanting of "Aum". As per Gyaneshwari, by uttering the holy sound "Aum", all tasks are smoothly completed; it also opens the way towards salvation.

Quoting in the picturesque language of Gyaneshwari:

"Like (having) a lamp always giving illumination,
(Or like possessing) a powerful friend,
Is the (invocation) of Aum,
At the commencement of activities."
(17.459)
"Like a heavily-laden boat,
Gliding smoothly across water,
(Man's journey) towards salvation,
Is facilitated by Aum,
Despite the bondage
Undoubtedly created by acts,
Such as fire-sacrifice,
charity and penance." (17.366)

The word "Aum" is deemed so potent that its recital at the time of death is supposed to release man from the cycle of birth and death. This is put forth in the Gita as follows:

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्॥
(8.13)

"He who utters the single syllable Aum (which is) Brahman, remembering Me as he departs, giving

up his body, he goes to the highest goal." (8.13).

The significance of "AUM" is expounded by Swami Nirmalananda as follows:

"The divine light is the essence of Aum, the Life-Giving Word, the Pranava; then at the end of life, having prepared himself by this practice of sitting in meditation, the yogi ascends upward from the body into the realm of immortality."

**The potency of 'Aum' has been accounted for in Yoga Sutras of Patanjali by describing it as the cosmic sound which continously reverberates through ether. As per Patanjali by focusing on it deeply, one can obtain liberation.*

So great was the sanctity attached to "Aum" in earlier times that only truly enlightened beings were allowed to utter it.

Turning now to what the word "Tat" signifies: "Tat" or "That" points towards ineffable Brahman. The spiritual aspirant through this invocation affirms that he has no desire to enjoy the fruits of his actions as everything is offered by him to Supreme Brahman. As per the Gyaneshwari, what passes through his mind as he intones "Tat" is the following:

"Brahman in its manifestation as "Tat",
To it are proffered all fruits and actions,
So that nothing remains, For us to enjoy.
*(*17.371)

It is said that Guru Nanak while going about his daily life would keep on saying "Tera, Tera". He thus wished to assert that everything belonged to God. The word 'Tat' has a similar connotation.

As regards the last word of the incantation, namely, Sat, its implication is as follows: it differentiates the empirical world around us marked by change and non-permanence from the ever-unchanging Brahman. Quoting from Gyaneshwari:

"That is Sat
In which no modification is wrought,
By time and space,
It continues as it is,
Immutable." (17.381)

Finally, turning to the incantation "Aum, Tat, Sat" as a whole; as per Gyaneshwar it is not only Brahman itself but even transforms into Brahman all acts done accompanied by its utterance. Quoting from Gyaneshwari:

"As the sun rising in the sky,
Is illuminated by the sun itself,
In the same way,
Gets transformed into Brahman,
The Utterance "Aum Tat Sat";
Know therefore that,
This three-word appellation,
Is not a mere name,
But is Brahman itself;

"All acts done,
Whether fire-sacrifice, charity or harsh penance,
Irrespective of their lacunae,
Whether completed or not,
Get transformed into Brahman,
All their dross removed,
(If accompanied by utterance of "Aum Tat Sat"),

Losing their differentiation,
As perfect or imperfect.
Like waves in a sea."
(17.404, 405, 406, 408)

We can therefore safely conclude from what has preceded that the phrase "Aum Tat Sat" is one of the most sacred and potent expressions of Hinduism. Its continuous recital will lead the individual from ignorance to knowledge, from darkness to light. Bound as we are by our body and senses, the journey from the physical world to the spiritual arena is indeed far from easy. We need all the help possible so as to undertake it. "Aum Tat Sat" can act as an ideal vehicle for this purpose.

This is why Gyaneshwari intones:

"Know the words, Aum Tat Sat,
Transporting the devotee to a place,
From where is illuminated
The seen world. (17.401)

A skeptical reader may wonder how a mere set of three words can carry man to enlightenment. But he should be beware of excessive doubts and cynicism. We do not know who we are, what precisely energizes us, what is it which enables us to see, hear, think, etc. We go about this world not knowing from where we came and where we are going.

This book and the articles which follow are an attempt to delve into this mystery, and chart a way in the haze around us so that we do not go astray, either here or hereafter. Let the reader therefore stick to the mantra "Aum Tat Sat" as he turns the pages of this book, and let him pray that this will give him the strength to understand himself a little better.

* God speaks with Arjuna. The Bhagavad Gita, by Sri Sri Paramhansa Yogananda, Page 615.

Hanuman in India and South East Asian Tradition

Dr. Jitendra Pratap singh

Assistant Professor(History)
New Stanadard College of Higher Education, Salethu Raebareli

Hanuman is one of the main character in Ramayana the White Monkey with destructive power we can have 4 Heads and 8 arms when he transform in to giant. The Powerful god warlord serve under PharaRarm the reincarnate of Pharanarai Three Greatest gods of Hindu. Hanuman is a Powerful God, the fur of diamond, crystal canine, his yan create stars and moon.While sleeping in his giant form protecting his lord from Asura Giants.

Hanuman can transform himself in to a giant, extend his tail. Hi's also in vincible he's the son of the "wind" and "Savaha" even when he died, just a wind blow he revive . In Thailand , the muay-Thai Kick Boxer do chart Hanuman's mantra first before enter the ring .

The effective of mantra do work as when as when the boxer get knock down a wind blow, will bring him back. Many spell tattoo as his image.The personality of Hanuman in Ramakayan story said that he is a brave man and heart of warrior, he born with charm and attractiveness. He is the most trust captain of Phra Rarm and only by him he could

Destroy Phra Rarm's rivel Todsagun" by buring the whole giants city a permanent fire light up on his tail. He receive 5000 concubine and Nopburi town as reward after the war.In Thailand, Hanuman a mulets protect from evils/darkness. Destroy all obstacles, dangers and misfortune make success' in career.

Hanuman is an ardent devotee of Lord Rama. He is one of the central characters in the various of the epic Ramayana found in the Indian sub continent and South-east Asia. He is also mentioned in several other text, such as the Mahabharata the various purans and some Jain, Buddhist and skih Texts…

While Hanuman is one of the central Characters in the ancient Hindu epic Ramayana, the evidence of devotional worship to him is missing in the text and archeological sites ancient and most of the medieval period.

Hanuman is the Son of Anjana Kesari and is also wind-god Vayu, Who according to several stories played a role in his birth.His Theological origins in HIndusim an unclear. Alternative the theories include him having ancient

roots being a non. Aryon deity who was sanskritized by the vedic Aryans or that he is a fusion deity who emerged in literary works from folk Yaksha protector deites and the logical symbolism.

Nomenclature:-

The meaning or the origin of word Hanuman is unclear. In the hindu patheon, deities typically have many synonymous names like marteti Pawan suta Bajrangbali, Mangal murti etc. But these names are rarely used.

One interpretation of the term is that it means one having a Jaw (Hanu) . This version is supported by a puranic legend where in baby Hanuman mistake the sun for a fruit attemts to heroically reach it, is wounded and gets a disfigured jaw.

A second, less common inter pretation is that The name derives from Sanskrit words han (Killed or destroyed) and mana (Pride) the name implies "One whose pride was destroyed". This epithet resonates with the story in the Ramayana about his emotional devotion to Rama and Sita.

A third conjecture is found in Jain texts. This version states that Hanuman spent his Child hood on an Island called Hanurucha, which served as the origin of his name, Linguistic variations of Hanuman include Hanumant Anuman (Tamil), Hanumantha (Kannada), Hanumanthauda (Telugu)

Anjaneya, Anjaniputra, Anganeyar(Tamil) Anjaneyuda (Telugu), Kesari Nandani, Maruti, Bajrangbali. The strong one (bali) who had limbs (anga) as hard as a vajra, (bajra)" This name is widely used in rural North India.Song Kera Pemuja Dewa Rama Hanuman (Indonesia) ,Anoman (Javanese Indonesia),Handmana (Malaysia),Hanuman (Myarmar, Combodia) Thailand and Balinese Indonesia, Hanlaman (Laos)

Historical Development

Vedic Roots:- The earliest mention of the divine monkey interpreted by some scholars as the proto Hanuman, is in hymn 10.86 of the Rigveda, dated to between 1500-1200BC. The twenty three verses of humn is a methaphor and riddle filled legend. It is presented as a dialogue between multiple characters : God Indra his wife indrani and as energetic monkey it refers to as vrisakapi and his wife Kapi. The hymn opens with Indrani complaining to Indra that some of the Soma offerings for Indra have been assigned to the energetic and strong monkey and the people are forgetting indra. The king of Gods Indra responds by stating to his wife that the living being (Monkey) that brothers her is to seen as a friend and that they should make an effort to be together in peace. The hymn closes with all agreeing that they should come together in Indra's house and share the wealth of offerings .

This hymn which includes an explcit discussion of sex and differences between species has been interpreted in a number of ways by Contemporaryy scholars. R.N. Dandekar states that is may metaphorically refer to another fertility god, while wendy Doniger compares it to horse sacrifice stephanie Jamison states that the hymn mentions a bull-Monkey, a euphemism for a horse

and fertility ritual, very different from Latter era hanuman According to Philips Lutgendorf, There is " no convincing evidence for a monkey – worshipping cult in Ancient India.

Tamil Roots:-The Orientalist F.F.Pargiter (1882-1927) Theorized that Hanuman was a proto-Dravidian deity. According to this Theory the name Hanuman derives from the Tamil word for male monkey (and-mandli). First Trans formed to Anumant- name which remains in use. "Anumant ",According to this hypothesis. Was later sanskritized to Hanuman because of ancient deitythe Aryans confronted with a popular Monkey of ancient Dravidians coopted the concept and then sanskritized it.

Epics and Puranas:-

Hanuman is mentioned in both the Hindu epics, Ramayana and Mahabharata. A twentieth-century Jesuit missionary Camille Bulcke, in his Ramkatha: Utpatti Vikas ("The tale of Rama: its origin and development"), Proposed that Hanauman worship had its basis in the cults of aboriginal tribes of Central India.

Hanuman is mentioned in the Puranas. A medieval legend posited Hanuman as an avatar of the god Shiva by the 10th Century CE (this development possibly started as early as in the 8th Century CE). Hanuman is mentioned as an avatar of Shiva of Rudra in the medieval era Sanskrit texts like the Mahabhagvata Purana, the Skanda Purana., the Brahaddharma Purana and the Mahanataka among others. This development might have been a result of the Shavite attempts to insert their ishtadevata (cherished deity) in the Vaishnavite texts.

Other mythologies, such as those found in south India, present Hanuman as a being who is the union of Shiva and Vishnu, or associated with the origin of Ayyappa. The 17th century Odia work Rasavinoda by Dinakrishnadasa goes on to mention that the three gods- Brahma, Vishnu and Shiva- combined to take to the form of Hanuman.

In Valmiki's Ramayana, estimated to have been composed before or in about the 3rd century BCE, Hanuman is an important, creative character as a simian helper and messenger for Rama. The character evolved over time, reflecting regional cultural values. It is, however, in the late medieval era that his profile evolves into more central role and dominance as the exemplary spiritual devotee, particularly with the popular vernacular text Ramcharitmanas by tulasidas(1575 CE). According to scholars such as Patrick pechles and others, during a period of religious turmoil and Islamic rule of the Indian subcontinent, the Bhakti movement and devotionalism-oriented Bhakti yoga had emerged as a major trend in Hindu culture by the 16th century, and the Ramcharitmanas presented Rama as a Vishnu avatar, supreme being and a personal god worthy of devotion, with Hanuman as the ideal loving devotee with legendary courage, strength and powers.

Hanuman evolved and emerged in this era as ideal combination of Shakti and Bhakti. Stories and folk traditions in and after the 17th century, began to

reformulate and present Hanuman as a divine being as a descendent of deities and as an avatar of Shiva. He emerged as a champion of those religiously persecuted, expressing resistance a yogi, an inspiration for martial artists and warriors, a character with less fur and increasingly human symbolizing cherished virtues and internal values worthy of devotion in his own right. Hindu monks morphed into soldiers, and they named their organizations after Hanuman. This evolution of Hanuman's character, religious and cultural role as well as his iconography continued through the colonial era and in post –colonial times.

Birth:

In Indian mythology, Hanuman was born to Ajana and Father Kesari . Hanuman is also Called the son of the deity Vayu (wind god, himself the son of Vishnu) because of legends associated with Vayu's role in Hanuman's birth. One story mentioned in Eknath's Bhavartha Ramayana (16th century CE) states that when Anjana was worshiping Shiva, the King Dasharatha of Ayodhya was also performing the ritual of Putrakamayagna in order to have children. As a result, he received some sacred pudding (Payasam) to be shared by his three wives, leading to the births of Rama Laksmana, Bharata, and Shatrughna. By divine ordinance, a Kite snatched a fragment of that pudding and dropped it while flying over the forest where Anjana was engaged in worship. Vayu, the Hindu deity of the wind, delivered the falling pudding to the outstretched hands of Anjana, Who consumed it. Hanuman was born to her as result.

Childhood:-

According to valmiki's Ramayana one morning in his childhood, Hanuman was hungry and saw rising red colored sun. Mistaking it for a ripe fruit, he leapt up to eat it. In one version of the Hindu legend, the king of gods Indra intervened and struck his thunderbolt. It hit Hanuman on his jaw, a nd he fell to thr earth unconscious with a brokenaway . His father, vayu (air) states Ramayana in section 4.65, became upset and withdrew. The lack of air created immense suffering to all living beings. This led prajapati the god of life, to intervene and resuscitate Hanuman, Which in turn prompted Vayu to the living beings.

In another Hindu version of his childhood legend, Which Lutgend of states is likely older and also found in Jain texts such as the 8th century Dhurtakhyana, after Hanuman's lcarus like leap foor the sun, it proves to be fatal and he is burnt to ashes from sun's heat. His ashes fall onto the earth and oceans. Gods than gather the ashes and his bones from land and, with the help of fishes, from the water and re-assemble him. They find everything except one fragment of his jaw bone. His great grandfather on his mother's side than asks Surya to restore the child to life. Surya returns him to life, but Hanuman is left with a disfigured jaw.

Texts Hindusim Ramayana

The sundara Kanda, the fifty book in the Ramayana, focuses on Hanuman

meets Rama in the last Year the letter's 14-year exile, after the demon king Ravana had Kidnapped Sita, With his brother Lakshmana, Rama is searching for his wife Sita. this and related Rama legends are the most extensive stories about Hanuman.

Numerous versions of the Ramayana exist within India. These present variant legends of Hanuman, Rama, Sita, Lakshamana and Ravana. The characters and their descriptions vary, in some cases quiet significantly.

Mahabharata:

The Mahabharata is another major epic which has a short mention of Hanuman. In Book 3, the VanaParva of the Mahabharata, he is presented as a half brother of Bhima, who meets him accidentally on his way to Mount Kailasha. A man of extraordinary sterngth, Bhima is unable to move Hanuman's tail, making him realize and acknowledge the strength of Hanuman. This story attests to the ancient chronology of the Hanuman character. It is also a part of artwork and reliefs such as those at the Vijayanagara ruins.

Hanuman Chalisa:-

The 16th century Indian poet Tulsidas wrote Hanuman Chalisa, a devotional soong to hanuman. He claimed to have visions where he met face to face with Hanuman. Based on these meetings, he wrote Ramcharitmanas, an Awadhi language version of Ramayana.

Buddhism:-

Hanuman appears with a Buddhist gloss in Tibetan (Southwest China) and Khotanese (West China, central Asia and northern Iran) versions of Ramayana. The Khotanese versiors have a Jataka tales like theme, but are generally similar to the Hindu texts in the story line and in the character of Hanuman. The Tibetan version is more embellshed shed, and without attempts to put a jataka gloss. Further, in Tibetan version, novel elements appear such as where Hanuman carries love letters between Rama and Sita in addition to the Hindu version where Rama sends with him the wedding ring as a message to Sita. Future, in Tibetan version, Rama childes Hanuman for not corresponding with him through letters more often implying that the monkey-messenger and warrior is a learned being who can read and write letters.

In Sri Lankan versions of Ramayana, which are titled after Ravana, the story is less melodramatic than the Indian versions. Many of the bravery and innovativeness legends relating to Hanuman are found in Sinhala versions, the characters have Buddhist themes, and lack the embedded ethics and values structure according to Hindu dharma. Accoording to Hera Walker, some Sinhalese communities seek the aid of Hanuman through prayers to his mother. In Chinese Buddhist texts, states Arthur Cotterall, myths mention meeting of Buddha with Hanuman, as well as Hanuman’s great triumphs. According to Rosalind Lefeber, the arrival of Hanuman in East Asian Buddhist text may trace its roots to the translation of Ramayana into Chinese and Tibetan in 6th century CE.

In both China and Japan according to Lutgendorf, much like India there is a lack of a radical divide between humans and animals, with all living beings and nature assurned to be related to humans. There is no exaltation of humans over animals or nature, unlike the western tradidtions. Divine monkey has been a part of the historic literature and culture of China and Japan, possibly influenced by the close cultural contact through Buddhist monks and pilgrimage to India over two millennia. For example, the Japanese text Keiranshusuyoshu, while presenting its mythology about divine monkey, that is the theiromorphic Shinto emblem of hie shrines, describes a flying white monkey that carries a mountain from India to China, then from China to Japan . Many Japanese shrines and village boundaries, dated to be from 8th to 14th centuries feature monkey deity as guardians or intermediaries between the humans and the gods.

The jataka tales contain Hanuman-like stories. For example, the Buddha is described as a monkey-king in one of his earlier births in the Mahakapi Jataka, wherein he as a compassionate Monkey suffers and is abused, but who nevertheless continues to follow dharma in helping a human being who is lost and in danger.

Jainism:-

Paumacariya (also known as Pauma Chariu or Padmacharit), the Jain version of Ramayana written by Vimalasuri, mentions Hanuman not as a divine monkey, but as a Vidyadhara (a supernatural being, demigod in jain cosmology). He is the son of Pavangati (wind deity) and Anjana accidentally drops her baby on a rock. However, the baby remains uninjured while the rock is shattered. The baby is raised in Hanuruha, his great uncle's island kingdom, from which Hanuman gets his name. Hnauman's strength is not his own achievement, but attributed to his mother's asceticism. In jain texts, Hnauman is depicted as the 17th oof 24 Kamadevas the one who is ultimately handsome.

In jainversion, Hanuman is not celibate, Rama is a pious jaina who never kills anyone, and it is Lakshamana who kills Ravana. Hanuman is sexually active personality in the jain versions, marries princess Anangakusuma, the Daughter of Kharadushana and Ravan's Sister Chandranakha, Ravana also presents Hanuman one of his nieces as a second wife. After becoming an ally of Sugriva, Hanuman acquires a hundred more wives. Hanuman becomes a supporter of Rama after meeting him and leraning about Sita's dnapping by Ravana. He goes to lanka on Rama's behalf, but is unable to convince Ravana to give up sita. Ultimately, he Joins Rama in the war against Ravana and performs several heroic deeds. Latter jain texts, such as Uttarapurana (9th century CE) by Gunabhadra and Anajana-Pavananajaya (12th century CE), tell the same story

In several version of jain Ramayana story, there are passage that explain to hanuman, and Rama (Called Pauma in jainism),that attachment to women and pleasures are evil Hanuman in these

versions, ultimately renounces all social material life to be become a Jain ascetic.

Sikhism:-

In Skikism, Hindu god Rama has been referred to as Sri Ram Chandar, and the story of Hanuman as a Siddha has been influential. After the birth of martial Sikkh Khalsa movement in 1699, during the 18th and 19th century, Hanuman was an inspiration and object of reverence by the Khalsa. Some Khalsa regiments brought along Hanuman image to the battle ground. The Sikh texts such as Hanuman Natak composed by Hirda Ram Bhalla, and Das Gur Katha by Kavi Kankan describe the heroic deeds of Hanuman. According to louis Fenech, the Sikh tradition states that Guru Gobind Singh was a found reader of the Hanuman Natak text.

During the colonial era, Sikh seminaries in what is now Pakistan, Sikh teachers were called bhai, and they were required to study the Hanuman Natak, hanuman story containing Ramcharitmanas and other texts, all of which were available in Gurmukhi script.

South east Asian texts:-

Although Hanuman practices celibacy in most Indian texts, he is depicted to have sexual relationships with many women in southeast Asian versions of his story. Above paintings at the Temple of the Emerald Buddha in Bangkok depicts his intercourse with Butsamali a fallen angel, and Suphannamatcha a mermaid.

The non-Indian versions of Ramayana, such as the Thai Ramakien, Mention that Hanuman had relationship with multiple women, including Svayamprabha, Benjakaya (Vibhisana's daughter), Suvannamaccha and even Ravana's wife Mandodari. According to these version of the Ramayana, Macchanu is son of Hanuman borne by Suvannarnaccha, daughter of Ravana. The jain text Paumacariya mentions that Human married Lankasundari, the daughter of Lanka's chif defender Bajrmukha.

Another legend says that a demigod named Matsyaraja (also known as Makardhwaja or Matsyagarbha) claimed to be his son. Matsyaraja's birth is explained as follow:a fish (matsya) was impregnated by the drops of Hanuman's sweat, while he was bathing in ocean. Accoording to parasara Samhita, Hanuman married Suvarchala, the daughter of surya (the Sun God).

The Hanuman in Southeast Asian texts differs from north Indian Hindu version ways in the Burmese Ramayana, such as Rama Yagan, Alaung Rama Thagyin (in the Arkanese dialect), Rama Vatthu and Ramu Thagyin, the Malay Ramayana, such as Hikayat Sri Rama and Maharaja Ravana, and the Thai Ramayana, such as Ramakien However, in some cases, the aspects of the story are similar to Hindu versions and jaina or Buddhist versions of Ramayana found elsewhere on the Indian Subcontent Hanuman became more important in the medieval period and come to be portrayed as the ideal devotee (bhakta) of Rama. Hanuman's life, devotion celibacy and strength inspired wrestlers in India.

Iconography:-

A five-headed panchamukha Hanuman icon . It is found in esoteric tantric traditions that weave Vaishvana and Shaiva ideas, and is relatively uncommon.

Hanuman's iconography shows him either with other central characters of the Ramayana or by himself. If with Rama and Sita, he is shown to the right of Rama, as a devotee bowing on kneeling before them with a Namaste (Anjali Hasta) posture. If alone, he carries weapons such as a big Gada (mace) and thunderbolt (vajra), sometimes in a scene remmiscent of scene from his life.

In the modern era his iconography and temples have been common. He is typically shown with Rama, Sita and Lakshmana or in vasishnavism temple as well as by himself usually opening his chest to symbolically show image of Rama and Sita near his heart. He is also popular among the followers of Shaivism.

In north India, aniconic representation of Hanuman such as a round stone has been in use by yogi, as a means to help focus on the abstract aspects of him.

Temples and shrines:-

Hanuman is often worshipped along with Rama and Sita of Vaishnavism, sometimes independently. There are numerous statues to celebrate of temple of worship Hanuman all over India. In some regions, he is considered as an avatar of Shiva, the focus of Shaivism. According to a review by Lutgendorf, some scholars state that the earliest Hanuman murtis appeared in the 8th century, but verifiable evidence of Hanuman images and inscriptions appear in the 10th century in Indian monasteries in central and north India.

Tuesday and Saturday of every week are particular days at Hanuman temples. Some people keep a partial or full fast on either of those two days and remember Hanuman and theology he represents to them.

Hanuman in Southeast Asia:-

Cambodia:

Hanuman is a revered heroic figure in khmer history in southeast Asia. He features predominantly in the Reamker. A Cambodian epic poem, based on the Sanskrit's Ramayans epic, Intricate carvings on the walls of Angkor Wat depict scenes from the Ramayana including those of Hanuman.

In Cambodia and many other parts of Southeast Asia, mask dance and shadow theatre arts celebrate Hanuman with Ream (same as Rama of Indian). Hanuman is represented by a white mask. Particularly popular in Southeast Asian theatre are Hanuman's accomplishments as an martial artist and as a martial artist and as an amorous seducer of women, in interpolated plays that are missing from most versions of the Indian Ramayana.

Indonesia :-Hanuman is the central in many of the historic Dance and Drama art works such as Wayang wong found in Hindu communities of Bali

Indonesia. These performance arts can be traced to at least the 10th century. He has been popular, along with the local versions of Ramayana in other island of Indonesia such as Java.

In Major medieval era Hindu temples, archeological sites and manuscripts discovered in Indonesian and Malay islands, Hanuman features prominently along with Rama, Sita Lakshmana, Vishvamitra and Sugrvia. The most studied and detailed relief artworks are found in Prambana.

Hanuman, along with other characters of the Ramayana, are an important source of plays and dance theatre repertoire Odalan celebrations and other festivals in Bali.

Thailand:

Hanuman has been a historic and popular of Ramakien in Thai culture. He appears wearing a crown on his head and armor. He is depicted as an albino white, strong character with open mouth in action, sometimes shown carrying a trident. In Ramakien, hanuman is a devoted soldier of Rama. Unlike in Indian adaptations, he is not celibate , and he is presented as a ladies man, according to Paula Richman. He meets the mermaid Suvnnamaccha and the couple have a son. hanuman plays dominate role in the Thai version of the Ramayana epic.

Like the Indian tradition, Hanuman is the patron of Martial arts and an example of courage, fortitude and excellence in Thailand. Sak yak, Khon Dance of Thai Culture & temple of these Kind of such as Tatoo and Archehct & suchpture.

Conclusion

Hanuman is worshiped as a god in several parts of India and world today. It is almost derigueir to find a small shrine to him police stations and wresting clubs across the country.

especially in the north. outsiide of India, Hanuman is known in countries which were in fluenced by the Hindu culture such as Indonesia. Thailand and malaysia etc.

hanuman is a recurring figure in the panels. and motifs of the Ramayana that a born the temples that were built over the centuries in India. He is most often depicted with his favourite weapon, the mace, he is also often depicted as flying across the skies one hand holding aloft the mountain of herbs and the other a mace.

Reference Book

1. Benerji : Rama in India Literature, Art & Thought Vol-I Delhi, 1986.
2. Bechert, H. and R Gombrich, 1984 The world of Buddhism, Thames and Hudson, London
3. Bizot, F, 1989 Ramaker 04 Lamour Symbolique de Ram at Sita, EFEO Paris, 1989.
4. Busaba Ruangsri, (2005) The literary Art and reflection of khmer culture in Ramakerti, Institute bouddhique Vol-1-10 Thesis Major Khmer Language Silpkorn University, Bangkok: Silpkorn University, 2005
5. Chaturvedi, Harish Kumar, Ramayana in Asia, ILndia Contribution to world thought and culture 2003.

6. D.R. Sardesai- South east Asia: Post and Present New Delhi 1981.
7. G. Coedes- The Making of South East Asia London 1966.
8. Shastri, H.P., The Ramayana of Valmiki, Shandi Sadan London, 1992
9. Iyengar, K.R. Srinivasa : Asia variations in Ramayana, Sahitya Akademi, New Delhi, 2003.
10. John Samuel [edit] The Story of Kusalaran Institute of Asian studies, Chennai IAS(2006).
11. J.P. Singh, Ramayan Kaleen Bharat, Shivalik Prakashan, New Delhi, 2014
12. Krishnamoorthy K.(ed): A critical Inventory of Ramayana studies in the world, Vol-1, sahitya Academy new Delhi 1991 A Critical inventory of Ramayana studies in the world, Vol-1 sahitya Akademi, New Delhi, 1991.
13. Kamala Subramaniam. (1983). Ramayana, Bombay Bhartiya Vidya Bhavan 1999.
14. M. Codet, The Ramakien Bangkok, 1970.
15. Manich Jumsai – Thai Ramayan Bangkok, 1967.
16. Mani. V. Puranic' Encyclopadia-Motilal Banarsidas, 2010
17. Majumdar R.C, The History and culture of the Indian people. Bhartiya Vidya Bhavan 1988.
18. Nitin Kumar, The Mystery of Hanuman inspiring Tales from art and Mythology, 2004
19. Pou, S, Etudes sur, le Ramakerti (XVIe-XVIIe) EFEO, 1977
20. Shastri, Satyavrata Ramakirti Mahakavya, Bangkok, Mulnidhi Mulamai Scathels That (1990)
21. Raghavan : V(ed): the Ramayan Tradition in Asia, sahitya Akademi, New Delhi 1999.
22. Raghvan V, The Ramayan in greater Indian Surat 1975.
23. Roveda, V, Sacred Angkor, Ri veer Books Bangkok, 2002

प्राचीन प्रयाग मण्डल एवं उसका धार्मिक स्वरूप

डॉ. सुशील कुमार
शिक्षा युनिट, इलाहाबाद संग्रहालय, प्रयागराज

रेनू मिश्रा
शोधछात्र, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

मध्यदेश प्राचीन काल से ही विविध संस्कृतियों का केन्द्र रहा है, हाँलाकि मध्य देश की सीमाएं समय-समय पर संकुचित एवं विस्तृत होती रही तथापि प्रयाग निःसंदेह स्मृति काल से ही इस सीमा के अंदर रहा,[1] प्रयाग मण्डल की पुरातात्विक उपलब्धियों ने न केवल प्रागैतिहास को समझने की नवीन दृष्टि दी वरन भारतीय इतिहास के काल निर्धारण को भी आधार प्रदान किया। कोलडिहवा, महगड़ा, पंचोह, हेतापट्टी सदृश चर्चित पुरास्थलों से जहाँ एक ओर यह स्पष्ट हुआ कि भारतीय सभ्यता के आदि चरण का अंकुरण यही से आरम्भ हुआ वहीं दूसरी ओर झूँसी, श्रृंगवेरपुर भारद्वाज आश्रम, कौशाम्बी, भीटा से प्राप्त पुरालब्धियों ने प्रागैथ्तहास एवं इतिहास के मध्यवर्ती संक्रमणात्मक कडी आद्य-इतिहास को मजबूती से स्थापित किया।

प्रस्तुत शोध पत्र मूलतः दो बिन्दूओं के विवेचन पर केन्द्रित है। पहला प्रयाग का सफर इलाहाबाद एवं पुनः प्रयागराज तक जिसके अन्तर्गत प्राचीन प्रयाग के उद्भव एवं नामकरण का सर्वेक्षण है, दूसरे प्राचीन प्रयाग मण्डल की विविध धार्मिक परम्पराओं पर। सहायक उपादानों में पुरातत्त्व के साथ ही साहित्यिक परम्पराओ से भी समुचित सामन्जस्य स्थापना का प्रयास किया गया है।

प्रयाग परिक्षेत्र अपनी पवित्रता एवं पुण्यता के लिए नदियों के संगम का ऋणी है। पुण्य सलिला गंगा, श्यामनीरा यमुना एवं अतंः सलिला सरस्वती की संगमस्थली 'प्रयाग वैदिक काल के पश्चात् आर्य सभ्याता के केन्द्र के रूप में विकसित हुआ। एक पुरातन धार्मिक तीर्थ होने के साथ ही प्रयाग मण्डल समाजिक, राजनैतिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से भी महत्वपूर्ण नगर रहा है। इसके पूर्व युक्त तीर्थराज विशेषण ही इसके महत्तम होने का स्पष्ट संकेत है।

शाब्दिक व्युत्पत्ति अर्थ से 'प्रयाग' याग शब्द में 'प्र' उपसर्ग लगने से बना है अतः प्रयाग का अर्थ हुआ 'यागेभ्यः प्रकृष्टः' अर्थात यज्ञो में बढ़कर है जो या 'प्रकृष्ट यागो तत्र' अर्थात जहाँ उत्कृष्ट यज्ञ है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारम्भ मे नदियों के संगम के कारण इस स्थान को प्रतिष्ठा मिली, कालान्तर में याज्ञिक संस्कृति के प्रसार के साथ ही इस स्थल को 'प्रयाग' सम्बोधन मिला। प्रारम्भ में प्रयाग निश्चयतः एक लघु क्षेत्र था मत्स्यपुराण[2] प्रयाग मण्डल का सीमा निर्धारण इस प्रकार करता है।

आप्रयागप्रतिष्ठानात् पुरावासुक्रेह्दात्।
कम्बालाश्वतरौ नागौनागश्च बहुमूलकः।।

अर्थात प्रयाग मण्डल प्रतिष्ठान से लेकर वासुकिल्ह्द तक एवं कम्बल, अश्वतर व बाहुमूलक नाग के स्थान तक विस्तृत था। कूर्मपुराण[3] इस क्षेत्र का विस्तार पांच योजन सूचित करता है।

पंचयोजन विस्तिर्ण ब्रह्मणः परमेष्ठिनः।

प्राचीन भारतीय साहित्यक परम्पराओ में वेदों, पुराणों, धर्मशास्त्रों के साथ ही महाभारत, रामायण में प्रयाग के विविध संदर्भ प्राप्त हैं।

वेदों में प्रयाग'- वेद भारत ही नहीं वरन विश्व-साहित्य के प्राचीनतम सद्ग्रन्थ हैं। भारतीय

संस्कृति में तो वेदों को इतना स्वयंसिद्ध माना गया है कि, यदि इनमें किसी को महान कह दिया गया हो तो किसी अन्य प्रमाण की आवयश्कता ही नहीं। ऋग्वेद के दशम मण्डल में गंगा-यमुना के पवित्र संगम में स्नान करने वाले एवं यहाँ पर शरीर त्यागने वाले दोनो को ही स्वर्ग का अधिकारी बताया गया है।

''सितसिते सरिते यत्र सङंगते दिवमुत्पन्ति।[4]

ये वै तत्वं विसृजन्ति धीरास्ते जनासो अमृतत्वं भजन्ते।

पुराणो में 'प्रयाग'- भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता को जनसामान्य तक पहुँचाने वाले हिन्दू धर्म के मान्य आधार ग्रन्थ पुराणों में प्रयाग के प्रचुर संदर्भ प्राप्त है। पद्मपुराण5 तीर्थराज प्रयाग के महिमा मण्डन में पूरा स्त्रोत प्रस्तुत करता है। जिसके प्रत्येक श्लोक की अंतिम पंक्ति 'स' तीर्थराजों जयति प्रयागः है। इसका एक श्लोक इस प्रकार है।

''ब्रह्वी ने पुत्री त्रिपथास्त्रिवेणी,
समागमेनाक्षत योग मात्रान्।
यतप्तलूनात ब्रह्व पदं नयन्ति,
स तीर्थ राजो जयति प्रयागः।।''

अर्थात गंगा-यमुना एवं सरस्वती का जहाँ संगम है एवं जहाँ स्नान करने वाले ब्रह्व पद को प्राप्त करते हैं, उस प्रयाग राज की जय हो। मत्स्यपुराण[6] भी प्रयाग को तीर्थराज के रूप में पूजित बताता है।

''पूज्यते तीर्थराजस्तु सत्यमेव युधिष्ठिरः।''

उक्त के अतिरिक्त पद्मपुराण-आदि खण्ड, अध्याय, 39 स्कन्दपुराण-काशी खण्ड, अध्याय-6 अग्निपुरण, अध्याय-111, गरूड़पुराण, अध्याय-65, कूर्मपुराण, अध्याय-37 के अतिरिक्त अन्य लगभग सभी पुराणों में प्रयाग का महात्म्य वर्णित है।

रामायण में 'प्रयाग'- हिन्दूओं के आदि महाकाव्य रामयण में रमा बनगमन के संदर्भ में प्रयाग का प्रसंग आता है। ''इस प्रकार बातचीत करते हुए दोनों धनुर्धर सुर्यास्त होते-होते गंगा-यमुना संगम पर स्थित ऋषि भारद्वाज के आश्रम पर जा पहुँचे।''[7] सम्प्रति यह पावन आश्रम यथापूर्व दर्शनीय रूप में आनन्दभवन के ठीक सामने चिन्हित है।

महाभारत में 'प्रयाग'- पंचम वेद में रूप में विख्यात महाभारत मेकं भी प्रयाग का अनेकशः वर्णन है। वन पर्व में उल्लेख है कि तीर्थराज के विख्यात गंगा-यमुना संगम पर जीवो के अधिपति ब्रह्मा ने यज्ञ किया।[8]

रामचरित मानस में 'प्रयाग'- गोस्वामी जी कृत रामचरितमानस इस काल खण्ड का सर्वाधिक लोकप्रिय एवं जनमानस की महती श्रद्धा का आधार ग्रंथ है। मानस में प्रयाग का अतिमनोहारी वर्णन प्राप्त है। ''उस तीर्थराज प्रयाग का सत्य मंत्री है, श्रद्धा प्रिय पत्नी एव बेणी व माधव जैसे प्रिय मित्र है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, से उसका खजाना पूर्ण है जिसे स्वप्न में भी पाप रूपी शत्रु नहीं पा सकते।

समकालीन इलाहाबाद ही प्राचीन 'प्रयाग' था। इस संदर्भ में इतिहासकार बदॉयुनी महत्वपूर्ण सूचना देता है। 'मुन्तखबुल तवारीख'[9] में वह लिखता है कि सन् 982 हिजरी (1574 ई.) में 'सफर' महीने की 23वीं तारीख को मुगल बादशाह अकबर प्रयाग में आया जिसको लोग प्रायः 'इलाबास' कहते थे। अकबर ने गंगा-यमुना संगम पर एक किले की नींव रखी एवं इसका नाम बदलकर अल्लाहाबाद कर दिया।

उपरोक्त सूचना से स्पष्ट है कि प्रयाग के इलाहाबाद सम्बोधन से पूर्व कुछ समय तक इलाबास शब्द भी प्रचलित रहा। इला-पुरूरवा ऐल की माँ का नाम था एवं वास शब्द वासस्थान का सूचक है परूरवा ऐल चन्द्रवंशियो के पूर्वज थे एवं प्रारम्भिक वैदिक कालीन नगर प्रतिष्ठान उनकी राजधानी थी, जिसका समीकरण वर्तमान झूँसी से किया जाता है। अतः इला के निवास के कारण पहले प्रयाग का नाम 'इलाबास' तदुपरान्त 'इलाहाबास' एवं अन्ततः इलाहाबाद हो गया10 अंततः 16 अक्टूबर 2018 को इसका नाम बदलकर प्रयागराज किया गया।

प्रयाग मण्डल का धार्मिक स्वरुप-

वेदों से लेकर महाकाव्यों तक के विविध संदर्भ प्रयाग को आदि काल से सम्प्रति वैदिक/ब्राह्मण/हिन्दू

धर्म का सर्वाधिक महत्वपूर्ण क्षेत्र घोषित करते है। तथापि विविध राजवंशों के उत्थान-पतन एवं विविध धर्मो के उद्भव-पराभव से प्रयाग मण्डल अछूता नही रहा। रामायण में प्रयाग के परितः नीकानन जंगली क्षेत्र का विस्तार वर्णित है। अतः स्वभावतः इन जंगलों में निवसित आदिम जन-जातियों द्वारा नागोपासना इस क्षेत्र में अनुमानित की जा चुकी है। यहाँ पर बहुमूलक, कम्बल अश्वतर एवं वासुकी इत्यादि प्रसद्धि नाग-स्थानों की सूचना पुराणों के साथ ही महाभारत में भी प्राप्त है।

ज्ञातव्य है कि प्रसिद्ध नागवासुकी मंदिर आज भी दारागंज में गंगा किनारे अवस्थित है। यद्यपि के पुरातत्त्विक प्रमाण इस क्षेत्र से कम ही मिले है। इस संदर्भ में इलाहाबाद से दक्षिण में यमुना तट पर स्थित सुजानदेव के समीप एक विशाल नाग-प्रतिमा उल्लेखनीय है जिसका शीर्ष भाग मानव का एवं शेष-नाग का है।11 ह्वेनसांग भी इस क्षेत्र में नागोपासना की परोक्ष पुष्टि करता है तद्नुसार पभोसा के भयंकर नाग को गौतम बुद्ध ने पराजित किया12।

यद्यपि प्रथम श.ई.पू. पभोसा लेख से जैनियों के लिए कहा गुहा निर्माण की भी सूचना है, किन्तु बौद्ध धर्म का ही रहा। भीटा, कौशाम्बी, झूँसी, पभोसा, से बुद्ध एवं उनसे सम्बंधित प्रतीकों के अनेक अवशेष इस तथ्य को पुष्ट करते है। प्रथम शताब्दी ई. में कौशाम्बी में बौद्ध धर्म की प्रधानता कुषाण शासक कनिष्क की वर्ष दो की अभिलिखित प्रतिमा से सूचित होता है इसके प्श्चात गुप्तों के आगमन तक इस क्षेत्र में विविध स्थानीय राजवंशो यथा-मित्र, मघ, नाग का शासन रहा। परिणामतः यहां विविध धर्मो का विकास हुआ। जिससे बौद्ध, जैन व पौराणिक धर्म क साथ-साथ लोक जीवन में यक्ष व नाग-पूजा की परम्परा भी चलती रही। भीटा से प्राप्त कुषाण कालीन शिवलिंग13 एवं यक्ष प्रतिमा इसके प्रमाण है।

गुप्त वंशीय शासक यद्यपि परम वैष्णव थे तथापि बौद्ध धर्म इस क्षेत्र में फलता-फूलता रहा, जिसका प्रमाण कुमार गुप्त कालीन माँनकुँवर की प्रसिद्ध बुद्ध प्रतिमा है14 साथ ही गुप्तों के आस्थानुरूप विष्णु की स्थानक प्रतिमाएं भी ऊँचडीह एवं झूँसी से प्राप्त है।15 6ठीं शताब्दी ई. के पश्चात् प्रयाग परिक्षेत्र मे शैव धर्म की प्रधानता दिखती है। हालाकि इससे पूर्व भी इस क्षेत्र से शिवलिंग एवं खंडित शिवमूर्तियां प्राप्त है, किन्तु उपासना हेतु इनका प्रयोग असंदिग्ध नहीं है। सावती शताब्दी ई. की विख्यात उमा-माहेश्वर प्रतिमाएं अरैल, भरवारी, मनैयाडीह, पभोसा, दुर्वासा, इत्यादि स्थलों से प्राप्त है।16 यह भी उल्लेखनीय है कि कूर्मपुराण शिव को ही प्रयाग का अधिष्ठाता देव स्वीकार करता है।

''तत्रदेवोमहादेवो रूद्रोवासीन्नरेश्वरः।
न्यग्रोधं रक्षते नित्यं शूलपार्णिमहेश्वरः।।''

शिव की भद्रेश्वर, कमलेश्वर, माहेश्वर उपाधि युक्त अनेको मुहरें भीटा18 व कौशाम्बी से प्राप्त है, इनका समय 7वीं शताब्दी ई. स्वीकृत है। तत्समय प्रयाग मण्डल की एक महत्वपूर्ण धार्मिक विशेषता सूर्योपासना भी रही, 7वीं 8वीं शती की अनेकों सूर्य प्रतिमाएं भीटा, पभोसा, अरैल आदि स्थानों से प्राप्त है।19 कूर्मपुराण भी यमुना नदी को सूर्य द्व ारा रक्षित बताता है।

''यमुना रक्षति सदा सवितासप्तवाहनः''

पभोसा से प्राप्त दो लघु लेखो20 में 'श्री किरणेश्वरी' देवी का उल्लेख है। यद्यपि सीधे प्रमाण के अभाव में इनके विषय में अनुमान ही लगाया जा सकता। सूर्य शक्ति के रूप में गायत्री देवी विख्यात रही है, एवं पत्नी के रूप में संज्ञा, छाया, रिचुक्षा एवं सुवर्चसा का उल्लेख पुराणों में है। किन्तु किरणेश्वरी का उल्लेख नही है, एक संभावना यह है कि जिस प्रकार विष्णु से वैष्णवी, माहेश्वर, इन्द्र से ऐन्द्र, वराह से वाराही आदि मात्रिकाओं की कल्पना आयी, उसी प्रकार किरणेश्वर अंशुमाली से किरणेश्वरी की उद्भावना कर ली गयी हो।

गुप्त सम्राट यद्यपि परमभागवत थे, किन्तु उनके समय तक इस क्षेत्र में सभी धर्मो की सह-प्रतिष्ठा रही। जबकि इसके पश्चात् बौद्ध धर्म के ह्रास एवं ब्राह्मण धर्म के वर्चस्व की सूचना ह्वेनसांग देता

है। कौशाम्बी के सम्बंध में वह लिखता है कि इस समय यहाँ बौद्धों के दस संघाराम थे। जो उजाड़ अवस्था में थे जबकि ब्राह्यमण के पचास देव-मंदिर एवं उनके अनुयायियों की संख्या भी अधिक थी।21 गुप्तों के पश्चात् इस क्षेत्र पर प्रबल शैव-उपासक मौखरियों का शासन कायम हुआ। अतः इस क्षेत्र में स्वाभाविक प्रतिष्ठा रही।

मौखरियों के पश्चात् सम्राट हर्ष का श्शासन स्थापित हुआ। उसके समय की महत्वपूर्ण घटना प्रयाग का पंचवर्षीय दना महोत्सव रहा। यद्यपि कतिपय विद्वान प्रयाग दानोत्सव को बौद्ध परम्परा से जोड़ते है किन्तु ह्वेनसांग के विवरण-विश्लेषण से यह खंडित हो जाता है। वह जिस महोत्सव में शामिल हुआ था उसे हर्ष द्वारा आयोजित छठाँ महोत्सव बताता है।22 इसका मतलब यह कि प्रथम पंचवर्षीय दानोत्सव के समय हर्ष बौद्ध नही था। पुनः बाणभट्ट के विवरण से भी स्पष्ट है कि हर्ष व्यक्तिगत रूप से शैव था, उसने दिग्विजय प्रस्थान के समय नीललोहित की उपासना की।23 उसके सिक्कों पर शिव एवं पार्वती का अंकन नदी के साथ है बाँसखेड़ा लेख एवं उसकी 'परममाहेवश्वर' उपाधि उसे शैव प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त है।

इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि अपने पाँच पंचवर्षीय दानोत्सव के समय हर्ष शैव था। ह्वेनसांग स्वयं दानोत्सव के समय सूर्य एवं शिव की प्रतिमा को उत्सव रूप में निकालने का उल्लेख करता है। यद्यपि उसने दानोत्सव के प्रथम दिन गौतम बुद्ध के अवलोकितेश्वर स्वरूप की उपासना कर भी उल्लेख किया है, किन्तु इस वर्णन का पूर्ववर्ती पाँच दानोत्सवों से कोई सम्बंध नहीं है। पुनः यदि इस समय तक हर्ष बौद्ध धर्म स्वीकार कर चुका होता तो दानोत्सव का आयोजन पौराणिक नगर प्रयाग में न कर बौद्ध धर्म से सीधे सम्बद्ध किसी पवित्र स्थल पर करता।

अतः स्पष्ट है कि हर्ष ने उक्त दानोत्सवों का आयोजन पौराणिक परम्परा में ही किया एवं उसके इन आयोजनों में सूर्य एवं शिव प्रतिमाओं का जुलूस रूप मे प्रदर्शन से जन सामान्य प्रभावित हुआ होगा सूर्य एव शिव की उपासना को प्रयाग परिक्षेत्र में और भी सुदृढ़ आधार मिला।

संदर्भ-

1. श्रीवास्तव, शालिग्राम, 1937, प्रयाग प्रदीप, पृ. 18.
2. मत्स्यपुराण रू 104.4
3. कूर्मपुराण, रू 2.35.
4. ऋग्वेद, 10.15.
5. पद्मपुराण, उ.ख., 23/27-35.
6. मत्स्यपुराण, 108.15.
7. बाल्मीकी रामायण, अयोध्याकाण्ड, सर्ग 54.8.
8. महाभारत, वनपर्व, अध्याय-87,श्लोक-19
9. ए.क्यू.बदाँयूनी,मुन्तखब-उत-तवारीख (एस.के.रैकिंग द्वारा अनुदित) खण्ड-3, पृ. 344., निजामुद्दीन अहमद, तबकात-ए-अकबरी (बी.डे. द्वारा अनुदित) खण्ड-2, पृ. 577, स्मिथ, बी.ए.., अकबर द ग्रेट मुगल, पृ. 161
10. उत्तर प्रदेश जिला गजेटियर- इलाहाबाद, पृ. 8.
11. शुक्ल, बिमलचन्द्र, 'सातवीं शताब्दी में प्रयाग मण्डल' जी.सी. पाण्डेय (सम्पा.), भारतीय कला और संस्कृति, पृ. 103.
12. ए.यूहरर-दि मानुमेण्टल एन्टिक्विटीज एण्ड इन्स्क्रिप्सन्स इन दी नार्थ वेस्ट प्राविन्सेज, 1891, पृ. 143.
13. प्रमोदचन्द्र, स्टोनस्कलप्चर्स इन इलाहाबाद म्यूजियम, पृ. 63.
14. कार्पस अन्स्क्रिप्सनम् इन्डिकेरम् भाग-3 पृ. 158-60.
15. प्रमोदचन्द्र, उपरोक्त, पृ. 88.
16. वही, पृ. 103.
17. कूर्मपुराण, 1.36.16
18. थपल्याल, के.के.- स्टडीज इन एन्श्येन्ट इन्डियन सील्स-पृ. 144.
19. प्रमोदचन्द्र, उपरोक्त, पृ. 103-104.
20. एपिग्राफिया इण्डिका, भाग-2, पृ. 483.
21. वाटर्स रू युवान-चांग- 1.368.
22. गोयल, एस.आर., हर्ष इण्ड बद्धिज्म, पृ. 99.
23. हर्षचरित्-तृतीय उच्छवास, पृ. 45.

उत्तर बिहार में गंगा की भौगोलिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि

डॉ. कुमारी बीभा

स्नातकोत्तर संगीत विभाग, तिलका मांझी भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर

उत्तर बिहार के 'गंगा' की भौगोलिक एवं सांस्कृतिक प्रभाव को जानने से पहले उसके भौगोलिक परिवेश की जानकारी प्राप्त करना अत्यन्त आवश्यक है। भौगोलिक स्थिति के अनुसार उत्तर बिहार का भौगोलिक आकार मुकुट जैसा दृष्टिगोचर होता है, जिसका शीर्ष पूर्व की ओर तथा आधार पश्चिम की ओर है। इस क्षेत्र का गौरवान्वित जिला सहरसा, समस्तीपुर, लहेरियासराय, दरभंगा, मधेपुरा, सुपौल, पूर्णियां, कटिहार, किसनगंज, अररिया, आदि बिहार के उत्तरी सम्भाग में अवस्थित है।

भौगोलिक एवं प्राकृतिक रूप से यह जिला गंगाघाटी का मध्यवर्ती भाग है जो त्रिकोणाकार रूप में फैला हुआ है। नेपाल की तराई उत्तरी बिहार की उत्तरी सीमा का निर्माण करते हैं तो गंगानदी उत्तरी बिहार की दक्षिणी सीमा का निर्माण करते हैं। सांस्कृतिक और राजनैतिक दृष्टिकोण से गंगा के दक्षिण में मगध, करूण, अंग, आदि विभिन्न जनपद थे तो गंगा के उत्तर में विदेह (मिथिला), मलद, कौशिकीकच्छ और पुण्ड्र आदि अवस्थित हैं।

गंगा नदी की प्रधान शाखा भागीरथी है जो गढ़वाल में हिमालय के गौमुख नामक स्थान पर गंगोत्री हिमनद से निकलती है। गंगा के उद्गम स्थल की ऊँचाई 3140 मीटर है। गंगा के आकार लेने में अनेक छोटी-छोटी नदियों का योगदान है। गंगा देश की प्राकृतिक सम्पदा ही नहीं, जन-जन की भावनात्मक आस्था का आधार भी है।

सामाजिक, साहित्यिक, सांस्कृतिक और आर्थिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण गंगा का यह मैदान अपनी घनी जनसंख्या के कारण भी जाना जाता है। गंगा नदी में मछलियों तथा सर्पों की अनेक प्रजातियाँ पायी जाती है साथ ही मीठे पानी वाले दुर्लभ डॉलफिन भी पाये जाते हैं। यह कृषि, पयर्टन, साहसिक खेलों तथा उद्योगों के विकास में महत्वपूर्ण योगदान देती है। तथा अपने तटों पर बसे शहरों की जलापूर्ति भी करती है।

गंगा नदी के तट पर विकसित धार्मिक स्थल तथा तीर्थ स्थल भारतीय सामाजिक व्यवस्था के विशेष अंग हैं। इसके उपर बने पुल, बाँध और नदी परियोजनाएँ भारत की बिजली, पानी और कृषि से सम्बन्धित जरूरतों को पूरा करती है। कुछ वैज्ञानिक मानते हैं कि गंगा नदी के जल में 'बैक्टीरियोफेज' नामक विषाणु होते हैं, जो जीवाण ुओं व अन्य हानिकारक सूक्ष्मजीवों को जीवित नहीं करने देते हैं। गंगा की इस अनुपम शुद्धिकरण क्षमता तथा सामाजिक श्रद्धा के संरक्षण हेतु कई प्रयत्न किये जा रहे हैं।

जलवायु :- गंगा के बेसिन में इस उपमहाद्वीप की विशालतम नदी प्रणाली स्थित है। यहाँ जल की आपूर्ति मुख्यतः जुलाई से अक्टूबर के बीच दक्षिण-पश्चिम मानसून तथा अप्रेल से जून के बीच ग्रीष्म ऋतु के दौरान पिघलने वाली हिमालय के वर्फ से होती है। नदी के बेसिन में मानसून के उन कटिबंधिय तूफानों से भी वर्षा होती है, जो जून से अक्टूबर के बीच बंगाल की खाड़ी में पैदा होते है। दिसम्बर और जनवरी में बहुत कम मात्रा में वर्षा

होती है। औसत वार्षिक वर्षा बेसिन के पश्चिमी सिरे में 760 मिलीमीटर से लेकर पूर्वी सिरे पर 2.286 मिलीमीटर के बीच होती है। बिहार के मध्यवर्ती मैदान में गंगा के उपरी कछार औसत 1.016 से 1.524 मिलीमीटर तथा डेल्टा क्षेत्र में 1,524 से 2540 मिलीमीटर के बीच है।

डेल्टा क्षेत्र में मानसून के प्रारंभ (मार्च से मई) तथा मानसून के अन्त (सितम्बर से अक्टूबर) में जोरदार चक्रवाती समुद्री तूफान आते हैं। इनसे काफी बड़ी मात्रा में मानव जीवन, सम्पत्ति, फसलों तथा पशुओं का नुकसान होता है। ऐसा ही एक भीषण विनाशकारी तुफान नवम्बर, 1970 में आया था। गंगा के मैदान में उतार-चढ़ाव लगभग न के बराबर है। अतः गंगा नदी प्रवाह की गति धीमी है। गंगा-ब्रह्मपुत्र के मैदान का कुल विस्तार 7,77,000 वर्ग किलोमीटर है। इस मैदान में मिट्टी की सतह, जा कहीं-कहीं 1,829 मीटर से ज्यादा है।

गंगा भारत की सबसे महत्वपूर्ण नदियों में से एक है। यह उत्तर भारत के मैदानों की विशाल नदी है। गंगा भारत और बंग्लादेश से मिलकर 2,510 किलोमीटर की दूरी तय करती हुई उत्तरांचल में हिमालय से निकलकर बंगाल की खाड़ी तक भारत के लगभग एक-चौथाई भू-क्षेत्र में प्रवाहित होती है। गंगा नदी को उत्तर भारत की अर्थव्यवस्था का मेरूदण्ड भी कहा गया है। गंगा नदी अपने उद्‌गम से समुद्र में मिलने तक उत्तरांचल, उत्तरप्रदेश, बिहार, झारखंड़, पश्चिम बंगाल में प्रवाह करती है।

गंगा का माहात्मय वर्णणातीत है। गीता में श्री कृष्ण ने कहा है - 'स्त्रोतसामस्मि जाहनूवी' अर्थात् नदियों में मैं जाहनूवी (गंगा) हूँ। महाभारत में गंगा के बारे में कहा गया है - 'पुनाति कीर्तिता पापं द्रष्ट भद्र प्रयच्छति अवगाढ़ा च पीता च पुनात्मा सप्तम कुलम।' अर्थात् गंगा अपना नाम उच्चारण करने वाले के पापों का नाश करती है। दर्शन करने वाले का कल्याण करती है तथा स्नान-पान करने वाले की सात पीढ़ियों तक को पवित्र करती है।

इसी तरह वेदों और पुराणों में गंगा को बारंबार तीर्थमयी कहा गया है। ''सर्वतीर्थमयी गंगा सर्वदेवमया हरिः।'' (नृमिंह पुराण) गंगा जल धार्मिक ग्रंथों में श्रेष्ठतम कहा गया है। ''गंगा तक दर्शनात् मुक्तिः।'' पूरे विश्व में गंगा नदी को केवल जल का स्त्रोत नहीं बल्कि देवी मानकर पूजा किया जाता है। कोई भी धार्मिक अनुष्ठान गंगा जल के बिना पूरा नहीं होता।

गंगा को भारत सरकार द्वारा राष्ट्रीय विरासत घोषित किया गया है और यह देश की राष्ट्रीय नदी है। गंगा के किनारे कई जनपद और कई राज-घरानाओं को निर्माण और विस्तार हुआ। गंगा की सांस्कृतिक विविधताओं का वर्णन निम्न प्रकार है- गंगा की लहरों के किनारे 62 धुने, 254 तरह के गीत और नाटक, 122 नृत्य शैलियाँ, 200 शिल्प, लोक चित्रकला की 12 शैलियाँ और 26 भाषाएँ और बोलियाँ पाई जाती है।

गंगा का सम्मान सभी धर्मों और पंथों द्वारा किया जाता है। प्रचीन युग से ही गंगा ने कई कवियों और लेखकों को आकर्षित किया है। गंगा के किनारे सौ से अधिक समारोह और 50 प्रमुख मेलों का आयोजन किया जाता है, जिसमें प्रतिवर्श 400 से 500 करोड़ लोग इसमें भ्रमण करते हैं। इससे करोड़ों लोग अपनी आजीविका चलाते हैं। संस्कृति मंत्रालय के अन्तर्गत सांस्कृतिक केन्द्र में असम, बिहार, झारखंड, मणिपुर, ओड़िशा, सिक्किम, त्रिपुरा, पश्चिम बंगाल और अंडमान और निकोबार द्वीपसमूह सदस्य राज्य से हैं। अनादिकाल से ही गंगा जीवनदायिनी और मोक्षदायिनी रही है। गंगा केवल नदी ही नही, एक संस्कृति और हमारी सांस्कृतिक धरोहर है।

गंगा नदी जिनती पूज्य व पवित्र पूर्व, पश्चिम और दक्षिण वालों के लिए है उतनी ही उत्तर भारत के लोगों के लिए भी पूज्य और पवित्र है। दीपावली के दिन गंगा स्नानोपरांत एक दूसरे से मिलते हैं तो एक दूसरे से पूछते हैं कि ''गंगा स्नानम आच्चा।''

(क्या आपका गंगा स्नान होगा।) हर व्यक्ति गंगा दर्शन व गंगा स्नान कर अपने को धन्य मानते हैं। व्यक्ति गंगा जल की विधिवत पूजा कर घर में भी रखकर विधिवत्त पूजा-पाठ करते हैं। ये लोगों की धार्मिक आस्था का परिचायक है। गंगा में स्नान करते वक्त अनायास ही आस्था के बोल निकलते हैं-

''गंगे च यमुने चैव गोदावरी च सरस्वती
नर्मदे, सिन्धु, कावेरी जलेस्मिन सन्निधिं कुरू।''

अर्थात् गंगा नदी की सांस्कृतिक विरासत एक ही है। प्रत्येक नदियों को एक सूत्र में बांधने का श्रेय गंगा नदी को है। गंगा हमारे लिए पवित्र नदी है।

गंगा की उत्पत्ति समुद्र तल से करीब 4000 मीटर की ऊँचाई पर हिमालय की बर्फीली चोटियों से होती है। गंगा का वास्तविक स्त्रोत गोमुख माना जाता है जो गंगोत्री से 21 किलोमीटर दक्षिण में स्थित है। भारतीय संस्कृति और सभ्यता के आदिकाल से ही गंगा न केवल भारत की सर्वाधिक महान एवं पवित्र नदी के रूप में लक्षित है, अपितु विश्व की सर्वश्रेष्ठ महानदियों में अपने अनेक विशिष्ट गुणों के कारण माँ के रूप में पूजित है। गंगा नदी के जलग्रहण क्षेत्र में सहायक नदियों में प्रमुख हैं- यमुना, गोमती, सरयू, रामगंगा, कोशी, चंबल, सोन आदि। गंगा के किनारे बसे प्रमुख धार्मिक शहर हैं- हरिद्वार, ऋषिकेश, इलाहाबाद, वाराणसी। गंगा किनारे पर स्थित हरिद्वार तथा इलाहाबाद में 12 वर्ष के अंतराल पर कुंभ मेला लगता है। गंगा जल का उपयोग नहाने, पीने, सिंचाई तथा उद्योगों में किया जाता है। इसके किनारे मैदानी इलाकों में रहने वाले लाखों लोगों के लिए यह जीवन का आधार भी है।

अनेक पर्वों और उत्सवों का सीधा संबंध गंगा से है जैसे - मकर संक्राति, कुंभ और गंगा दशहरा के समय गंगा में नहाना या दर्शन करना महत्वपूर्ण माना जाता है। महाभारत के अनुसार, मात्र प्रयाग में माघ मास में गंगा-यमुना के संगम पर तीन करोड़ दस हजार तीर्थों का संगम होता है। ये तीर्थ स्थल सम्पूर्ण भारत में सांस्कृतिक एकता को स्थापित करते हैं। गंगा पर आधारित अनेक भक्ति ग्रंथ लिखे गये हैं जिनमें श्री गंगा सहत्रनाम स्त्रोतम् और आरती सबसे लोकप्रिय है। गंगोत्री तथा अन्य स्थानों पर गंगा के मंदिर और मूर्तियों को स्थापित कर श्रद्धा पूर्वक दर्शन एवं आराधना करते हैं।

संदर्भ ग्रंथ सूची :-

(1) भारत का वृहत भूगोल - सुरेश चन्द्र वंशल
(2) भौतिक भूगोल - सविन्दर सिंह

वैदिक काल में गंगा : पूर्णियाँ के संदर्भ में

डॉ0 नूतन कुमारी

स्नातकोत्तर संगीत विभाग, तिलका मांझी भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर

अतिप्राचीन काल से गंगा पवित्रम और पुण्यदायिनी माना जाता रहा है। वैदिक कालीन एवं महादेव द्वारा धारण गंगा के स्पर्श मात्र से सारे पापों से मुक्ति और कल्याणकारी माना गया है। महाभारत, बाल्मीकि, रामायण, पौराणिक और अन्य प्राचीन ऐसा ही रूप दिया है। यह मनुष्य का उद्धार करने वाला है। स्वर्ग की गंगा को मंदाकिनी, पृथ्वी की गंगा को भागीरथी तथा पाताल की गंगा को भागवती कहते है। एक बार राजा सगर ने अश्वमेघ यज्ञ किया। जिसमें यज्ञ के लिए छोड़े गए घोड़े को इन्द्र ने चुरा लिया। सगर के साठ हजार पुत्रों ने घोड़े की तलाशी ली उन्हें मुनि कपिल के आश्रम के पास अपना घोड़ा बाँध दिया। उन सभी ने कपिल मुनि का तिरस्कार किया। कपिल मुनि आँखे खोले और सभी राजकुमारों के शरीर में आग लग गई और भष्म हो गया। उसके बाद राजा सगर की आज्ञा से उनका एक पुत्रा वहाँ पहुँचा और कपिल मुनि को प्रणाम किया। मुनि खुश होकर बोले तुम इस घोड़े को ले जाओं। जले हुए राजकुमार को जीवित करने हेतु गंगा को पृथ्वी पर लाना होगा। पुत्र की तपस्या पर गंगा पृथ्वी पर उतरी और उनके राजकुमार पितरों का उद्धार किया।[1]

महाभारत काल में पूर्णियॉ का सारा इलाका पूरब में महानन्दा नदी तक कौशिकी-कच्छ कहलाता था तथा पूरब का इलाका (पूर्णियॉ, मापदह, दिनाजपूर, राजशाही का क्षेत्र) पुण्ड्र कहलाता था। आर्य उपनिवेश काल में भी पूर्णियॉ का क्षेत्र कौशिकी-कच्छ के नाम से जाना जाता था। उत्तर में हिमालय से घिरा हुआ और पश्चिम में कौशिकी नदी से घिरा हुआ होने के कारण यह युकितसंगत भी प्रतीत होता है। कोशी नदी हिमालय की उच्च पर्वत श्रेणियों के मध्य सप्त कौशिकी क्षेत्र से निकलती है। इस क्षेत्र में जल की सात धाराएँ बहती हैं, जिससे इसका नाम सप्तकौशिकी पड़ा है। कोशी का वास्तविक नाम कौशिकी है।[2]

कौशिकी अत्यन्त प्राचीन नदी है। इसका मूल स्रोत हिमालय से निकलकर नेपाल की राजधानी काठमाण्डू के पूर्व प्रांत से बहती हुई कंचनजंघा को घेरते हुए शुनकोशी, अरूणकोशी, अम्बर कोशी, इन त्रिधाराओं के संगम में समागमित हुआ। पुनः भोटीया कोशी, ताम्बा कोशी, लिखी कोशी तथा दुधिया कोशी इन चार धाराओं में विभक्त होकर सप्तकोशी कहलाता और बराहक्षेत्र के मंदिर का अतिक्रमण करते हुए नेपाल की तराई स्थित चतरा के समतल प्रदेश में प्रवेश किया। यह सहरसा के उत्तर-पूर्व से निकलकर दक्षिण में कुर्सेला के निकट गंगा में मिल जाती है। जिसके फलस्वरूप पूर्णियॉ के सभी कौशियॉ गंगा का स्वरूप मानकर पूर्णियॉ के लोकजीवन के सभी मांगलिक कोर्यों में इस जल का उपयोग कर यज्ञ सम्पन्न किया जाता रहा है।[3]

गंगा अवतरण की उक्त कथा का आध्यात्मिक स्वरूप वैदिक देव-ब्रह्मवाद से गुंथा हुआ है। वैदिक समाज आंरभ में मनुष्य के प्रत्येक कृत्य के मूल में दिव्यता दिखता था। उत्तर वैदिक काल में पाया गया कि दिव्यता तो सृजन प्रक्रिया के अगले पड़ाव पर पैदा होता है। तब माना गया कि परमता सृष्टि

के मूल में है। वैदिक ऋचाँए दिव्यता के विभिन्न आयामों को ही अलग-अलग देव प्रतीकों में देखती हैं। वैदिक ग्रन्थ परमता के प्रतीक के रूप में ब्रह्म को देखते है। उनका मानना है कि ब्रह्म की प्राण ान क्रिया से ही सृष्टि उत्पन्न हुई।

पुरानों की उक्त कथा में मन की अलग-अलग अवस्थाओं को ही शिव, कपिल मुनि, सगर उनके साठ हजार पुत्र, अंशुमन, दिलीप और भागीरथ नाम दिया गाय है। इस कथा का राजा सगर मन है, जिसमें चक्रवर्ती होने की कामना का जन्म हुआ है। इसके साठ हजार पुत्र उनकी अन्नत कामनाँए हैं, जो काम, लोभ, ईर्ष्या और मोह के अतिशय प्रभाव में हैं। सगर के अश्वमेघ यज्ञ के घोड़े को चुराने वाला इन्द्र प्राण केन्द्र हैं। वहीं मुनि कपिल विशुद्ध चेतना से युक्त मन के एक और रूप विशुद्ध चेतना या परम-सत्य तिरस्कार के कारण वे साठ हजार कामनाँए जलकर भष्म हो गई। मगर पाप बोध के रूप में उनका अस्तित्व बना रहा। फलतः वह पीड़ा झेलने के लिए विवश रहा। पीड़ा की मुक्ति के लिए वह छटपटता रहा। मुक्ति के लिए भागीरथ रूपी मन ने घोर तपस्या की। अन्ततः मन से ही सृष्टि के कल्याण की भावना से ओतप्रोत गंगा की मुक्तिदायिनी धारा प्रवाहित हुई। जिसके वेग को सहने में कोई और समर्थ नहीं था। ज्ञान या प्रज्ञा के प्रतीक शिव ने उसे सहा। गंगा का यह प्रवाह मानसिक, वाचिक और कायकि, तीनों प्रकार के पापों से मुक्ति दिलाने वाला है।

गंगा वतरण बाबू जगन्नाथ दास रतनाकर द्व ारा ब्रजभाषा में रचित, खण्डकाव्य है जिसमें कवि ने गंगा की उत्पत्ति एवं उसके पृथ्वी पर आने के पौराणिक आख्यान को कथावस्तु बनाया है। गंगा की तीव्र धारा ब्रह्मा जी के कमण्डल से निकलकर अपार वेग से आगे बढ़ी। उसके शोर से तीनों लोक काँप रहे थे। यह धारा चक्कर काटती हुई आगे बढ़ी और विपुल वेग एवं ओज से उमगती हुइ जब भगवान शिव के समीप आई तो उनके मनोहर रूप को देखकर मोहित हो गई। उनका कोप लोप हो गया और चित्र में स्नेह की चिकनाई का समावेश हो गया। कृपानिधान भगवान शिव ने उनके मनोभाव को पहचान कर उन्हें अपनी प्रिया मानते हुए सिर पर स्थान दिया और गंगा उनकी जटाओं में सिमट गई।

गंगावतरण में रत्नाकर जी ने वीर रस एवं रौद्र रस का पूर्ण परिपाक किया है। श्रृंगार की योजन कीी उस अवसर पर है जब गंगा भगवान शिव के रूप को देखकर मुग्ध हो गई और उनके चित्र में स्हेह का संचार हो गया। शिव ने भी उन्हें प्रिया समझकर अपने शीश पर स्थान दे दिया। अतः कहा जा सकता है कि गंगावतरण रत्नाकर जी की एक सुन्दर रचना है। जिसमें काव्य सौन्दर्य के सभ्भी उपादान उपस्थित हैं।[4]

वैदिक काल से ही गंगा का जल सनातन धर्म में हिन्दुओं के लिए किसी भी धार्मीक उनुष्ठान मान्यता वाले त्योहार एवं संस्कार हेतु पवित्र माना जाता रहा है। गंगा जल के अभाव में किसी भी देवी-देवता की पूजा अथवा शुभ कार्य पूर्ण नहीं हो सकती। यहाँ तक कि जन्मोत्सव संस्कार से लेकर मृत्यु पर्यन्त संस्कार तक इसी पवित्र गंगाजल के सहारे पूजन की शुद्धता की जाती है।

संदर्भ-सूची :

(1) बिहार विस्तृत अध्ययन : अरिहन्त पृ0 - 149
(2) पुरैनियाः जिला प्रशासन, पूर्णियाँ पृ0 - 01
(3) 'गंगावतरण' बाबू जगन्नाथ दास रत्नाकर से

चूड़धार क्षेत्र : बहुआयामी संभावनाओं का भंडार

डॉ श्याम सिंह

सहायक आचार्य हिंदी विभाग
राजकीय महाविद्यालय नेरवा, शिमला (हि.प्र.)

प्रस्तुत शोध पत्र चुडेश्वर शिरगुल महाराज पर केंद्रित है जिस प्रकार देश भर में राम और कृष्ण को भगवान के साथ-साथ इतिहास पुरुष भी माना जाता है, ठीक इसी प्रकार शिरगुल महाराज भी हमारे देवता व इतिहास पुरुष तथा हमारे पूर्वज है। जिन्होंने प्रजाहित में राक्षसों तथा शत्रुओं से अनेक संघर्ष किए और विजय प्राप्त कर भगतों को अभय दान दिया। समय की विडम्बना अथवा समजस्य देखिए कि एक ब्रह्माणी की कोक से क्षत्रिय परिवार में जन्म लिया। और धर्मरक्षा में गोगाबीर तथा भांगायणी देवी को सहयोगी बनाया। इस कार्य में उनके सहोदर बिजत महराज भी उनके सहयोगी रहे। चूड़ेश्वर धाम शिवनगरी शिरगुल महाराज की तपोस्थली पूजनीय, दर्शनीय, आत्मदर्शन, साधना और अध्ययन के लिए अति उत्तम है। यहां आकर आपकी स्वतरू समाधि लग जाएगी और ज्योतिर्मय हो जायेंगें। यह पर्वत श्रृंखला शक्ति का पुंज है और सदियों से पीढ़ी-दर-पीढ़ी लोग यहां आध्यात्मिक उर्जा प्राप्त करने जाते है।

''मेरे स्वपन तुम्हारे पास सहारा पाने आएंगे
इस बूढ़े पीपल की चाया में सुस्ताने आएंगे
हम इतिहास नहीं रच पाए इस पीड़ा में देहते हैं।
अब जो धाराएं पकड़ेंगे इसी मुहाने आएंगे।''[1]

हिमाचल प्रदेश के शिमला एवं सिरमौर जिले में स्थित सबसे ऊंची चोटी कैलाश तीर्थ चूड़धार 12982 फुट की ऊंचाई पर स्थित चूडधार एक जाना- माना धार्मिक स्थल है। जो हमारी आस्थाओं की ऊंचाइयों को माप दंड है। यहां प्रतिवर्ष लगभग एक लाख श्रद्धालु शिरगुल महाराज के दर्शन हेतु आते हैं।

शिरगुल महाराज की तपोस्थली, चूड़धार क्षेत्र बहू-आयामी है। जिला शिमला एवं सिरमौर के उपर आशीर्वाद बरसाने वाली यह पर्वत श्रंखला अत्यंत मनोहारी विहंगम दृश्य से परिपूर्ण है।[2]

भारतीय प्राणी सर्वेक्षण विभाग ने वाइल्ड लाइफ सेंचुरी चूडधार के लिए विशेष सर्वे का आयोजन किया। करीब तीन साल तक चले शोध कार्य के बाद वैज्ञानिकों ने यहाँ जैवविविधता के अनमोल खजाना खोज निकाला हैं। यहाँ शोध में विभिन्न प्रकार के जीवों का पता चला हैं, जो प्राकृतिक संतुलन बनाने में अहम योगदान हैं। भारतीय प्राणी सर्वेक्षण विभाग ने वाइल्ड लाइफ सेंचुरी चूडधार का सर्वे पूरा कर इसका डॉक्यूमेंट तैयार किया है। यहाँ शोध के दौरान विभिन्न प्रकार के जीवों का पता लगाया है, जो हिमाचल प्रदेश में केवल इसी क्षेत्र में पाए जाते हैं।[3]

धार्मिक आस्था का केंद्र रू चूडधार, शिमला, सिरमौर, सोलन तथा उत्तराखंड के जौंसार- बाबर की आस्था का केंद्र है। शिरगुल हमारे कुल देवता हैं हमारी आध्यात्मिक आस्थाएं महाराज के कृत्यों से अनुप्राणित होती है। आस्था जीवन का आधार है। शिरगुल महाराज हमारे बड़े देव हैं। उनकी उपस्थिति हम सदैव महसूस करते हैं। बालको के

मुंडन संस्कार से लेकर फसल, धेनु और अन्य सुख - संपदा, मान- मनोतियों के लिए हम चुड़धार की यात्रा करते हैं। वर्ष में एक बार वहां जाने की हमारी मनोइच्छा रहती है। वह निरंतर जैसे हमे अनुप्राणित करती है। धार्मिक आस्था का यही तो चमत्कार है।

धार्मिक यात्राओं का केंद्ररू यात्रा - जात्रा - जातर का सिर चूडधार से जुड़ता है। ग्राम देवता से लेकर बड़े देवताओं की जातर कभी ना कभी चूडधार महाराज के यहां माथा टेकने जरुर जाती है। सिरमौर तथा चौपाल क्षेत्र की सबसे बड़ी यात्राएं चूडधार की होती है। जीवन यात्रा है, यात्राओं में हम खुद को खोजते हैं और समर्पित करते हैं। 4

पर्वतिय प्रदेशो में देवी - देवताओं का विशिष्ट समाज तथा भौगोलिक इकाइयों में प्रभाव रहता है। किसी का प्रभाव बड़े क्षेत्रों में तो किसी का छोटे क्षेत्रों में। स्वभावनानुकुल देवी - देवताओं के अनुयायी होते हैं।

उनमें उन स्वभावों के अंश भी दिख हैं। सामाजिक व्यवहारों में देवों पासक समाज एक - दूसरे को इन स्वभाव के अनुकूल भी पहचानते है। छोटे - देव, बड़े - देव, नर्म - देव, कड़े- देव, संतुष्ट, असंतुष्ट देव, जल्दी प्रसन्न, जल्दी खिन्न होने वाले देव, सिरमौर - शिमला जनपद में जिन देवों का सबसे ज्यादा प्रभाव है उनमें सर्वो परी है शिरगुल महाराज।[5]

साहसिक पर्यटन के लिए प्रसिद्ध रू यह पक्ष चूडधार का अभी तक अछूता है रहा है। संगठित रूप से अछूता रहा है संगठित रूप से साहसिक पर्टयन यहां प्रारंभ नहीं हो सका है। कई रास्ते हैं, जहाँ से प्राचीन समय से ही श्रद्धालु चूडधार यात्रा पर जाया करते थे। इनमें मुख्यतरू राजगढ़ की तरफ से, नौराधर से, हरिपुरधार से, तरांह खड्ड से तथा बिजट महाराज की सरांह से है। सबसे लंबा और सबसे कठिन मार्ग हरिपुर धार से होकर जाता है। कई यात्री का मानना है कि यह विश्व के कठिन तम तथा सुंदरतम ट्रैकिंग रूटों में से एक है। इस रास्ते से जाते हुए यात्रियों को अनेक कठिन पड़ावों से होकर गुजरना पड़ता है। पथरों का जो संसार इस मार्ग में आता है, वह अदभुत है। चोगल के पास से चुहडू शिला तथा मंदिर का इतना सुंदर नजारा दिखता है कि वहां से हटने का में नहीं करता है।

जड़ी - बूटियों का खजाना रू परम्परागत आयुर्वेदाचर्यों एवं शोध कर्ताओं ने यह निष्कर्ष निकाले हैं कि चूडधार क्षेत्र में अनेक मेडिसिनल प्लांट्स विद्यमान हैं। इस पर स्वतंत्र शोध की आवश्यकता है। खास करे पथरों के मध्य उगने वाली औषधिय गुणों से युक्त जड़ी - बूटियां यहाँ अधिक मात्रा में पाई जाती हैं। पथरों यानी बड़ी - बड़ी शिलाओं के रूप - स्वरूप की विविधता के लिए यह प्रदेश दुनिया में प्रसिद्ध हैं। पथरों की विभिन्न प्रकार की आकृतियां यहां कदम कदम पर देखने को मिलती है।

पशु - पक्षियों की शरण स्थली रू पर्वतिय प्रदेशों में पाए जाने वाले पशु - पक्षियों की यह शरण स्थली है। 8-9 हजार फुट की ऊँचाई के आस पास पहुँचने पर यहाँ बड़ी वनस्पतियां लुप्त सी हो जाती हैं। हिंसक जंगली जानवरों के अलावा यहाँपर कस्तूरी मृग की संभावनाएं हैं।[6]

चूडधार क्षेत्र का अधिकतर भग देवदार, केल, बान, खडशू आदि प्रजाति के वनों से आच्छदित है जो यहां की प्राकृतिक सुंदरता का मुख्य आकर्षण है। इस क्षेत्र में दुर्लभ प्रजाति के वन्य प्राणी जैसे कस्तूरी मृग, हिरण, ककड़, घोराल, काला भालू आदी विचरण करते हुए देखे जा सकते हैं। राज्य पक्षी मोनाल भी लगभग 300 फीट की ऊंचाई पर विचरण करते हुए देखे जा सकते हैं। यहां पर टिड्डे व बिना पूंछ वाले चूहे की लुप्त प्राय प्रजातियां भी मिली है। समस्त चूडधार हिमाचल सरकार का सरंक्षित वन्य प्राणी अभयारण्य क्षेत्र है। जिसका क्षेत्र फल लग भग 15000 हेक्टेयर है। परन्तु यह वास्तव में भौतिक रूप से सरांक्षित क्षेत्र नहीं है।

सरकार को इस क्षेत्र को दुर्लभ प्रजाति के वंजीव को संरक्षित करने की आवश्यकता है जिसमे एक ओर जीवों का संरक्षण होगा वहीं दूसरी ओर वनों का अवैध कटान भी रुकेगा।आयुर्वेद में प्रयोग होने वाली बेशकीमती औषधियां चूडधार में पाई जाती है। इसका लाभ स्थानीय लोगो और बाहर से आने वाले शोधार्थियों को भी मिल सकता है।

विभिन्न प्रजातियां रू भारतीय प्राणी सर्वेक्षण विभाग के वैज्ञानिकों ने चुडधार मे वन्य प्राणियों पर किए सर्वे मे पाया कि चुडधार में जीव - जंतुओं की 198 प्रजातियां मिली है। यह प्रजातियां अलग - अलग 9 रूप की है। इसमें पक्षियों की 70 प्रजातियां, तितलियों की 4द्व, ड्रैगन फ्लाई की 18, रेंगने वाले जीवों की 10, मॉथ की 11, टिद्दो की 31, मेंढ़कों की पांच और स्तनधारी जीवों की 10 प्रजातियां प्रमुखता से पाई जाती है।[7]

प्राकृतिक दृश्य रूचुडधार क्षेत्र की भौगोलिक स्थिति बड़ी अद्भुत है। चुडधार की शिखर श्रृंखला सुदूर तक के दृश्य का विहंगम दृश्य प्रस्तुत करती है। वह हिमालय हो गंगा - जमुना के मैदान है, उसका नजारा यहां से अदभुत दिखता है।

शरद की रात्रि में चांद और आकाशीय पिंडो का जो दृश्य यहां दिखता है, उसका बखान कर पाना बेहद मुश्किल है। यहाँ का नेचर फोटोग्राफरों के लिए चुडधार श्रृंखला किसी स्वपन के साकार होने से कम नहीं है। इस तरफ अभी तक किसी का भी ध्यान नहीं गया है।

श्रद्धा और विश्वास का आयामरू भौतिक सुंदरता से उपर यहाँ की आध्यात्मिक सुंदरता तथा वातावरण हमे मोहता है। यद्यपि दुर्गम है फिर भी यहाँ पहुंचने पर जैसे थकान छूमंतर हो जाती है। हम आस्था वालो के लिए यह तप स्थली का ही प्रभाव है। श्रद्धा और विश्वास की और अधिक गहरा बनाने के लिए चुडेश्वर सेवा समिति इस तीर्थ स्थल की बहुआयामिता को और सुंगम - सुंदर बनाने के कार्य में लगी है। मूल भाव के साथ चेड- चड़ किए बगैर सेवा समिति महाराज के आशीर्वाद से चुडधार को विश्वप्रसिद्ध अस्था एवं धार्मिक पपर्यटन स्थलमे तबदील करने का भरपूर प्रयास कर रही है। 8 विश्व की श्रेष्ठ भूमि तुझे शत - शत नमन जहाँ हर प्रकार की जलवायु वर्ष मे छरू ऋतुओं का आगमन समुंदर तल से उतुंग कैलाश शिखर तक पर्वत मालाएं विभिन्न वनस्पतियों के अक्षुण भंडार। ईश्वर अपनी सोडस कलाओं सहित स्वयं मनुष्य कल्याण हेतु अवतार रूप में यहाँ आते है। तभी यहाँ पर मानव पशु, पक्षी, वनस्पति, पर्वत, मिट्टी व पत्थर को भी पूजा जाता है। 'पौण पाणी' का सेहज सरल बहाव भारत वर्ष में ही देखा परखा जा सकता है। ऋषियों-मुनियों की अवतारों की यह धरती विश्व की पराभूमी और परासंस्कृती की द्योतक है। यहाँ पर रचित वेध, शास्त्र वांद्यम अपना अर्वाचिन परिचय स्वयं देते हैं। चुडेश्वर धाम शिव ननगरी शिरगुल महाराज की तपोस्थली पूजनीय, दर्शनीय, आत्म दर्शन, साधना और अध्ययन के लिए अति उत्तम हैं। यहाँ आकर आपकी स्वतः समाधी लग जाएगी और ज्योतिर्मय हो जायेंगें।[9]

प्राकृत लिंग दर्शन करें कोई,
अश्वमेघ जग सम फल होई।
संतति प्राप्ति इच्छा है जोई,
शिरगुल प्रसाद से निश्चित होई।।
स्वामी एक ही आशा हमारी,
हरहूँ संकट मम आकर भारी।
शिरगुल हो संकट के नाशक,
मंगल करता विघ्न विनाशक।।
पाठ चालीसा शिरगुल सम्मुख
सुनवे पाप नसाये अपवर्ग पावे।
हम सब करे विनती तुम्हारी,
हरहुं विपता दूर हमारी।।

अंत मे, मैं शोध पत्र को दुष्यंत कुमार की पंक्ति के साथ विराम देता हूं -

हदे शेहर से निकली तो गांव - गांव चली,
कुछ यादें मेरे संग पांव - पांव चली,
सफर जो धूप का हुआ तो तजुर्बा हुआ,
व जिंदगी क्या जो छांव - छांव चली।

संदर्भ

1. दुष्यंत कुमार, मशहूर शेर, 19 जुलाई 2020
2. रमेश शर्मा,चुडधार क्षेत्र रू बहुआयामी संभावनाओं से परिपूर्ण लेख पृ. - 9, चुरेश्वर स्मारिका एवं निदेशिका - 2019
3. यशपाल कपूर,चुडधार में छुपा है जैव विविधता का अनमोल खजाना लेख, पृद्व 35, चूरेशवर समारिका एवं निदेशिका - 2019
4. रमेश शर्मा,चुडधार क्षेत्र रू बहुआयामी संभावनाओं से परिपूर्ण लेख पृ. - 9, चुरेश्वर स्मारिका एवं निदेशिका - 2019
5. डॉ राम गोपाल शर्मा, शिरगुल महाराज रू देवत्व, समसिक्ता, प्रवतिय औधात्य एवं उद्वरवता के विचार पुंज लेख, पृ. 27, चूरेश्वर स्मारिका एवं निदेशिका - 2019
6. रमेश शर्मा,चुडधार क्षेत्र रू बहुआयामी संभावनाओं से परिपूर्ण लेख, पृ. - 9, चुरेश्वर स्मारिका एवं निदेशिका - 2019
7. यशपाल कपूर,चुडधार में छुपा है जैव विविधता का अनमोल खजाना लेख, पृद्व 35, चूरेशवर समारिका एवं निदेशिका -2019
8. रमेश शर्मा,चुडधार क्षेत्र रू बहुआयामी संभावनाओं से परिपूर्ण लेख, पृ. - 9, चुरेश्वर स्मारिका एवं निदेशिका - 2019
9. रामभज चौहान, दिव्य औषधीय पादप वाटिका चूडधार लेख, पृष्ठ - 14, चुरेशवर स्मारिका एवं निसेशिका - 2019

वेद : साहित्य का सर्वहारा बनाम सर्वहारा का साहित्य अब भी मौजू है अभिशप्त सर्वहारा

डॉ. दर्शनी प्रिय

कलाविध

सर्वहारा और साहित्य एक दूसरे के पूरक रहे हैं। भारतीय चिंतन परंपरा में साहित्य के परिपेक्ष्य में हम हासिये के जन के स्वरूप, प्रभाव और उसकी वैविध्यपूर्णता को कालजयी इतिहास के रूप में देखते रहे हैं। साहित्य के इतिहास की संचेतन भूमिका के केंद्र में हमेशा से एक वर्ग ऐसा रहा जिसने लेखकों, सुधारकों और चिंतकों का ध्यान बार-बार अपनी ओर आकृष्ट किया है। हाल के दिनों में महामारी से बदली परिस्तिथियों ने ही केवल इन्हें विमर्श की भूमिका में नहीं रखा अपितु एक विशिष्ट कालखंड भी इनके कालजयी सृजन का गवाह रहा।

हालांकि महामारी काल की विद्रूप स्तिथि और भी अधिक जुगुप्साकारक बन जाती है, जब लेखक और चिंतक अभिशप्त जीवन जीने को मजबूर इस वर्ग के जीवन-मूल्यों का विघटन देखता है। मौजूदा चुनौतियों ने दुनियांभर के समीक्षकों, लेखकों और चिन्तकों को हासिये के मानुष के प्रति सायास गम्भीर मंथन के लिए प्रेरित किया है।

क्या अभिव्यक्ति का ये भाव साहित्य के इतिहास के दूसरे काल में भी मुखर रहा। इसकी पड़ताल से ये बात स्पष्ट होती है की बीते समय में भी उनकी भूमिका और तात्कालीन परिस्तिथि को लेकर प्रखर साहित्यकारों के बीच साहित्यिक लामबन्दी रही। विमर्श के उस दौड़ से आम जनमानस में लोक कल्याण और लोक जागरण की भावना प्रस्फुटित हुई। उन्हें केंद्र में रख कर तमाम चरित्र गढ़े जाने लगे और उन्हें आख्यान काव्यों में रचा जाने लगा। कुल मिलाकर सर्वहारा के समाज निरपेक्ष अस्तित्व की स्वीकृति मौजूदा विमर्श की प्रमुख प्रवृत्ति बन गई।

उत्तरवर्ती साहित्य के आलोक में अध्ययन से स्पस्ट होता है की शोषक और शोषित के द्वंद को तब के साहित्य में बड़ा दायरा मिला। हालाँकि भारतेन्दू से लेकर प्रेमचंद के साहित्य में ये संवेदना स्पष्टत रूप से दिग्दर्शित होती है। लेकिन 60 के दशक के बाद का साहित्य इसकी बड़ी बानगी बना।

इस काल के लेखकों द्वारा जो व्यापक जनसमर्थन सर्वहारा वर्ग के प्रति दिखा वो किसी और काल में इतने विपुल रूप में नहीं दिखा। संभवतः प्रोयगवाद और प्रगतिशील साहित्य ने ही सर्वहारा को हासिये से इतर मुख्यधारा में खड़ें होने का माद्दा दिया।

समाज के सबसे उपेक्षित वर्ग ने साहित्य के केंद्र में सहसा अपनी जगह बना ली। यद्यपि इस परम्परा की विधिवत शुरुआत प्रेमचंदकालीन साहित्य से ही हो गयी थी लेकिन छायावाद से इतर साहित्य में वामपंथी विचारधारा के उदय से इसे अत्यधिक बल मिला।

तब के कवियों ने समाज के सबसे उपेक्षित वर्ग के लिए सृजन को अपना सबसे मजबूत हथियार बनाया और तत्कालीन हुकूमत का ध्यान उनकी व्यथा और दुर्दशा की ओर आकृष्ट किया। उन्होनें समाज की पीड़ा, दुर्बलता, दयनीयता, निरीहता, बेबसी, उत्पीड़न, असमानता, पक्षपात और दमन के अकांड तांडव का चित्रण किया।

रामेश्वर शर्मा ने इस संदर्भ में ठीक ही कहा है- साहित्य जनता की आशा, आकांक्षा और कर्मेक्षा

की अभिव्यंजना है जो देश, समाज और मनुष्य की आर्थिक, राजनीतिक एवं बौद्धिक दासता से मुक्त होने की प्रेरणा देती है। सर्वहारा के सन्दर्भ में साहित्य की उपादेयता को लेकर उनकी यह टिप्पणी बिल्कुल सटीक प्रतीत होती है।

भगवती चरण वर्मा ने अपनी कविता 'भैसागाड़ी' में समाज के पद दलित और तिरस्कृत प्राणी का यथार्थ चित्रण अंकित करते हुए लिखा है-

''चांदी के टुकड़ों को लाने प्रतिदिन,
पीसकर भूखों मर-मर
भैंसा गाड़ी पर लदा हुआ,
जा रहा मानव जर्जर।''

कहना न होगा की तात्कालीन कवियों और लेखकों ने हासिये पर पड़े मनुष्य की पीड़ा की अभिव्यक्ति का जो बीड़ा उठाया था उसे बखूबी अपनी सशक्त लेखनी के जरिये आगे बढ़ाया।

इसकी पुष्टि सन् 1838 में कलकत्ता में रविंद्र नाथ ठाकुर द्वारा दिये वक्तव्य से पता चलता है जिसमें उन्होनें कहा था—''जनता से अलग रहकर हम बिल्कुल अजनबी बन जाएंगे। साहित्यकारों को मिलजुलकर उन्हें पहचानना है। जो साहित्यकार, मानवता से तादात्म्य स्थापित न कर सका वह अपने लक्ष्य और आकांक्षाओं को पाने में विफल रहेगा।''

जाहिर है यहां जनता का तात्पर्य उसी सर्वहारे वर्ग से है जो समाज से धकियाया और तिरस्कृत किया गया था।

इस वर्ग विशेष के साहित्य के केंद्र में आने की यात्रा स्वतंत्रता पूर्व के उपन्यासों में यथार्थवादी प्रवृत्ति के उदय के साथ ही हो गयी थी। प्रेमचंद ने इसकी विधिवत शुरुआत की। उन्होनें अपनी कहानियों और उपन्यासों में शुरु से ही किसानों और मध्यमवर्गीय भद्र पुरुषों के यथार्थ जीवन का चित्रण किया।

किस तरह परिस्थितिवश किसान, मजदूर बनने के लिए विवश हो गया था और उसकी सामाजिक वैशिष्टयता उस काल विशेष में क्या रही इसका अंकन उन्होंने अपनी कहानी 'गोदान' में कर दिया था। प्रेमचंद की परंपरा को बाद में नागार्जुन, भैरव प्रसाद गुप्त, फणीश्वर नाथ रेणु आदि लेखकों की कहानियों और उपन्यासों में देखा जा सकता है। पूर्व के उपन्यासों में मजदूरों के जीवन पर उस तरह नहीं लिखा जा सका। जिस तरह उस युग में और बाद में प्रगतिशील साहित्य के दौड़ में लिखा गया।

जैसा कि नामवर सिंह का मानना था प्रयोगवाद के दौर के कथा साहित्य में मध्यवर्गीय जीवन को ही ज्यादा अभिव्यक्ति मिल पाई। सर्वहारा वर्ग फलक पर आया तो सही लेकिन पूरी तरह नहीं। कुछेक कवियों ने फुटकर तौर पर उन्हें भलें ही स्थान दिया था लेकिन वे अब भी सृजन की मुख्य धूरी नहीं बन पाये थे।

लेकिन प्रगतिशील दौर के रचनाकारों ने अपने उपन्यासों और कहानियों में सिर्फ किसान और मजदूरों के जीवन को ही नहीं प्रस्तुत किया अपितु उन्हें कहानियों का महानायक भी बनाया।यही स्तिथि कमोबेश नयी कहानी के दौर में भी बनी रही।

छायावाद के उत्तर काल का साहित्य जो मार्क्सवाद और साम्यवाद के प्रभाव में थी और जिन्होंने छायावाद के रूमानी प्रभाव से मुक्त होकर यथार्थवाद को वामपंथी नजरिए से कविता में पेश किया।उसमें यह वर्ग खूब दिखा।

नरेंद्र शर्मा, रामेश्वर शुक्ल अंचल, रामविलास शर्मा, शिवमंगल सिंह सुमन, नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, मुक्तिबोध, त्रिलोचन शास्त्री, शंकर शैलेंद्र आदि प्रमुख ऐसे कवि थे जिन्होंने अपनी कविता को शोषित और उत्पीड़ित जनता विशेषतः किसान और मजदूर जनता की तरफ मोड़ा और उनके जीवन को कविता का विषय बनाया।

निराला ने 'कुकुरमुत्ता', 'बेला', और 'नए पत्ते' में किसानों और मजदूरों के मुक्ति के स्वप्न को कविता के माध्यम से सच करने की कोशिश की।

सन 1917 में रूस की बोल्शेविक क्रांति और सोवियत संघ के अस्तित्व में आने के बाद दुनियांभर के कलाकारों और बुद्धिजीवियों को इसने प्रभावित और प्रेरित किया था।

सोवियत यूनियन ने उपनिवेशवाद के खिलाफ संघर्ष को अपना समर्थन दिया। दूसरे विश्व युद्ध के दौरान फाँसीवाद पर सोवियत संघ की लाल सेना की निर्णायक जीत ने दुनिया भर के वामपंथी और

प्रगतिशील ताकतों के हौसले बुलंद किए। इसका असर भारत के लेखकों पर भी पड़ना स्वाभाविक था। पहली बार किसान और मजदूरों के प्रति गहरी सहानुभूति और लगाव की अभिव्यक्ति हुई।और तब शोषण उत्पीड़न से मुक्ति के सामूहिक प्रयासों की जरूरत को रेखांकित ही नहीं किया गया बल्कि यह भी बताया गया कि जनक्रांति इसका एकमात्र रास्ता है।

मुक्तिबोध ने इस संदर्भ में अपनी रचना 'चकमक की चिंगारियां' में रचनाकारों से यह प्रश्न उठाया है की वे इस वर्ग संघर्ष में किस ओर है -

''बशर्ते तय करो,
किस ओर हो तुम, अब
सुनहले उधर्व आसन के
दबाते पक्ष में, अथवा
कहीं उससे लुटी-टूटी
अंधेरी निम्न कक्षा में तुम्हारा मन
कहाँ हो तुम''

1930 के दशक तक जब स्वाधीनता आन्दोलन में किसान - मजदूर जनता की भागीदारी बढ़ने लगी थी,तब छायावाद की प्रासंगिकता भी समाप्त होने लगी थी। पन्त और निराला के काव्य में परिवर्तन के संकेत मिलने लगे।

मजदूरों की दुर्दशा को प्रमुखता से उठाने की परंपरा भारतेंदु युग से ही शुरू हो गई थी। इस काल के रचनाकारों ने भक्ति और श्रृंगार परक साहित्य के साथ-साथ अपने समाज के अधिकतर बड़े और प्रमुख सवालों पर अपनी कलम चलाई। आगे बढ़ती हुई यह प्रवृत्ति मुंशी प्रेमचंद, जयशंकर प्रसाद, सुदर्शन, विश्वंभर नाथ शर्मा कौशिक आदि की कहानियों, उपन्यासों, नाटकों आदि में भी दिखाई देती है।

नागर्जुन ने गरीबी-भुखमरी से पीसते सर्वहारा के आत्म-निर्वासन की प्रक्रिया को तेज करते हुए लिखा है-

''हरिजन गिरिजन नंगे भूखे हम तो डोलें वन में
खुद तुम रेशम साड़ी टाँगें उड़ती फिरो गगन में
महंगाई की सूर्पनखा को ऐसे पाल रही हो
शासन का गोबर जनता पर डाल रही हो''

तब के रचनाकारों ने जहां अपने शब्दों में शोषित वर्ग के प्रति सहृदयता प्रकट किया।वहीं दूसरी ओर शोषक वर्ग के प्रति घृणा व्यक्त की है। शोषक वर्ग में जमींदार उद्योगपति व मालिक आते हैं। यह वर्ग मजदूरों और किसानों के खून पसीने की कमाई से विलासिता और वैभव का जीवन व्यतीत करता है। बेचारे मजदूरों के बच्चों को दूध की बूंद तक नहीं मिलती और पूंजीपतियों के कुत्ते दूध का पान करते हैं। उनकी इस प्रवृत्ति की भर्त्सना करते हुए कवि दिनकर ने कहा था-

''श्वानों को मिलता दूध-वस्त्र, भूखे बालक अकुलाते हैं
माँ की हड्डी से चिपक ठिठुर जाड़ों की रात बिताते हैं
युवती के लज्जा वसन बेच जब ब्याज चुकाए जाते हैं
मालिक जब तेल-फुलेलों पर पानी-सा द्रव्य बहाते हैं''

उधर निराला जी ने 'चोटी की पकड़', 'काले कारनामे' आदि उपन्यासों में मजदूर जीवन दर्शन को प्रस्तुत किया है। प्रेमचंद और निराला के प्रगतिवाद कविता की श्री वृद्धि करने में हिंदी के अनेक कवियों ने अपना योगदान दिया है।

पन्त के 'युगवाणी', 'युगांत', 'ग्राम्या' जैसी कृतियों में मजदूरों का स्वर मुखरित हुआ और उन्होंने एक नये तरह का समाज बनाने का स्वप्न देखा।

कहना अतिशयोक्ति न होगी की आज का सर्वहारा तबके साठोत्तरी साहित्य में भी मुखरित था और प्रसंगवश आज भी विमर्श के केंद्र में है।इस वर्ग ने लेखक वर्ग को सतत ये भान कराया की साहित्य की उपादेयता उसके चित्रण के बगैर अधूरी है। काल मार्क्स ने सर्वहारा के प्रति आमजन में संवेदना की जो अलख जगाई वो आज तक अपने यात्रा-काल में है। यद्यपि तथाकथित संभ्रांत बस्तियों में आज भी वो तिरस्कृत और अपकृत हो पर साहित्य के धुरंधरों ने हमेशा उसे सिरमौर बनाया। जाहिर है सृजन के अनंत सफर तक उसकी जिजीविषा की यात्रा जारी रहेगी। समाज का दर्पण कहलाने वाला साहित्य उसके अभिशप्त छायांकन के बगैर अधूरा है। सर्वहारा जो कल भी मौजू था, आज भी प्रासंगिक है और आने वाले कल में समीचीन बना रहेगा।

मोक्षदायिनी गंगा एक समाजशास्त्रीय अध्ययन

डॉ. दीप माला मिश्रा

सहायक आचार्य समाजशास्त्र

सर्वेश्वरी पी.जी. कालेज, धनुहाँ, चाका, नैनी, प्रयागराज

गंगा भारत की सबसे महत्वपूर्ण नदी है। यह भारत और बांग्लादेश में कुल मिलाकर 2525 किलोमीटर की दूरी तय करती हुई उत्तराखण्ड में हिमालय से लेकर बंगाल की खाड़ी के सुन्दरवन तक विशाल भू-भाग को सींचती है। देश की प्राकृतिक सम्पदा ही नही, जन-जन की भावनात्मक आस्था का आधार भी हैं। इसके तटों पर हरिद्वार, कनखल, प्रयाग एवं काशी जैसे परम् प्रसिद्ध तीर्थ अवस्थित है। भारतीय संस्ककृति में गायत्री, गीता एवं गाय का जो महत्व है, वह समन्वित रूप में 'गंगा' नदी में विद्यमान है। 'गंगा' सब नदियों में श्रेष्ठ नदी है, जिसका उल्लेख ऋग्वेद (10.75.5-6) में तो हुआ ही है, साथ ही महाभारत, रामायण तथा पुराणों में अनेक कथानक जुड़े है। पवित्र पुण्यसलिला नदी को ''त्रिपथगा'' कहा गया है जो स्वर्गलोक, मृत्युलोक तथा पाताललोक को पवित्र करती हुई प्रवाहित होती है। महाभारत (अनुशासन 26/26-103) एवं पुराणों (नारदीय, उत्तरार्ध, अध्याय 38-45 एवं 5111-48, पद्म. 5/60/1-127 अग्नि. अध्याय 110) मत्स्य, अध्याय 180-185 (पद्म. आदिखण्ड, अध्याय 33-37) में गंगा की महत्ता एवं पवित्रीकरण के विषय में सैकड़ों प्रशस्तिजनक श्लोक है। स्कन्द. (काशीखण्ड अध्याय 29/17-168) में गंगा के एक सहस्त्र नामों का उल्लेख है। टेलर ने अपने ग्रन्थ 'प्रिमिटिव कल्चर' (द्वितीय संस्करण, पृ. 477) में लिखा है- जिन्हें हम निर्जीव पदार्थ कहते है, यथा नदियॉ, पत्थर, वृक्ष, अस्त्र-शस्त्र आदि वे जीवित बुद्धिशाली हो उठते हैं, उनसे बातें की जाती है, उन्हें प्रसन्न किया जाता है, और यदि वे हानि पहुँचाते है तो उन्हें दण्डित भी किया जाता है। जैसा कि कहते है कि 'जल ही जीवन है'। जीवित रहने के लिए अत्यन्त आवश्यक है। 'गंगा' हिमालय के उच्च स्थान से निकलकर रास्ते भर के अनेक खनिजो, वनस्पतियों की विशेषताओं को आत्मसात् करती चलती है, तभी उसका पानी 'औषधीय' गुण रखता है। गंगाजल की विशेषता प्रसिद्ध यात्री मेगस्थनीज ने अपने यात्रा वर्णनों में बताया है कि भारत के लोग गंगा की पूजा करते है। यदि कोई सैकड़ों पापकर्म करके गंगा जल का अवसिंचन करता है, तो गंगा-जल उन दुष्कृत्यों को उसी प्रकार जला देता है, जिस प्रकार अग्नि ईधन को कृत युग में सभी स्थल पवित्र थे त्रेता में पुष्कर सबसे अधिक पवित्र था, द्वापर में कुरूक्षेत्र एवं कलियुग में गंगा। जिनका स्मरण मात्र से ही पापी को पवित्र कर देती है, इसे देखने से सौभाग्य प्राप्त होता है, स्नान करते या जल ग्रहण किया जाता है तो सात पीढ़ियों तक कुल पवित्र ही जाता है। विद्ववत जन कहते है कि जब तक किसी मनुष्य की अस्थि गंगा-जल को स्पर्श करती रहती है, तब तक वह स्वर्गलोक मे प्रसन्न रहता है। जीवन काल में गंगा-दर्शन या गंगा स्नान न कर सके तो कोई बात नही पर अंतिम समय दो बूँद गंगाजल मुह में पड़ जाए यही पर्याप्त समझा जाता था और आज भी 'नारदीयपुराण' का कथन है कि गंगा सभी स्थानों में दुर्लभ है, किन्तु तीन स्थनों पर अत्यधिक दुर्लभ है। वह व्यक्ति जो चाहे या अनचाहे गंगा के पास पहॅुच जाता है, और मर

जाता है स्वर्ग, जाता है, और नरक नही देखता है (मत्स्य. 107/4)। कूर्म. (1/39/8) का कथन है, कि गंगा 'वायुपुराण' द्वारा घोषित स्वर्ग, अन्तरिक्ष एवं पृथिवी में स्थित 35 करोड पवित्र स्थलों के बराबर है और वह उनका प्रतिनिधित्व करती है। पद्म. (सृष्टि 60/35) में बताया गया है कि विष्णु सभी देवों का प्रतिनिधित्व करते है और गंगा विष्णु का। अस्थियों से जुड़े कथन जो प्रयाग व काशी तथा अन्य तीर्थों में प्रवाह करने की व्यवस्था से सम्बन्धित है ऐसा अग्निपुराण में आया है- मृत व्यक्ति का कल्याण तभी होता है जब कि उसकी अस्थियॉ 'गंगा' में डाली जाती है जब तक गंगा के जल में अस्थियों का एक भी टुकड़ा भी रहता है जब तक व्यक्ति स्वर्ग में निवास करता है आत्मघातियों, पापियों की अन्त्योष्टि क्रिया नही की जाती किन्तु यदि उनकी अस्थियाँ भी गंगा में रहती है तो उनका कल्याण होता है। स्कन्द. (काशी खण्ड,27/80) में बताया गया है जो लोग 'गंगा' के तटों पर खड़े होकर दूसरे तीर्थ की प्रशंसा करते है या गंगा की प्रशंसा करने या महत्ता गाने में नही संलग्न रहते हैं वे नरक मे जाते है। (तीर्थमन्यत्प्रशंसन्ति गंगातीरे स्थिताश्च ये गंगा न बहु मन्यन्ते ते स्युर्निरयगमिनः।।) विशेष दिनों में स्नान करने से अधिक पुण्यजल भी प्राप्त होते हैं यथा-

दर्शेषतगुणं पुण्यं संक्रान्तौ च सहस्त्रकम।
चन्द्रसूर्यग्रहे लक्षं व्यतीपाते त्वनन्तकम्।।
सोमग्रहः सोमदिने रविवारे रवेर्ग्रहः।
तच्चूडामणिपर्वारव्यं तत्र स्नानमसंख्यकम।।
स्कन्द.(काशीखण्ड, 27/129-131)

जैसा कि उपरोक्त कथनानुसार साधारण दिनों की उपेक्षा अमावस पर स्नान करने से सौ गुना फल प्राप्त होता है, संक्रान्ति पर स्नान करने से सहस्त्र गुना सूर्य या चन्द्र के ग्रहण पर स्नान करने से सौ लाख गुना और सोमवार के दिन चन्द्रग्रहण पर या रविवार के दिन सूर्य ग्रहण पर स्नान करने से असंख्य फल प्राप्त होता है।

यहाँ पर 'गंगा' जी के महत्व पर प्रकाश डालते हुए हम त्रिस्थली- प्रयाग, काशी एवं गया जैसे महान तीर्थों का वर्णन अवश्य आता है क्योंकि इनके बिना गंगा जी की बात हो नही सकती अपनी-अपनी विशेषता के रूप में यह तीर्थस्थल प्रसिद्ध है कहीं मोक्ष है तो कही तर्पण तो कही साधना। प्राचीन रूप देखते हुए हम गंगा को आधुनिक दृष्टि से देखे तो-सदियों से भारतवासियों को जीवनदान देते हुए, संस्कृति का विकास करते हुए तथा उनके तन-मन के कष्टों का निवारण करते हुए पापों को धोते हुए आज की 'गंगा' स्वयं मलिन हो चुकी है। जनसंख्या वृद्धि औद्योगिकीकरण आदि के कारण गंगा अत्यधिक प्रदूषित अवस्था में है। गंगा मईया को प्रदूषण.ुद्धिकरण के लिए नाना प्रकार के योजनाओं को बनाया गया फिर भी पूर्णरूप से शुद्धिकरण नही हो पा रहा है गंगा प्रदूषण की वजह से गंगा में विराजित जलीय जीव-जन्तु का भी हम आत्म हनन कर रहे हैं ये भी उनकी आत्महत्या है, फिर भी परम्पराओं में जीने वो भारतवासी के मन में गंगा पवित्र रूप से संरक्षित है। हमारी सांस्कृतिक धरोहरों की रक्षा करने वाली गंगा-नदी को फिर से भगीरथ प्रयास की आवश्यकता है।

हमारे समाज की सामाजिक समस्याओं आत्महत्या जैसी समस्याएं दिन पर दिन ज्वलन्त होती जा रही है कोई न कोई कारण अवश्य जन्म लेता है और व्यक्ति का तारतम्य न बन पाने से वह अपनी जीवन लीला समाप्त कर लेता है। आत्महत्या के तरीके में सबसे सरल उपाय गंगा जी में छलांग लगाने से है महिला या पुरूष कोई भी इन आसान उपाय को अपना लेते है। जैसा कि प्राचीन काल एवं मध्यकाल के लेखकों के विचारों द्वारा अवगत होता है कि संगम या अक्षयवट के तले आत्महत्या करने से पाप लगता है कि नही ऐसा प्रश्न सामने आता है इसी सन्दर्भ में धर्मशास्त्रीय वचनानुसार आत्महत्या करना पाप है, आप घ. सू. (1/10/28/15-16) हारीत का वचन उदघृत करके कहा है कि महापातक करने के उपरान्त भी प्रायश्चित-स्वरूप आत्महत्या करना अच्छा नही है/

मनु(5/89) एवं याज्ञ. (3/154) ने आत्महत्या को गर्हित ठहराया है और आत्म्हत्योरे की अन्त्येष्टि का निषेध किया है किन्तु स्मृतियो, महाकाव्यों एवं पुराणों में आत्म्हत्या को अपवाद रूप में माना है। धार्मिक दृष्टि से आत्महत्या के उल्लेख से यह ज्ञात होता है कि गंगा में इसलिए भी कूद कर जान देते है, जिससे उन्हें मोक्ष प्राप्त हो जैसा कि उदाहरण स्वरूप आइने-ए अकबरी (ग्लैडविन के अनुसार) अनुदित एवं प्रकाशित 1800 ई. पॉच प्रकार की धार्मिक पुण्यदायिनी आत्म हत्याओं का वर्णन है यथा (1) उपवास करके मर जाना, (2) अपने को करीबों में ढक कर आग लगाकर मर जाना, (3) हिम में गड़कर मर जाना, (4) गंगासागर संगम में डूबे रहकर अपने पापों को गिनते रहना जब तक की ग्राह मगर आकर निगल न जाय एवं (5) गंगा यमुना के संगम पर प्रयाग में अपना गला काट कर मर जाना पद्य. (सृष्टि 60/65) में आया है कि जाने या अनजाने, चाहे या अनचाहे यदि कोई गंगा में मरता है तो वह मरने पर स्वर्ग एवं मोक्ष पाता है। स्कन्धद. (काशी. 22/76) में देखने को मिलता है कि जो इस पवित्र स्थल में किसी प्रकार प्राण त्याग करता है, उनसे आत्महत्या का पाप नही लगता और वह वांछित फल पाता है।

कूर्म. (1/38/3-12) ने चार प्रकार की आत्म हत्या का उल्लेख किया गया है और उससे सहस्त्रों तक स्वर्गलोक का आश्वासन एवं उत्तम फलों की प्राप्ति की ओर संकेत किया है, यथा (1) सूखे उपलों की धीमी अग्नि में अपने को जलाना, (2) गंगा-यमुना के संगम में डूबकर मरना (3) गंगा की धारा में सिर नीचे करें जल पीते हुए पड़े रह कर मर जाना, (4) अपने.ारीर के मांस को काट-काट कर पक्षियों को देना ह्वेन सांग (629-645 ई.) में भी इस धार्मिक आत्म हत्या का उल्लेख किया है, कालान्तर में प्रयाग का काशी में आत्म हत्या करते मर जाने की भावना अन्य तीर्थों तक फैलती गयी वनपर्व (83/146, 147) में पृथदक (पंजाब के कर्नाल जिले में पहोबा) में आत्महत्या की बात चलाई है यद्यपि आत्महत्या पाप है तथापि ब्रम्हपुराण (177/25) ने मोक्ष की आकांक्षा रखने वालों द्विजो को पुरूषोत्म क्षेत्र में आत्महत्या करने को कहा है, कालान्तर में प्रयाग या काशी में आत्म हत्या करने या महाप्रस्थान के विषय में विरक्ति उत्पन्न हो गयी त्रिस्थली सेतु में भी लम्बा विवेचन उपस्थित किया है और निष्कर्ष है कि मोक्ष एवं अन्य फलों (स्वर्ग आदि) की प्राप्ति के लिए प्रयाग में आत्महत्या करना पाप नही है, लेकिन बूढ़े माता-पिता को परित्यक्त कर तथा युवा पत्नि, बच्चों को उनके भाग पर छोड़कर किसी को आत्म हत्या करने का अधिकार नही है, और गर्भवती नारी, छोटे-छोटे बच्चों वाली नारी, तथा बिना पति से अनुमति लिए प्रयाग में आत्महत्या नही कर सकती। अलबेरूनी ने अपने ग्रन्थ (1030 ई. में प्रणीत) में लिखा है कि धार्मिक आत्महत्या तभी की जाती है जब व्यक्ति जीवन से थक जाता है। प्रयाग या काशी में गंगा तट या गंगा में प्रेवेश कर अपना जीवन समाप्त करने के लिए व्यक्ति यह कदम उठाता है कि वह इसलिए भी करता है कि उसे मोक्ष प्राप्त होगा। प्रायः व्यक्ति का जब समाज से सम्बंध टूटने लगता है या सामंजस्य करना कठिन होने लगता है तो ऐसी स्थिति में आत्महत्या की प्रवत्ति जागृति हो जाती है, और व्यक्ति यह कदम उठाता है। यही दृढ़ संकल्प उसके लिए गंगा एवं यमुना में आत्महत्या करने से बढ़कर कौन सा अधिक भद्रमय वातावरण प्रायः हो सकता है। काशीखण्ड में स्पष्ट वर्णन है कि इन नगरों में मोक्ष सीधे रूप में नही प्रतिफलित होता है तथापि ऐसी उक्ति के रहते हुए भी पुराणों के कथनों के.ाब्दिक अर्थ को लेकर सामान्य लोगों के मन में ऐसा विस्वास घर कर गया है कि प्रयाग या काशी क्षेत्र में मरने से मोक्ष फल की प्राप्ति होती है। आज व्यक्ति आपाधापी का जीवन व्ययतीत कर रहा है जहाँ प्राचीन समय में मोक्ष हेतु गंगा जी में प्रवेश करते थे। आज मानव अपनी समस्या का निराकरण हेतु 'गंगा' में छलांग लगाते है। इस वर्ष का आंकड़ा अगर देखा जाय तो पता चलता है कि कितने लोग गंगा में कूद कर जान गंवा रहे है उदाहरणस्वरूप 08.01.2019

श्रीगंगा नगर राजस्थान पेपर में स्पुनवत जतंकमते संजय ने व्यापार में घाटा होने से दैनिक भास्कर 3 सितम्बर 2019 व्दम प्दकपं छमू, बी.सी.ए. छात्रा ने गंगा में छलांग लगाया 3 जून 2019 नव भारत टाइम्स् सी.आर.पी.एफ. के जवान ने गंगा में छलांग लगाई, पारिवारिक कलह से क्षुब्ध होकर लड़की ने गंगा में छलांग लगाई, इसी प्रकार के ढेरों खबर पत्रिाकाओं अखबार आदि के माध्यम से प्राप्त होते है पहले और अब की स्थिति में परिवर्तन हो गये हैं।

आज की चकाचौंध जीवन स्तर से जब मानव एकीकरण नही कर पाता है तब वह मृत्यु को तलाशने लगता है वह अपनी परिस्थितियों से जूझने के बजाय वह मरना श्रेयस्कर समझता है क्यों कि आज मनुष्य के अन्दर धैर्यशीलता नहीं रह गयी है, भौतिकवादी जीवन में मानव अपने आप को बचा नही पा रहा है वह तनाव एवं अवसाद ग्रस्त की स्थिति से पीड़ीत रहने लगता है ऐसी स्थिति में यह कदम उठा लेता है इस पावन नदी में स्नान करने से लोग धन्य होते है। पवित्रा व शुद्धिकरण के लिए आधुनिक रूप में गंगा जी का महत्व आज भी उतना ही है जितना प्राचीन समय में लेकिन आज वातावरण गंगा जी को मैला करने में लगा है फिर भी गंगा मैया अपनी पवित्रता शीतलता बनाये हुए है और सभी को तारती हैं सभी कष्टों को दूर करती है ऐसी पावन मैया को शत-शत नमन है 'गंगा माता है' जो जीवन से मृत्यु तक मनुष्य का साथ देती है। ब्रज भाषा के रसखान कवि कहते है-

वैद की औषधि खाऊ कछु।
न करौ व्रत संजमरी, सुन मोसे।।
तेरी इ पानी पियौ रसखानि।
संजीवन लाभ लहौ सुख तोसे।।

अर्थात् न तो मैं कोई वैद्य द्वारा बतायी गयी औषधि का सेवन करता हूँ न कोई व्रत या संयम मानता हूँ, यह बात मै तुझसे सत्य कहता हूँ कि तेरा जल पीता हूँ एवं संजीवन बूटी के सेवन के समान फल निरन्तर प्राप्त करता रहता हूँ।

सन्दर्भ सूचीः-

1. ऋग्वेद (10.75.5-6) में।
2. महाभारत (अनुशासन 26/26-103)।
3. नारदीय, उत्तरार्ध, अध्याय 38-45 एवं 5111-48, पद्य. 5/60/1-127।
4. मत्स्य, अध्याय 180-185य पद्य. आदिखण्ड, अध्याय 33-37।
5. पद्य. आदिखण्ड, अध्याय 33-37।
6. स्कन्द. (काशीखण्ड अध्याय 29/17-168।
7. टेलर ने अपने ग्रन्थ 'प्रिमिटिव कल्चर' (द्वितीय संस्करण, पृ. 477)
8. आप घ.सू. (1/10/28/15-16)।
9. मनु(5/89) एवं याज्ञ. (3/154)।
10. 3 जून 2019 नव भारत टाइम्स्।
11. वनपर्व (83/146, 147) में पृथदक।
12. कूर्म. (1/38/3-12)।

आतोद्य

सेनिया घराना

प्रो. रश्मि दीक्षित

संगीत एवं प्रदर्शन, कला विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज

''घराना'' शब्द संस्कृत के गृह शब्द से बना है, जो कि घर का भाव वाचक है। आम बोलचाल की भाषा में 'घराना' शब्द का अर्थ वंश या कुल से लिया जाता है। संगीत में घराने से तात्पर्य किसी विशिष्ट गुरू परम्परा से है। घराना एक विशिष्ट शैली का सूचक है और यह शैली जिस कलाकार द्वारा प्रवर्तित होती है, उसे उसका संस्थापक माना जाता है और फिर उसी कलाकार के नाम अथवा स्थान से घराने का नामकरण हो जाता है। शिष्य समुदाय इस परम्परा को आगे बढ़ाते हैं। गुरू शिष्य परम्परा से विद्या अध्ययन की यह परम्परा भारतवर्ष में प्राचीन काल से चली आ रही है।[1]

वन्दना चौबे के अनुसार ''घराना गुरू शिष्य से बनता है। विद्यादान करने वाले गुरू व प्रतिभाशाली शिष्य के होने पर ही घराने का जन्म होता है।'' श्री रमण लाल मेहता के अनुसार ''कलाओं में जब परिपक्वता आ जाती है तो वही परिपक्वता विशिष्ट शैलियों को जन्म देती है। भारतीय संगीत में ऐसी ही शैलियों ने घराना या परम्परा का रूप प्राप्त किया है।''[2]

''एक तरह से घराना ही हमारा मार्गदर्शक अथवा पथ प्रदर्श है, जो हमारे संगीत के संचित ज्ञान की रक्षा करता है। साधारण रूप से घराना शब्द का अर्थ है- वर्ग, सम्प्रदाय, परिवार, कुटुम्ब, परम्परा आदि । जबकि 'व्यावहारिक अर्थ है-रीति, पद्धति, स्टाइल आदि। लेकिन शाब्दिक अर्थ के रूप भी घर शब्द का अर्थ ही-वंश और घराना शब्द का अर्थ वंश वैशिष्ट्य।''[3]

सितार के विभिन्न घराने

वादकों की कम से कम 3 या 4 पीढ़ियों के बाद ही किसी घराने का जन्म हो सकता है।

वर्तमान काल में भारत में सितार वादन के निम्नलिखित 5 महत्वपूर्ण घराने हैं-[4]

1. सेनिया घराने
2. इटावा घराने/गौरीपुर घराने
3. मैहर घराने
4. इन्दौर घराने
5. विष्णुपुर घराने

इसके अतिरिक्त भी अन्य घराने माने गये हैं-

1. दिल्ली घराने
2. लखनऊ घराने
3. जयपुर घराने
4. विलास खाँ के घराने
5. दरभंगा घराने
6. किराना घराने और मथुरा घराने

सेनिया घराना-

सेनिया घराने का इतिहास 18वीं शताब्दी से आरम्भ होता है। मियां तानसेन के वंशज ही सेनिया के नाम से विख्यात हुए। मियां तानसेन के पुत्र सूरतसेन के वंशज विख्यात सितारिए मसीत खां के वंशज जयपुर में जाकर रहने लगे।[5] वही पर ये लोग सेनिया वंश के रूप में जाने गए। जयपुर के सेनिया घराने के प्रमुख कलाकारों ने सितार वाद्य को अपनाया। जयपुर घराने में विख्यात मसीतखानी बाज को ही सेनिया बाज के नाम से जाना गया। 18वीं शताब्दी में सेनिया घराने के प्रमुख सितार वादकों में जैसे-

रहीम सेन, अमृत सेन, अमीर खाँ, मसीत खाँ, दूल्हे खाँ बहादुर खाँ और हुसैन खाँ इत्यादि के नाम विशेष रूप प्रसिद्ध है। इन्ही सितार वादकों की वादन पद्धति को सेनिया बाज की संज्ञा दी गई है।

उत्तर भारतीय संगीत को तानसेन तथा उनके वंशजों की बहुत बड़ी देन है। वे स्वयं तो उच्चकोटि के संगीतज्ञ थे, किन्तु आगे चलकर उनके वंशजों में उच्चकोटि के तन्त्रकार हुए।[6]

सेनिया घराने के सन्दर्भ में तानसेन के पुत्र वंश के अमश्तसेन का नाम प्रमुखता से आता है। जिन्होंने न केवल सेनिया घराने की परम्परा का पुनः स्थापित करते हुए, अधिकाधिक प्रचार प्रसार ही किया बल्कि सितार की परम्परागत शैली एवं विकास को भी नई दिशा दी।

''पं. सुदर्शनाचार्य जो कि सेनिया घराने के सितार वादक थे तथा अमृतसेन के शिष्य थे। आपके तानसेन से लेकर अमृतसेन तक की 23 पीढ़ी का वर्णन इस प्रकार किया।[7]

तानसेन तानतरंग खाँ, सूरजसेन सुफलसेन, झंडेसेन, सुभागसेन, सूरतसेन, दयालसेन, कृपालसेन, निहालसेन, ख्यालसेन, कृपालसेन, खुशालसेन, अद्‌भुत सेन, बालसेन, रूपसेन, निहालसेन, लालसेन, फाजिलसेन, मुरादसेन, सुखसेन, रहीमसेन अमृतसेन।

सेनिया घराना और तानसेन की वंश परम्परा में सबसे पहले तानसेन की परम्परा में सबसे पहले तानसेन के पुत्रों की चर्चा आवश्यक है। प्राप्त विवरण ों के अनुसार तानसेन के चार पुत्र थे। जिनमें तीन नाम तो स्पष्ट रूप से मिलते है- (1) तानतरंग खाँ, (2) सूरत सेन, (3) विलास खाँ

कुछ अन्य पुत्रों के बारे में भी विवरण प्राप्त होता है, जिनमें शरतसेन हमीरसेन का नाम सर्वप्रथम आता है। 18वीं शताब्दी में फारसी लेख ''फकीरूल्लाह'' ने रागदर्पण में तानसेन की वंश परम्परा का उल्लेख किया है।[8]

सेनिया घराने की परम्परा जो मियां तानसेन के समय से आरम्भ होकर, उत्तर मध्यकाल में अमृतसेन द्वारा पुर्नस्थापित होकर पुष्पित, पल्लवित हुआ और जिसके वंशजों एवं शिष्यों द्वारा पूरे देश में नये घरानों के रूप में स्थापित हुआ इस घराने की वंशावली इस प्रकार निर्धारित होती है।[9]

सेनिया घराने (तानसेन वंशावली) (क)

(मकरंद या मुकुन्द पाण्डे) हरिदास के शिष्य रामतनु पाण्डे या मोहम्मद अता अली खाँ या तानसेन (1505-1585) प्रेम कुमारी या हुसैन ब्राह्मणी (1480-1585)

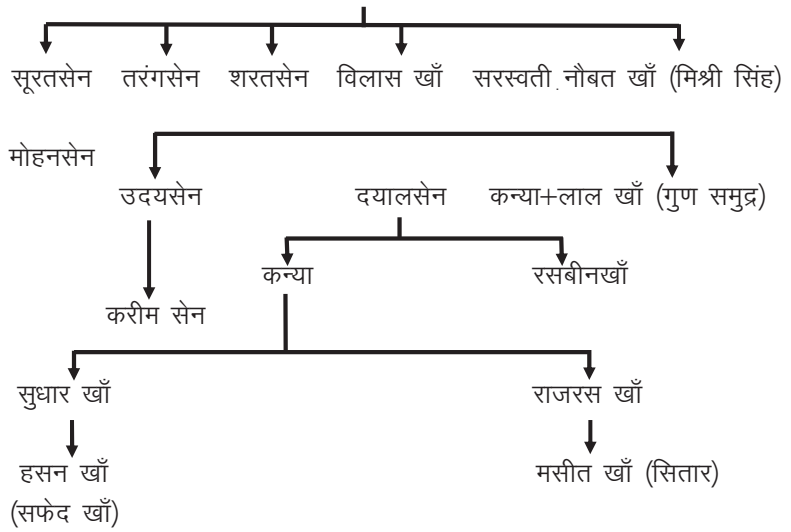

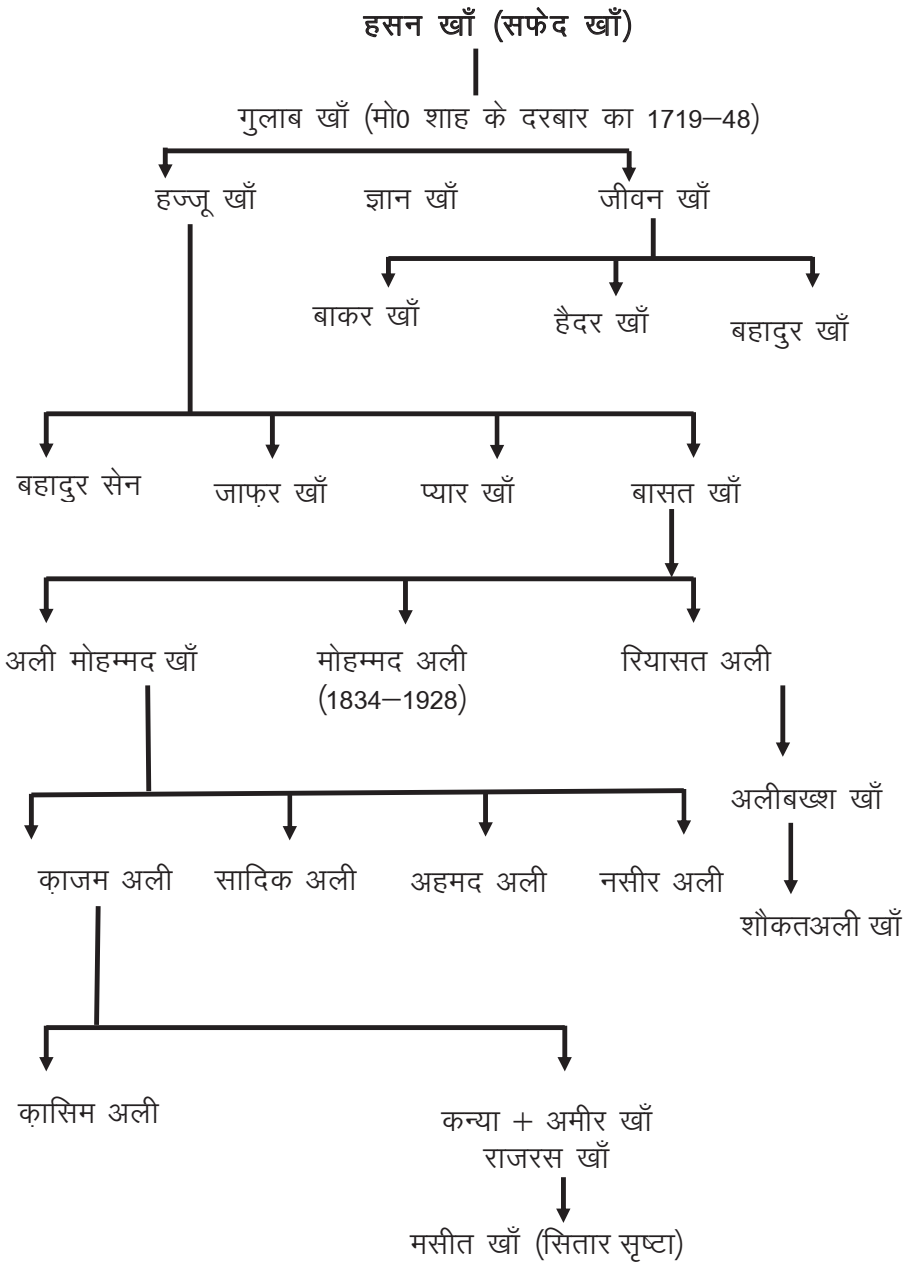
हसन खाँ (सफेद खाँ)
गुलाब खाँ (मो0 शाह के दरबार का 1719–48)
हज्जू खाँ
ज्ञान खाँ
जीवन खाँ
बाकर खाँ
हैदर खाँ
बहादुर खाँ
बहादुर सेन
जाफ़र खाँ
प्यार खाँ
बासत खाँ
अली मोहम्मद खाँ
मोहम्मद अली
(1834–1928)
रियासत अली
अलीबख्श खाँ
क़ाजम अली
सादिक अली
अहमद अली
नसीर अली
शौकतअली खाँ
क़ासिम अली
कन्या + अमीर खाँ
राजरस खाँ
मसीत खाँ (सितार सृष्टा)

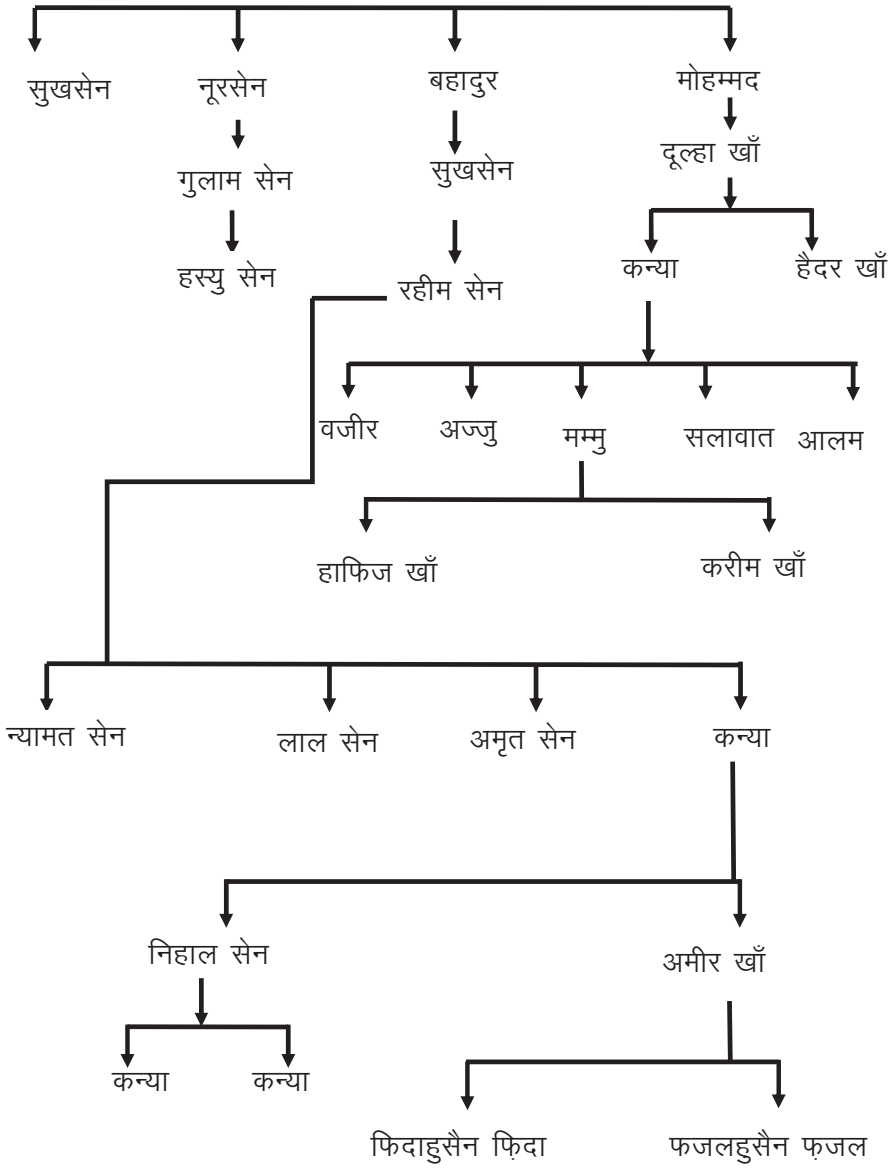

सेनिया घराने की वादन शैलीगत एवं विशेषताएं-

रहीम सेन अपने समय के प्रख्यात सितार वादक थे। ये तानसेन के पुत्रा वंश के प्रथम सितार वादक थे। रहीम सेन तानसेन के पुत्र वंशीय विलास खाँ के वंशज मियां सुखसेन के पुत्र थे। आरम्भ में इन्होंने ध्रुपद गायन की शिक्षा अपने पिता द्वारा ही ली किन्तु उनके आकस्मिक निधन के पश्चात् इन्होंने अपने ससुर दुल्हे खाँ से सितार वादन की शिक्षा लेना आरम्भ की। रहीमसेन के काल तक सितार

को कोई विशेष प्राप्त नहीं थी। इन्होंने कड़े परिश्रम से सितार वाद्य पर आसाधारण श्रेष्ठता हासिल की। इन्होंने अपने सितार वादन में मिजराब के बोलों का अत्याधिक चमत्कार पूर्ण प्रयोग किया। इनके सितार वादन की एक अन्य विशेषता इनके द्वारा प्रयोग की गई लयकारियाँ भी थीं। इन्होंने सितार पर ठोंक-बाज की भी शुरूआत की। रहीम सेन द्व ारा रचित अनेक बंदिशें नगमाए सितार, तहसील-उल-सितार संगीत सुदर्शन, स्वरताल समूह एवम् मोअल्लमें में सितार पुस्तकों में दी हुई है। रहीम सेन द्वारा रचित गतों की एक प्रमुख विशेषता ये है कि ये सभी गतें प्रायः दो आवर्तन की है।[10] जबकि तत्पश्चात् अधिकांश बंदिशे गतें एक आवर्तन की होती थी।

जैसे- मियां रहीम सेन द्वारा रचित गत।

इस प्रकार माने गये है-

रहीम सेन जी के काल में गतवादन के कार्य में बाएं हाथ का कार्य प्रारम्भ हो गया था। इस दो आवर्तन की गत में स्वरों का प्रयोग तत्पश्चात् विख्यात् रागानुसार ही लिया गया है।

इस घराने की शुरूआत तानसेन की द्वितीय पुत्र सूरतसेन जी से आरम्भ होता है। सूरतसेन के वंशज रहीमसेन माने जाते थे। उनके दो पुत्र हुए। अमृत सेन और निहालसेन। अमृतसेन उच्चकोटि के सितार माने जाते थे।

"Rahim Sen's Son Amrit Sen was an Outstanding Sitar Player."[11]

अमृसेन का जन्म सन् 1813 में जयपुर में हुआ। ये अपने पिता के समान ही सितार के प्रकाण्ड पण्डित थे। अमृतसेन ने सितार के बाज में ध्रुपद, ख्याल और बीन की मुख्य विशेषताओं को लोगों के सामने समाविष्ट किया। आपने सितार में फिकरे बन्दी के आधार गत बजाने की प्रथा को स्थापित किया और गत के विभिन्न बोलों को अलग लय में प्रस्तुत कर उनके मध्य छोटे-छोटे लयकारियाँ बजाकर सितार वादन में नवीन शैली के शुरूआत की। आपने सितार पर बजाई जाने वाली अनेक गतों की रचना की।[12]

इनके शिष्यों में सुरजन सिंह, 30 तुराब खाँ एवं साहबदाद खाँ जी हुए। साहबदाद खाँ जी के शिष्य इमदाद खाँ हुए। इन्होंने अपने सितार वादन में ज्यादा नाम कमाया। इमदाद खाँ ने सितार वादन की प्रौद्योगिकी में अमिट छाप छोड़ दी जिससे आज तक उनकी शैली को विशिष्टतया इमदाद खाँ बाज कहा जाने लगा है। इस बाज के साथ ही दे-दा-दे के बोल प्रचार में आने लगे। इनके समय के विख्यात संगीतज्ञ बरकत उल्ला खाँ जी ने रूढ़िगत बाज को कायम रखते हुए सितार के बोलों पर विशेष महत्वपूर्ण जोर दिया। ''इन्होंने सितार पर तोड़ों का विस्तार किया। 'स्वरों तथा बोलों के व्यवस्थित मिश्रण को तोड़ो का नाम दिया। इमदाद खाँ के पुत्र इनायत खाँ हुए इनायत खाँ का जन्म 1895 में ग्वालियर में हुआ था। ये एक कुशल सितार वादक थे। इन्होंने सितार को लोकप्रिय बनाने में काफी योगदान दिया है इनायत खाँ को ज्यादा यमन, खमाज, भैरवी, पीलू, बिहाग, काफी, बागेश्री, जौनपुरी और मुलतानी आदि रागों पर पूर्ण अधिकार प्राप्त था। इनायत खाँ ने गायकी को प्रमुख रखकर इस बाज में सुधार किया। आपकी शैली बंदिश पर आधारित थी। जिसमें स्वरों तथा बोलों की निश्चित व्यवस्था थी। सितार पर तिहाई शुरू करने का श्रेय भी इन्हीं को जाता है।[13] इनायत खाँ के पुत्र उ. विलायत खाँ एवं इमरत खाँ हिन्दूस्तान के सर्वविख्यात सितार वादक माने जाते है।

आशिक अली खाँ सेनिया घराने के विख्यात उ. धुन्दु खाँ जी का नाम संगीत जगत इतिहास में मुख्य रूप से सराहनीय हैं। उ. आशिक अली खाँ इन्हीं के घराने के वंशज माने जाते थे। उ. आशिक अली खाँ जी ने सर्वप्रथम गायन की शिक्षा ली एवं बाद में सितार वाद्य बजाना शुरू कर दिया। उ. आशिक अली खाँ के सितार में गायकी अंग का मिश्रण साथ-साथ महत्वपूर्ण रूप से दिखाई पड़ता है।

उ. आशिक अली खाँ के विलंबित गतशैली का विशेषज्ञ माना गया हैं। इन्होंने अपने सितार वादन में आलाप, जोड़ और विलंबित क्रिया को प्रधानता दी। आशिक अली खाँ के शिष्यों में उनके

एकमात्र पुत्र उ. मु. अली खाँ के अतिरिक्त अमीय गोपाल भट्टाचार्य आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।[14]

उ. आशिक अली खाँ द्वारा रचित गत इस प्रकार है-

''राग यमन ताल तीन ताल''[15]

1 2 3 4	5 6 7 8	9 10 11 12	13 14 15 16
स्थाई -			
		मंधनीसां	नी धध प मं ग मं ध
		दिर	दा दिर दा रा
नी ध पणंपप	मं रेंरेग गंम पंम	प्पगरे नी रे सा	
दा दा रा दिर	दा दिर दा रा	दा दा रा	
×	2	0	3

इस गत का बोल रजाखानी गत् शैली में किया गया है। बन्दिश 7 वी मात्रा से प्रारम्भ होती है। और दिर दा रदा-रदा दिर दा दिर दा रा बोलों से मुखड़े को संवारा गया है। बंदिश का सम तार 'सा' पर है।

वर्तमान काल में सेनिया घराने के सुप्रसिद्ध सितार वादक-

वर्तमान काल में सेनिया घराने के सुप्रसिद्ध पद्मभूषण से अलंकृत सितारवादक प्रो. देवव्रत चौधरी जी हैं। इन्होंने सितार की प्रारम्भिक शिक्षा स्व. पाँचू गोपालदत्त से ग्रहण की। आपने घराने की मुख्य विशेषता और 17 परदे पर सितार वादन की पैतृक को ही कायम रखा। उनका मानना है कि मैंने उ. मुश्ताक अली खाँ को वचन दिया था कि उनकी परम्परा (सम्पत्ति) का पालन करूंगा और 17 पर्दों का सितार बजाऊँगा।

''प्रो. चौधरी का यह कहना कि मेरे गुरू ने वही वचन अपने पिता उस्ताद आशिक अली खाँ को दिया और उस्ताद आशिक अली खाँ ने अपने उस्ताद बरकतउल्ला खाँ साहब को दिया। इस प्रकार यह परम्परा चली आ रही है। प्रो. देबू चौधरी के सितार वादन में कलात्मकता लय और शालीनता का हृदयग्राही समन्वय देखने को मिलता है। आपने 7 नवीन रागों की रचना की है। जैसे- विश्वेश्वरी, पलास-सारंग, अनुरंजनी, स्वरनन्देश्वरी, कल्याणी, विलावल, शिवमंजरी, आशिकी, ललित आदि। आपने अपने दादा गुरू उस्ताद आशिक अली खाँ की श्रद्धांजलि देने हेतु आशिकी-ललित की रचना की।''[16] देबू चौधरी जी एक ही तूम्बे के सितार पर वादन करते रहते है एवं उनकी सितार 17 पर्दों की होती है। इनके सितार में 13 तरबों का प्रयोग, जिन्हें रागानुसार मिलाया गया है। ये उनकी अपनी अन्वेषण है।

सेनिया घराने के प्रमुख कलाकार[17]-

''सेनिया घराने के प्रमुख कलाकार निम्नलिखित है''-

1. फिरोज खाँ
2. रहीम सेन
3. दूल्हे खाँ
4. मसीत खाँ
5. अमृतसेन
6. अमीर खाँ
7. बहादुर खाँ
8. हुसैन खाँ
9. निहाल सेन
10. बरकत उल्ला खाँ
11. आशिक अली खाँ
12. उ. मुश्ताक अली खाँ
13. प्रो. देवव्रत चौधरी इत्यादि माने जाते है।

शोध का उद्देश्य

सितार वादन के सेनिया घराने का इतिहास 18वीं शताब्दी से माना गया है। तानसेन के वंशजों से ही सेनिया घरानों का जन्म हुआ, 18वीं शताब्दी सेनिया घराने के प्रमुख सितार वादन निम्नलिखित कलाकार इस प्रकार है-

1. रहीमसेन
2. अमृतसेन
3. अमीर खां
4. दूल्हे खां
5. हुसैन खां आदि नाम सर्वश्रेष्ठ रूप से विख्यात है।

सितार वादन के विभिन्न घरानों सेनिया घराने के कलाकारों की वादन शैली एवं घराना के प्रति लगाव तभी मैंने अपने मन में ठान लिया कि मुझे सेनिया घराने के विषय में गहन शोध कार्य करके नई दिशाओं की ओर अग्रसित होना, अर्थात् नई-नई तथ्यों को खोजकर समाज के सम्मुख लाना है।

यही मेरे शोध कार्य का उद्देश्य है। इस तरह अपनी शोध कार्य में छोटे-बड़े कलाकारों के ऑडियो, वीडियो, सी.डी. पत्र-पत्रिकाएं के माध्यम से शोध कार्य में नवीन रूप देने का भरसक प्रयास किया। जिसके अन्तर्गत शोध (research) कार्य सराहनीय हो।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. **वादन संगीत का शास्त्रीय परिप्रेक्ष्य :** नवजोत कसेल, कनिष्क पब्लिशर्स, नई दिल्ली
2. **सेनिया घराने और सितार वादन शैली** : वीणा जैन, कनिष्क पब्लिशर्स, नई दिल्ली
3. **जहान-ए-सितार** : वी.एस. सुदीप राय, कनिष्क पब्लिशर्स, नई दिल्ली
4. **स्वतंत्रोत्तर काल में सितार वादन की परंपरा एवं घराना रश्मि गुप्ता** : टी.एन. भार्गव एंड सन्स
5. **सितार वादन प्रविधि एवं शैली संग्रह** : नैन्सी श्रीवास्तव, कनिष्क पब्लिकेशन नई दिल्ली
6. **भारतीय संगीत के प्रमुख तन्त्री वाद्य सितार/सरोद :** अलका नागपाल, अंकित पब्लिकेशन दिल्ली
7. **मैहर घराने की संगीत परम्परा** : संजय कुमार, कनिष्क पब्लिकेशन नई दिल्ली

फुटनोट

[1] कसेल नवजोत वादन संगीत का शास्त्रीय परिप्रेक्ष्य, पृ. सं.-58

[2] कसेल नवजोत वादन संगीत का शास्त्रीय परिप्रेक्ष्य, पृ. सं.-59

[3] जैनवीणा एवं सेनिया घराने एवं सितार वादन शैली पृ. सं.-1

[4] राय वी.एस. सुदीप, जहान-ए-सितार पृ. सं.-101

[5] राय वी.एस. सुदीप, जहान-ए- सितार पृ. सं.- 102

[6] कसेल नवजोत,वादन संगीत का शास्त्रीय पक्ष, पृ. सं.-58

[7] गुप्ता रश्मि, स्वतन्त्रोत्तरकाल में सितार वादन की परम्परा एवं घराना पृ. सं.-229

[8] गुप्ता रश्मि, स्वतंन्त्रोत्तर काल में सितार वादन की परम्परा एवं घराना, पृ. सं.-229

[9] गुप्ता रश्मि, स्वतंन्त्रोत्तर काल में सितार वादन की परम्परा एवं घराना, पृ. सं.-230

[10] राय वी.एस. सुदीप जहान-ए-सितार पृ.सं.-104

[11] कसेल नवजोत, वादन संगीत का शास्त्रीय परिप्रेक्ष्य पृ.सं.-63

[12] कसेल नवजोत, वादन संगीत का शास्त्रीय परिप्रेक्ष्य, पृ.सं.-64

[13] कसेल नवजोत, वादन संगीत का शास्त्रीय पृ.सं.-64

[14] कसेल नवजोत, वादन संगीत का शास्त्रीय परिप्रेक्ष्य पृ.सं.-65

[15] राय वी.एस. सुदीप, जहान-ए-सितार - पृ.सं.-118

[16] कसेल नवजोत वादन संगीत का शास्त्रीय परिप्रेक्ष्य पृ. सं. 66

[17] राय वी.एस. सुदीप जहान-ए-सितार पृ. सं.-102-125

An Overview of Tāla-s Seen in Samskṛta Treatises

Dr. R.Hemalatha
Assistant Professor
Department of Indian Music
University of Madras
Chepauk, Chennai

Bhavana Prabhakaran
Ph.D. Research Scholar
Department of Indian Music
University of Madras
Chepauk, Chennai

Introduction

'Tāla' is that element of South Indian Music within which the melody is arranged with respect to time. The temporal aspect of the music is maintained by the tāla. The tāla is constituted of one or more parts that are reckoned by various hand movements. While singing, the hand movements occur sequentially at uniform intervals and repeat cyclically, displaying the manner in which the melodic structure is arranged within the rhythmic structure. Each part of the tāla has its unique duration, and accordingly accommodates a unique number of musical notes or syllables of the lyrics. Thus, various permutations and combinations of the parts give rise to a huge variety of tāla-s, which has been one of the unique features of South Indian music over the centuries. Details related to tāla have been documented in treatises written at different points of time, along with those musical forms that were in vogue during the respective periods.

Scope of the Study

In this article, the treatises called Lakṣaṇa Grantha-s, which are written in the Samskṛta language, have been taken up for studying the introductory details related to tāla. The variety of definitions and interpretations given to the term 'Tāla' in various grantha-s is studied. All the technical terms used here, like Tāla, Gīti, Lakṣaṇa etc. are in Samskṛta language, unless mentioned otherwise.

Introduction to the Chapter on Tāla in Various Treatises

1 Nāyaśāstra

The 1st century grantha Nāṭyaśāstra written by Bharatamuni describes the word Tāla as below:

Ch.31 tālō ghana iti prōkta kalāpātalayānvita
Verse 1 kalāstasya pramāṇam vai vigñēyam tālayōktṛbhiḥ

The meaning of this verse is as follows. "The [instrument named] Tāla is of the 'solid' class (ghana) and it relates

to a division into Kalā-s (kalāpāta) and to an observation of the tempo (laya). Those who apply Tāla-s in a musical performance should know kalā-s to be the measure of time (tāla)." "This word comes from 'tala' (the palm of the hand), and primarily refers to the beating of time by the clapping of hands."

2 Dattilam

The 2nd century grantha Dattilam written by Dattilamuni has the section on Tāla beginning with the following description.

Verse 109 tālāt sāmyam bhavēt sāmyādiha siddhiḥ paratra ca

The literal meaning of this verse is: "Uniformity may arise from the tāla, and from the uniformity success may be achieved here and elsewhere." It looks like the author means that a melody sung or played along with the uniform cyclic repetition of the tāla brings about a sort of balance and composure, not only to the composition, but also to the mind of the singer.

3. Mānasōllāsa

In the 12th century treatise Mānasōllāsa of King Sōmēśvara, the chapter 'Vinōda Vimśati' describes the various aspects of music and instruments in the sections 'Gīta Vinōda' and 'Vādya Vinōda' respectively. The section on Tāla is nested within the Vādya Vinōda section, with no separate title. The introductory verses on Tāla seem to carry a sort of dual meaning, making it an enjoyable read. That is, in verses 829 to 835, the method of manufacture of the percussion instrument called 'tāla' of the 'ghana' type is explained. The verses 836 to 839 seem to refer to the instrument 'tāla' as well as to the tāla that is reckoned by the hand. This re-emphasises the words of Bharatamuni in Nāṭyaśāstra, that the hand-reckoned tāla is considered to be a ghana instrument. The subsequent verses 840 to 888 are dedicated to the hand-reckoned tāla. The smooth transition of the verses is illustrated in the table below.

Verse 835	vinyasyōpari tarjanyā aṅguṣṭhāgrēṇa pīḍayēt tēna tālāgrabhāgēna madhyē tālam prapīḍayēt This verse describes how the thumb, index finger and the palm of the hand are to be struck on the rim and middle part of the instrument.
Verse 836	vādayēdvividhairmaanair-laghudrutaguruplutaiḥ sāvadhānaḥ dṛḍhamatiḥ kalpanāpātakōvidaḥ This verse directs the artist to play the instrument with strokes of varying durations like laghu, druta, guru and pluta with alertness, determination and creativity.
Verse 837	tālamānapragalbhaiśca śrēṣṭhastāladharaḥ smṛtaḥ na tālēna vinā gītam na vādyam tālavarjitam Here the first line asserts that one must be adept at temporal calculations, in order to be known as a great 'tāla' artist. The second line means 'There is no such song or instrument that is devoid of tāla'. Here the meaning of the word tāla smoothly shifts from instrument to hand-reckoning.

	na nṛtyam tālahīnam syādatastālōtra kāraṇam gītam vādyam tathā nṛtyam tritayam yēna labhyatē tēna tāla iti khyātaḥ sōmēśvaramahībhujā
Verses 838 & 839	caturasrāstathā tryasrā miśrāḥ khaṇḍāḥ bhavanti hi These verses mean that there is no dance without tāla, and that all three entities namely song, instrument and dance are all established by the tāla. The various modes of the hand-reckoned tāla are just mentioned, namely caturaśra, tryasra, miśra and khaṇḍa.

4. Saṅgītaratnākara

The 13th century treatise Saṅgītaratnākara of Śārṅgadēva begins the fifth chapter called Tālādhyāya with the following invocation to Lord Śiva.

Ch.5 Verse 1	nānāmārgairlayō yatra yatīnām syāt kalānidhau tam dakṣiṇam śivam naumi citram vṛttimayam dhruvam

This verse has been composed using jargon related to tāla, which also lend meaning as various adjectives for Lord Śiva. The term 'Tāla' is described in the subsequent verse as below.

Ch.5 Verse 2	tālastalapratiṣṭhāyāmiti dhātōrghañi smṛtaḥ gītam vādyam tathā nṛtyam yatastālē pratiṣṭhitam

The commentary 'Kalānidhi' of Kallinātha on Saṅgītaratnākara gives the following explanation for the above verse, with a reference to the Pāṇinī sutrā-s 3-3-16 and 3-3-19.

"The word 'Tāla' is derived from 'tala', meaning the palm of the hand, from which the tāla originates. The word is used in the context of continuation, repetition and counting."

The commentary 'Saṅgītasudhākara' of Simhabhūpāla gives the following explanation for the above verse.

"The word 'Tāla' is derived from 'tala', by the process of 'ādivṛddhi'. Tāla is that which is struck using the palms, and that in which the song, instrument and dance are explained or discussed."

5. Tāladīpikā

The 15th century grantha 'Tāladīpikā' of Sāluvā Gōpa Tippēndra Bhūmipāla begins in line with the explanation in Nāṭyaśāstra (Ch.31 Verse 1) mentioned above.

Ch. 1, Line 1	tālō ghana iti prōktaḥ kalāpātalayānvitaḥ

In both these works, although the tāla is reckoned by the human hand without any external instruments, it is perceived as an instrument in itself, played along with a melody, and that serves to keep time for the composition, similar to a metronome.

Now the treatises which seem to have a chapter on Tāla but are not available are taken up. These treatises have information on tāla in their other chapters. In the process of explaining musical forms and their variety, these grantha-s provide details of tāla-s also. The grantha-s Bṛhaddēśī and Caturdaṇḍī Prakāśikā are taken up for this study.

Grantha-s with Missing Tāla Chapters

1 Bṛhaddēśī

In the 9th century grantha Bṛhaddēśī written by Mataṅgamuni, even though the chapter dedicated to Tāla is not available, the chapters about the musical forms called Gītī-s and Prabandha-s give some information about tāla-s. The 'Gīti' chapter mentions the names of a number of gīti-s, and also the tempo in which each is to be sung. The tempo is called as 'Mārga' and is of four types namely 'Dhruva', 'Citra', 'Vārtika' and 'Dakṣiṇa'. As an illustration, the verses that mention about the mārga and kalā for three gīti-s are given below.

Verse 175	citrē caikakalē tālē vigñēyā gītirmāgadhī vārtikē dvikalā gñēyā gītiḥ sambhāvitā budhaiḥ
Verse 176	dakṣiṇē pṛthulā gītistālairgṇēyā catuṣkalē anēnaiva vidhānēna gātavyā gītayō budhaiḥ

By these verses, it is meant, "The 'Māgadhī' gīti is sung with the tāla in citra mārga in one kalā. The tāla for the 'Sambhāvitā' gīti is in the vārtika mārga and two kalā-s. The 'Pṛthulā' gīti is sung with the tāla in dakṣiṇa mārga and four kalā-s. These gīti-s are to be sung by scholars with this tāla arrangement only."

The 'Prabandha' chapter lists forty eight names of prabandha-s. The 'Dēśī tāla' in which each prabandha is sung is also mentioned in the subsequent verses. As an illustration, the verse that mentions that the 'Gajalīlā' prabandha is sung with the 'Gajalīlā' tāla is given below.

Verse 413	gajalīlākṛtam sarvam tālōpi gajalīlakaḥ kriyatē yatra sā gñēyā gajalīlēti nāmataḥ

2. Caturdaṇḍ Prakāśikā

The 17th century treatise Caturdaṇḍī Prakāśikā written by Vēṅkaṭamakhī throws light on tāla-s through its chapters on various musical forms, even though the chapter on Tāla is unavailable. In the third chapter called 'Svara Prakaraṇa', the eight alaṅkāra-s are listed along with their corresponding tāla-s namely Jhōmpaṭa, Dhruva, Maṭhya, Rūpaka, Jhampā, Tripuṭa, Aṭha and Ēka. As an illustration, the verse that describes the Rūpaka alaṅkāra is shown below.

Ch.3 Verse 95	baddhō rūpakatālēna rūpakaḥ parikīrtitaḥ aadau drutō laghuḥ paścāttālē rūpakanāmakē
Ch.3 Verse 96	tēna rūpakanāmāyam vigñātavyaḥ ṣaḍakṣaraḥ sari, sarigama; riga, rigamapa.

In these verses, the Rūpaka alaṅkāra is said to be bound to the Rūpaka tāla, which consists of one druta in the beginning, followed by a laghu, the number of akṣara-s totalling six. The pattern of the alaṅkāra is also given.

In the eighth chapter called 'Gīta Prakaraṇa', the names of Gīti-s are listed along with the rasa and tāla with which they are to be sung. As an illustration, the verse about the giti-s called Jayanta and Śēkhara is given below.

Ch.8 Verse 19	Āditālēna śṛṅgārē jayantō gīyatē budhaiḥ śēkharō gīyatē vīrē rasē niḥsārutālataḥ

The meaning of this is that the gīti called 'Jayanta' is sung with Ādi tāla in śṛṅgāra rasa, and that called 'Śēkhara' is sung with the Niḥsāru tāla in vīra rasa.

The ninth chapter 'Prabandha Prakaraṇa' mentions the five Mārga tāla-s namely Caccatpuṭa, Cācapuṭa, Ṣaṭpitāputraka, Sampakvēṣṭāka and Udghaṭṭā, in the process of describing prabandha-s. Also a large number of prabandha-s are listed along with their corresponding Dēsī Tāla-s. As an illustration the verse about the 'Nandāvatī' prabandha is given below.

Ch. 9 Verse 442	y a s y ā ḥ khaṇḍādvayam sēyam nandāvatyabhidhīyatē tālōtra pratitālākhyō rāgō mālavakaiśikaḥ

Here it is mentioned that the prabandha called 'Nandāvatī' is sung in the rāga 'Mālavakaiśika' and the tāla is called 'Pratitāla'.

Conclusion

From the above study, it is seen that there has always been a relationship between tāla-s and their corresponding musical forms. The grantha-s taken up for this study namely Nāṭyaśāstra, Dattilam, Bṛhaddēśī, Mānasōllāsa, Saṅgītaratnākara, Tāladīpikā and Caturdaṇḍī Prakāśikā belong to the period from the 1st century to early 17th century, when gīti-s and prabandha-s were the musical forms in vogue. These compositions were composed in marga tāla-s and dēśī tāla-s. During the 17th and 18th centuries, there was a significant change in the structure of the musical forms, which was accompanied with a change in the tāla-s. The period was abound with newly evolved musical forms like kṛti-s, varṇa-s and svarajati-s. These compositions were mostly set to Ādi, Miśra Cāpu, Khaṇḍa Cāpu and the Sūlādi Saptatāla-s namely Dhruva, Maṭhya, Rūpaka, Jhampā, Tripuṭa, Aṭa and Ēka tāla-s. These tāla-s are in vogue even today. Very few among the medieval dēśī tāla-s are employed, that too rarely, during the rendition of Rāga-Tāna-Pallavī.

Bibliography

Books:

Ghosh, Manomohan, The Nāṭyaśāstra Vol. II. The Asiatic Society, 1961.

Śāstrī, K.Sāmbaśiva, ed. Dattila. Government of Her Highness The Maharani Regent of Travancore, 1930.

Śāstrī, K.Sāmbaśiva, ed. Bṛhaddēśī. Government of Her Highness The Maharani Regent of Travancore, 1928.

Shrigondekar G.K. ed. Mānasollāsa Vol III. Oriental Institute, Baroda, 1961.

Sastri, S.Subrahmanya, ed. Saṃgītaratnākara Vol. III. The Adyar Library, 1951.

Sastri, S.Subrahmanya et. al. ed. The Caturdandi Prakasika Part I. The Music Academy, 1934.

Web Sources:

Tāladīpikā of Tippabhūpāla, MS No. R770. Government Oriental Manuscripts Library, Chennai. http://www.musicresearchlibrary.net/omeka/items/show/1156.

बिहार के लोक संगीत में प्रयुक्त ताल वाद्य एवं विभिन्न लय वाद्यों के प्रकार एवं विशेषताएँ

डॉ. शिव नारायण मिश्र

संगीत शिक्षक

सूरज नारायण सिंह देवनारायण गुड़मैता

उच्च विद्यालय सह वाट्सन इन्टर महाविद्यालय, मधुबनी

बिहार में शास्त्रीय एवं लोक संगीत में वादन की परम्परा आज से नहीं आदिकाल से चली आ रही है। क्षेत्रफल की दृष्टि से बिहार का स्वरूप आज बहुत छोटा हो गया है। पहले बिहार का स्वरूप बंगाल, उड़ीसा, झारखण्ड, नेपाल आदि तक फैला हुआ था। परन्तु बिहार के विभाजन के कारण इसका स्वरूप छोटा हो गया है। यहाँ हम बिहार के प्राचीन काल से अब तक प्रचलित रहे विभिन्न ताल वाद्यों एवं लय वाघों का वर्णन कर रहे हैं।

यहाँ यह भी संभव है कि जिस ताल एवं लय वाघ का यहाँ वर्णन कर रहा हूँ वह अब बिहार में प्रचलित न होकर बिहार से सटे अन्य प्रदेश में प्रचलित हो। बिहार में वादन की परम्परा बहुत प्राचीन है। वात्स्यायन ऋषि ने 64 कलाओं में वादन को दूसरा स्थान दिया है। कैवल्य सूत्र में लय वाघों का उल्लेख करते हुए लिखा गया है कि कुमार सिद्धार्थ (गौतम बुद्ध) के मनोरंजन हेतु उनके पिता राजा शुद्धोदन ने सहस्त्रों वाघ यन्त्रों का प्रबंध किया था। जिसमें मृदंग एवं करताल इत्यादि वाघ शामिल थे। कहने का तात्पर्य है कि बिहार में बहुत सारे वाघ यन्त्र बजाये जाते थे जिसमें कई विलुप्त भी हो गये हैं।

बिहार की संगीत परम्परा में प्रयुक्त ताल एवं लय वाघ

1. नाल
2. ढोलक/ढ़ोल/ढ़ोलकी
3. नगाड़ा/नक्कारा/नगड़िया
4. डफ/खंजरी
5. ताशा
6. मर्दल
7. भूमि दुंदुभी/दुंदभी
8. डमरू
9. डफिला
10. डलोरी
11. टिमकी
12. चंग
13. हुलुक/हुडुक/हुडुक्का
14. मंजीरा
15. कठताल/करताल
16. जनमबाजा
17. मटका
18. पणव
19. झल्लरी
20. पटह
21. तबला
22. अन्य ताल वाघ
23. अन्य लय वाघ/घन वाघ

प्रमुख ताल एवं लय वाद्य

बिहार में निम्नलिखित ताल एवं लय वाघ प्रयोग में लाये जाते हैं।

1. नाल

बिहार के लोक संगीत में प्रयुक्त होने वाले ताल वाघों में नाल सबसे आधुनिक एवं नवीन ताल वाघ है। यह ढ़ोलक की तरह दोनो हाथ से बजाया जाता है। इस बेलनाकार वाघ के दोनों मुखों पर चमड़ा लगा होता है। दाहिने हाथ से बजाने वाले मुख पर ऊपर से स्याही लगा होता है। तथा बायें मुख पर अंदर से स्याही का प्रयोग होता है जिसे गद भी कहते हैं। इसे कसने, उतारने, एवं चढ़ाने हेतु नट-बोल्ट लगे रहते हैं। जिसे रिंच द्वारा आगे पीछे कर के स्वर में मिलाया जाता है। आधुनिक नाल 16 कड़ी, 32 कड़ी एवं 64 कड़ी का भी बनता है। यह कटहल, आम, सिसो इत्यादि की लकड़ी से बनाया जाता है।

इसमें चटक एवं टनक तथा टीप के स्वर का जोरदार वादन होता है। इसकी आवाज ढ़ोलक की अपेक्षा अधिक तेज होती है। बिहार के लोक गीत में अक्सर इस ताल वाघ का प्रयोग किया जाता है। इसमें दादरा, कहरवा, धुमाली इत्यादि ताल विशेष रूप से बजाये जाते हैं। बिहार के अलावा अन्य प्रदेशों में भी नाल बजाये जाते हैं। लोक संगीत के अतिरिक्त सुगम संगीत एवं फिल्म संगीत में भी इसका प्रयोग किया जाता है। आधुनिक युग में इसकी उपयोगिता बहुत बढ़ गई है। इसे जमीन में लिटाकर या विडवा इत्यादि पर रखकर बजाया जाता है। कुछ लोग गोद में रखकर भी इसे बजाते हैं। नाल का दहिना मुख बायें मुख से थोड़ा छोटा होता है जिस कारण इससे टनकदार आवाज निकलती है।

2. ढ़ोलक/ढ़ोल/ढ़ोलकी

ढ़ोलक, ढ़ोल एवं ढ़ोलकी तीनों एक ही प्रकार के अवनद्ध वाघ हैं जो बिहार में बहुत प्राचीन काल से प्रचलित हैं। बिहार में ढ़ोलक एवं ढ़ोल छोटे एवं बड़े दोनो आकार के बनाये जाते हैं। ढ़ोल थोड़ा मोटा और बढ़ा होता है इसे लोग गले में टाँगकर लकड़ी के कमाची से बजाते हैं वहीं ढ़ोलक थोड़ा छोटा होता है। इसे बैठकर दोनो हाथों से बजाया जाता है, कुछ लोग ढ़ोलक एवं ढ़ोलकी को बजाते समय अंगुली में कमाची लगा लेते हैं, जिससे टनकदार आवाज निकलती है। बिहार में प्रचलित लगभग सभी लोकगीतों के साथ ढोलक या ढोलकी बजाये जाते हैं। लोक नाट्य या नृत्य इत्यादि में ढ़ोल बजाने की परम्परा बिहार में बहुत दिनों से प्रचलित है। ढ़ोलक बेलनाकार होता है तथा इसके दोनों मुखों पर चमड़ा लगा रहता है। इसके दोनो पुड़ी को रस्सी (पतली डोरी) से बांधा जाता है। इसमें लोहे के छल्ले लगाये जाते हैं। ढ़ोलक को सुर में मिलाने हेतु छल्ला के माध्यम से कसा जाता है। बिहार की महिलायें भी पुरूषों के समान ढ़ोलक बजाने में माहिर होती है। सोहर-विवाह इत्यादि अवसर पर गाँव घर में महिलायें ही ढ़ोलक बजाने का प्रचलन है। अन्य प्रदेशों में इसे दूसरे नाम से पुकारा जाता है। ढ़ोलक बिहार का सबसे प्रचलित ताल वाघ है जिसका उपयोग आज भी लोक संगीत के साथ किया जाता है।

3. नगाड़ा/नक्कारा/नगडिया

नगाड़ा बिहार का प्राचीन लोक ताल वाघ है। इसका प्रयोग देव मंदिर इत्यादि में किया जाता था। आरती गाते समय इसका प्रयोग अक्सर किया जाता है। आज भी बिहार के प्राचीन मंदिरों में यह वाघ देखने को मिलता है। मधुबनी जिला के राजनगर प्रखण्ड के मंगरौनी पंचायत में कुट्टी माई स्थान है। यहाँ पर आज भी इस वाघ का प्रयोग किया जाता है। नगाड़ा का आकार बहुत बड़ा होता है। इसका दायां मिट्टी या लकड़ी का बना होता है और इसके मुख पर चमड़ा लगाया जाता है। लकड़ी के प्रहार से इसका वादन किया जाता है। यह लगभग दो फीट लम्बा व मोटा होता है। नगड़िया या नक्कारा नगाड़ा का छोटा रूप होता है। इसका उपयोग आज भी बिहार में किया जाता है। इसके दो भाग होते हैं। तबला की तरह ऊपर से खुला एवं नीचे से

बंद रहता है। यह कटोरे के आकार का होता है। यह चमड़ा से मढ़ा होता है। चमड़े को डोरियों या बदिद्यों से कसा जाता है। छोटे भाग का चमड़ा बड़े भाग के चमड़े से थोड़ा बारीक होता है। नगाड़ा दोनो हाथ से कमचियाँ (चिकनी तथा बारीक लकड़ी) पकड़कर बजाया जाता है। दाई हाथ की ओर बड़ा रखा जाता है। कहीं-कहीं छोटे भाग को झील कहा जाता है तथा कहीं-कहीं बड़े को नर तथा छोटे को मादा कहा जाता है। बड़े भाग को नाद स्वर नीचा और गम्भीर तथा छोटे भाग का नाद ऊँचा होता है। इसका उपयोग शहनाई के साथ हमेशा किया जाता है। कुछ लोग इसे दुक्कड़ भी कहते हैं। बिहार में चमार जाति के लोग इसे अधिकतर बजाते हैं। इसे गले में टांग कर भी बजाया जाता है। रौशन चौकी के साथ भी इसका प्रयोग होता है। दुर्गापूजा के अवसर पर मंदिरों अत्यादि के द्वार पर जब शहनाई बजाये जाते है तो इसका प्रयोग किया जाता है। बिहार के ग्रामीण क्षेत्र में मुंडन, शादी इत्यादि अवसर पर शहनाई बजाते हुए देवी-देवता के दर्शन हेतु जाते हैं जिसे रौशन चौकी या आम बोल चाल की भाषा में कई लोग चमरवा बाजा भी कहते हैं। इसके साथ नक्कारा या नगड़िया का प्रयोग हमेशा होता है।

4. डफ

बिहार में डफ का प्रयोग होली के समय अधिक लोग करते हैं। कुछ लोग टोली बनाकर नृत्य करते हैं। उनमें एक व्यक्ति डफ बजाता रहता है। यह एक लय वाद्य है। लोग कई घंटों तक डफली की लय में होली, फगुआ गीत गाते रहते हैं। यह एक से दो हाथ व्यास का होता है। यह एक तरफ से 6 इंच पतली लकड़ी के घेरे पर पतला चमड़ा द्वारा मढ़ा रहता है। इसे कंधे या सीने पर लटकाकर हाथ या लकड़ी से बजाया जाता है। इस पर दादरा, कहरवा, दीपचंद आदि ताले बजती हैं।

5. ताशा

ताशा चपटे कटोरेनुमा वाघ होता है। इसका व्यास लगभग 24 से.मी. होता है। इसके मुँह पर बकरी की खाल मढ़ी जाती है। खाल की डोरियों या बदद्यिों से कस दिया जाता है। इसे गले में लटकाकर दो पतली लकड़ियों से बजाया जाता है। बिहार में लोकगीत एवं नृत्य के समय संगति के लिए इसका प्रयोग किया जाता है।

6. मर्दल

मर्दल का प्रयोग बहुत प्राचीन समय मे होता था। मर्दल पहले मिट्टी का बनता था। इसकी लम्बाई लगभग 21 अंगूल होती थी। इसके बीच का भाग खोखला होता था। इसके दो मुख होते थे। दाहिने मुख का व्यास 13 अंगुल होता है, तथा बॉये मुख का व्यास 14 अंगुल होता था। बीच का भाग का व्यास मुखों की अपेक्षा थोड़ा बड़ा रहता था। इसका मुख चमड़े से मढ़ा होता है, एवं कसने हेतु बदद्यिों का प्रयोग किया जाता है। अब इस वाध का प्रयोग बहुत कम होता है। बाद में यह लकड़ी का भी बनने लगा।

7. भूमि दुंदुभी/दुंदुभी

बिहार में प्राचीन समय में भूमि दुंदुभी या दुंदुभी का प्रयोग किया जाता था। इसका प्रयोग लोगों को एक जगह बुलाने या खतरे से अवगत कराने के लिए किया जाता था। मंदिर में आरती से पूर्व इसका वादन किया जाता था। जिसे सुनकर लोग इक्टठा हो जाया करते थे।

भूमि दुंदुभी या दुंदुभी दो प्रकार के होते हैं। भूमि दुंदुभी बनाने हेतु जमीन में गढ्ढ़ा खोदकर गढ्ढ़े के आकार से बड़ा चमड़ा रख दिया जाता था। फिर उस चमड़े को ऊपर खूटियाँ गाड़कर उनके द्व रा ('टाइट') कस दिया जाता था। तनाव के बाद लकड़ी की डंडियों से उसपर वादन किया जाता था। इसे भूमि दुंदुभी कहा जाता था। वहीं दूसरी ओर आम के लकड़ी को खोखला कर उसके मुख पर चमड़ा लगाया जाता था तथा चमड़ा के किनारे छेद करके उन छिद्रों में बद्धियाँ डालकर कस दिया जाता था। यह बहुत बड़े आकार का होता था। इसकी ध्वनि बहुत दूर तक जाती थी। दुंदुभी का

उपयोग मांगलिक कार्यों में भी किया जाता था। अब इसका प्रयोग बहुत कम होता है।

8. डमरू

डमरू बहुत ही प्राचीन वाघ है। बिहार के अलावा अन्य प्रदेशों में भी डमरू का प्रयोग आदि काल से होता चला आ रहा है। प्राचीन समय में डमरू को डेरू, डोरू या डमरूक आइि नामों से भी जाना जाता था। इसका संबंध भगवान शिव से माना जाता है। सबसे पहले शिव भगवान को ही इसके वादन करने का श्रेय जाता है। शिव भगवान के कई फोटो में उनके हाथ में डमरू दिखाया जाता है। बिहार में भगवान शिव का भजन, नचारी इत्यादि गाते समय तथा भगवान की आरती के समय डमरू बजाने की प्रथा बहुत दिनो से चली आ रही है। आज भी भगवान के कई मंदिरों में डमरू बजाकर आरती एवं भजन गाया जाता है।

इसकी लंबाई लगभग एक बित्ता की होती है। इसके दानों मुख लगभग 8 अंगुल के होते हैं। इसके दोनो मुखों पर चमड़ा लगा रहता है। तथा उसे कसने हेतु डोरी का इस्तेमाल किया जाता है। मध्य भाग में सूत की दो डोरिया एक छोर से बंधी होकर दूसरे छोर पर माटी और मोम की घुंडिया बनाई जाती है। इन्हीं घुंडीदार डोरियों से इसका वादन होता है। डमरू लकड़ी का बना होता है। इसके मध्य भाग को हाथ से पकड़कर बजाया जाता है।

9. डफिला

डफिला का प्रयोग बिहार के लोकगीतों में लय कायम करने हेतु किया जाता है। कीर्तन, भजन एवं होली इत्यादि गायन के साथ इसका प्रयोग किया जाता है। डफिला डफ की तरह का ही एक वाघयंत्र है। लेकिन इसमें थोड़ा अन्तर होता है। डफिला में दानों ओर चमड़ा लगा रहता है। इसे कई लोग लकड़ी के कमाची से बजाते हैं।

10. डलोरी

प्राचीन समय में डलोरी वाघ का प्रयोग बिहार में होता था। डलोरी सात-आठ फीट का धनुषाकृति का होता है, जिसमें मोटे-चमड़े का डोरा लगा रहता था तथा उसमें छोटी-छोटी घण्टी लगी होती थी। अब इसका प्रयोग प्रायः नहीं होता है।

11. टिमकी

टिमकी का प्रयोग बिहार के लोक संगीत के साथ किया जाता है। जिस प्रकार तबला बायां की दो जोड़ी होती है, उसी प्रकार नगाड़ा के भी दो अंग होते हैं। उसी में छोटे अंग को टिमकी कहा जाता है। नगाड़ा के साथ तथा अलग से भी टिमकी का वादन कभी-कभी किया जाता है।

इसका आकार लगभग 20 से.मी. का होता है तथा इसमें बकरे का खाल मढ़ा जाता है। इसे डोरी या बद्धि से कसा जाता है। इसे गले में लटकाकर दो छोटी-छोटी बारीक लकड़ियों के कमानी से बजाया जाता है। इसका प्रयोग लोकगीत के अलावा लोकनृत्य में भी किया जाता है।

12. चंग

चंग एक प्राचीन लोक वाघ है। इसका प्रयोग बिहार में भी होता था। अल्लाउददीन खिजली के समय इसका प्रयोग किया जाता था। परन्तु अब इसका प्रयोग मात्र होली आदि के अवसरों पर किया जाता है।

13. हुलुक/हुडुक

हुलुक, हुडुक्का, हुडुक या हुरूक एक ही वाद्य के नाम हैं। यह बहुत ही प्राचीन वाघ है। बिहार के अलावा अन्य राज्यों में भी इसका प्रयोग किया जाता था। मुस्लिम शासन के समय मिथिलांचल में भी इसका प्रयोग होता था हुलुक ढ़ोलक के समान ही बेलनाकार होता था अब इसका प्रयोग बहुत कम होता है। ग्रामीण क्षेत्रों में कहीं-कहीं इसका प्रयोग किया जाता है।

ढ़ोलक के समान डाक, डोकी एवं डेगड़ी वाद्य यन्त्र भी पहले थे परन्तु अब इनका प्रयोग नहीं होता है।

14. मंजीरा

मंजीरा एक लय वाघ है। कीर्त्तन भजन, गीत आदि के साथ इसका प्रयोग बिहार में किया जाता है। मंदिर में भजन गाते समय मंजीरा का प्रयोग करते हैं जिसकी ध्वनि बहुत ही आकर्षक होती है।

15. कठताल/करताल

कठताल एक लय वाघ है। इसका प्रयोग बिहार के लोक संगीत में बहुत दिनों से होता आ रहा है। भगता गीत, कीर्त्तन इत्यादि में आज इसका बहुत प्रयोग होता है। मंदिरों में भी भजन, कीर्त्तन के समय इसका प्रयोग होता है। महाकवि विद्यापति के रास के वर्णन में इसकी चर्चा मिलती है।

"नटति कलावति माति श्याम संग।
कर प्रबंधक ध्वनिया।"

16. जनमबाजा

यह बिहार का प्राचीन लोक वाघ है। पवरिया जाति के लोग बच्चे के जन्म के अवसर पर जनमबाजा बजाकर गीत गाते है। आज भी बिहार में पमरिया के पास यह वाघ यंत्र मिल जाता है। जनमबाजा देखने में छोटे सुराही की तरह होता है। यह मिट्टी का बना होता है। एक मुख पर चमड़ा लगा रहता है। तथा दूसरा मुख खाली रहता है। इस पर हथेली रखकर दूसरे हाथ से चमड़े पर प्रहार किया जाता है। जिससे मधुर ध्वनि निकलती है। इसे गले या कंधे में टॉग का बजाया जाता है।

17. मटका

मिट्टी का बना हुआ मटका घड़े जैसा होता है। बिहार के लोकगीतों में अक्सर इसका प्रयोग किया जाता है। मटका को उल्टाकर उसके निचले भाग पर अंगुली से बजाया जाता है। कलाकार दोनो हाथों के अंगुलियों में लोहे का छल्ला पहन लेते हैं एवं इसे गोद मे रख कर बजाते हैं।

18. पणव

पणव एक प्राचीन ताल वाघ है। यह भी पखावज एवं ढ़ोलक की तरह बेलनाकार होता था। इसके दोनों मुखों पर चमड़ा लगा रहता था। प्राचीन समय में इसका प्रयोग किया जाता था। अब इसका प्रयोग नहीं किया जाता है।

19. झल्लरी

झल्लरी एक प्राचीन वाघ है। यह चंग या खंजरी के समान होता था। इसका उपयोग बिहार में प्राचीन समय में होता था। यह लकड़ी का बना होता था। तथा इसके मुख का व्यास 18 अंगुल का होता था। इसका एक ही मुँह होता था। इसे बाँये हाथ से पकड़कर दाहिने हाथ से बजाया जाता था। अब इसका प्रयोग नहीं होता है।

20. पटह

पटह एक पौराणिक अवनद्ध बाघ है। प्राचीन समय में बिहार के अलावा अन्य प्रदेशों में भी इसका प्रयोग किया जाता था। यह दो प्रकार का होता था। मार्गी पटह एवं देशी पटह। यह ढ़ोलक के समान होता था। इसका आकार थोड़ा बड़ा होता था। मार्गी पटह की लम्बाई ढ़ाई हाथ तथा देशी पटह की लम्बाई डेढ़ हाथ का होता था। इसके दानों मुखों पर चमड़ा लगा रहता था। तथा दोनों हाथ से वादन किया जाता था। अब इसका प्रयोग नहीं किया जा रहा है।

21. तबला

तबला बिहार का सबसे अधिक प्रचलित अवनद्र वाघ है। इसका उपयोग देश के अन्य भागों में भी किया जाता है। यह मुख्यतः शास्त्रीय ताल वाघ है। शास्त्रीय संगीत में ख्याल अंग की गायकी के साथ इसका प्रयोग होता है। तथा तंत्र एवं सुषिर वाघ एवं नृत्य के साथ भी तबले का वादन होता है। तबला पर स्वतंत्र वादन भी किया जाता है। आजकल लोकसंगीत, फिल्मी संगीत आदि में भी तबले का उपयोग कई लोग करते हैं। तबला आधुनिक युग का सबसे प्रमुख ताल वाघ है।

तबला के दो भाग होते हैं। दाहिने हाथ से बजाने वाले को दाहिना एवं तबला कहा जाता है

तथा बायें हाथ से बजाये जाने वाले वाघ को बायां या डुग्गी कहा जाता है। तबला लकड़ी का बना होता है। तथा ऊपर से चमड़ा लगा रहता है। जिस पर स्याही चढ़ाया जाता है जिस कारण इसकी आवाज को ऊँचे स्वरों में मिलाया जाता है। इसे कसने के लिए 8 गुल्ली भी बद्दिदयों में लगे होते हैं। जिसे हथौड़ी से ठोक कर स्वर में मिलाया जाता है। वही बाँया या डुग्गी मिट्टी या धातु के बनाये जाते हैं। इसका मुख तबला के मुख से थोड़ा बड़ा होता है। इसमें भी स्याही लगाया जाता है। तथा डोरी या बदिद्यों द्वारा कसा जाता है। इसे दोनो बिड़वा पर रखकर, बैठकर दोनो हाथों से वादन किया जाता है। दाहिना एवं बाँया डुग्गी की जोड़ी को तबला बाँया के नाम से जाना जाता है।

22. अन्य ताल वाघ

कुछ अन्य ताल वाघ हैं जिनका प्रचलन अब बिहार में नही के बराबर होता है। ये वाघ अब धीरे-धीरे लुप्त हो रहे हैं। जैसे-

1. दुर्दुर या दर्दर
2. भेरी
3. निःसाण
4. तुम्बकी
5. करहा
6. घट
7. ढवस
8. ढ़क्का
9. कुड़क्का
10. कुड़वा
11. रूजा
12. डक्का
13. मड़िडक्का
14. डक्कमली
15. भाण
16. भिकुला

23. अन्य वाद्य

बिहार में प्राचीन कालीन कुछ लय वाघ भी हैं जिन्हें घन वाघ के श्रेणी में रखा जाता है। परन्तु बिहार में इनका प्रयोग अब बहुत कम होता है जो इस प्रकार हैंः-

1. क्रमा 2. कांस्यताल 3. डाडिया 4. कल्पतरू 5. घंटा/जय घंटा 6. झल्लरी 7. झाज 8. रमझोल 9. पटट्बाघ 10. क्षुद थण्डा/धुंघरू 11. घड़ियाल 12. चिपिका/चिमटा 13. टिकिर 14. झुनझुना 15. चिनताल 16. सातप्पलगई 17. ब्रहमातालम 18. सिलम्बु 19. केचिलम्बु 20. शुति वाघ 21. तुनतुन 22. जालरा इत्यादि। इसके अलावा भी कई वाघ हैं जो विलुप्त हो चुके हैं।

विशेषता

संगीत में ताल वाघ एवं लय वाघों का बहुत प्रयोग होता है। सभी ताल वाघों की अपनी अलग-अलग विशेषताएं होती है। ताल वाघ स्वर प्रधान नहीं होते हैं। इनमें लय की प्रधानता रहती है।

इनकी भूमिका संगीत में व्यतीत हो रहे है समय को मापने हेतु ताल एवं लय निर्वहन की होती है। साथ ही अपने साथी कलाकार को रचनाएं प्रस्तुत करने हेतु लय की पुख्ता जमीन भी ये उपलब्ध कराते हैं। इस श्रेणी के वाघों में लकड़ी या धातु निर्मित किसी ढ़ांचे पर पशु का चमड़ा मढ़ा होता है, तथा उस पर आघात कर के ध्वनि निकाला जाता है।

मरे हुए पशु के चमड़े का प्रयोग ताल वाघों में किया जाता है। फिर भी उस पर जो ध्वनि एवं ताल निकलते हैं वे संगीत के प्राण कहे जाते हैं। बिना ताल के संगीत अधूरा है। ताल का वादन ताल वाघों पर ही होता है। इन्हीं विशेषताओं के कारण संगीत में ताल वाघ की उपयोगिता पहले भी थी, आज भी है और कल भी रहेगी।

संदर्भ सूची

- ताल वाघ शास्त्र पृष्ठ 88
  लेखक-मनोहर भाल चन्द्र राव मराठे
- विभिन्न संगीत परम्पराओं के वाघ एवं वादक
  लेखक-डॉ शिव नारायण मिश्र

घराना

कुमारी मनिषा भारती
शोधार्थी
इलाहाबाद विश्वविद्यालय

घराना शब्द की उत्पत्ति 'घर' शब्द से हुई है। घर अर्थात् परिवार जनो का ऐसा समूह जहाँ एक साथ कई सदस्य आपस में मिलकर निवास करते हैं। वास्तव में मनुष्य अपने जीवन में संस्करणों का आरम्भ घर अर्थात् परिवार में बाल्यावस्था से ही शुरू करता है।

एक तरह से घराना ही हमारा मार्ग दर्शक अथवा पथ-प्रदर्शक है जो हमारे संगीत के संचित ज्ञान की रक्षा करता है। साधारण रूप से घराना शब्द का अर्थ है - वर्ग, सम्प्रदाय, परिवार, कुटुम्ब परम्परा आदि जबकि व्यावहारिक अर्थ रीति पद्धति स्टाइल आदि लेकि शाब्दिक अर्थ वंश अवैर घराना शब्द का अर्थ - वंश वैशिष्ट्रिय[1]

आधुनिक विकास के इस युग में संगीत के विकास में घरानों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। हर घरानों की परम्परा में ही संगीत के अत्यन्त संस्कार छिपे रहते हैं। हर क्षेत्रों में नये-नये प्रयोगों और आविष्कार सदियों से होते चले आये हैं। इस काल को परम्परागत संगीत कहते हैं। जिसे सभी घरानेदार कलाकारों ने अपने परिश्रम और संगीत साधना से सुरक्षित रखा है और घराने के रूप में अपनी शैलीगत विशेषताएं दी हैं।[2] कई वर्षो के गुरू शिष्य परम्परा से मिलकर घराना का निर्माण होता है। गायकों या वादकों की कला से कम तीन पीढ़ियों के बाद ही किसी घराने का जन्म होता है।

वर्तमान काल में भारत में सितार वादन के निम्नलिखित 5 महत्वपूर्ण घराने हैं। 1. सेनिया घराने 2. इटावा घराने 3. मैहर घराने 4. इन्दौर घराने 5. विष्णुपुर घराने अर्थात् इसके अतिरिक्त भी अन्य घराने माने गये हैं।

जैसे - 1. दिल्ली घराने 2. लखनऊ घराने 3. जयपुर घराने 4. विलास खाँ के घराने 5. दरभंगा घराने 6. किराना घराने और मथुरा घराने।

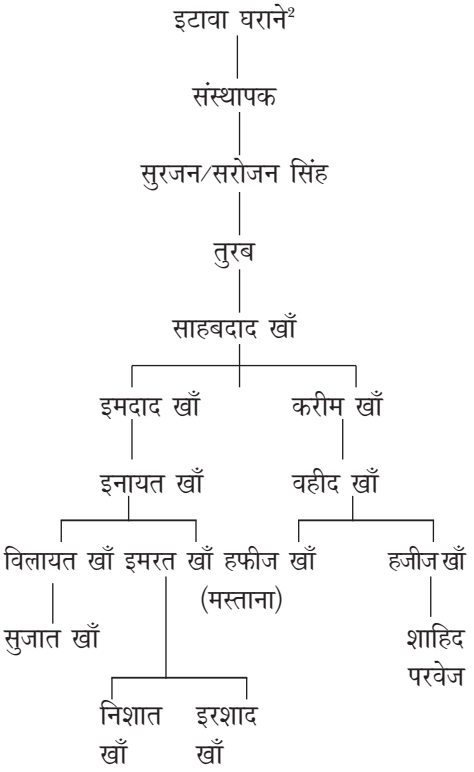

इटावा एवं गौरीपुर घराना

संगीत जगत में सितार वाद्य को लोक प्रिया व वादनोंपयोगी बनाने में इटावा घराने ने महत्वपूर्ण सहयोग दिया है ये घराना भी सेनिया घराने की शाखा है। इटावा घराने के संस्थापक सरोजन व सरोजन सिंह और तुरब खाँ जी माने जाते हैं।

साहिब दाद खाँ ही इटावा घराने की अगली पीढ़ी के प्रतिनिधि थे। वे एक सारंगी वादक थे और बद में वे एक प्रसिद्ध सुखहार वादक बने ऐसा माना जाता है कि उन्होंने वादन की तकनीक को सुधारने के लिए सुरबहार में अनेक परिवर्तन किये एवं सारंगी से प्रेरित होकर सुखहार में तरब के तारों को जोड़। साहिब दाद खाँ के पुत्र का नाम ही इमदाद खाँ था इनका जन्म 1848 में हुआ।1

साहबदाद खाँ जी के दो पुत्र थे

1. करीब दाद खाँ 2. इमदाद खाँ।

साहबदाद खाँ जी के पुत्र करीमदाद खाँ की मृत्यु बचपन में ही हो गयी थी इनके दूसरे पुत्र इमदाद खाँ जी ने 12 वर्ष की अवस्था में ही कठिन मेहनत करके संगीत में अपना सर्वोच्च स्थान बनाया। इमदाद खाँ जी अपने पिता के अलावा रजब अली खाँ (बीनकार बन्दे अली खाँ (बीनकार) अमीर खाँ (सितार वादक) सज्जाद मोहम्मद खाँ इत्यादि के द्वारा शिक्षा प्राप्त की।

इमदाद खाँ जी के पूर्व सितार में न ही चिकारी के तार थे और न ही आले बजाने की प्रथा थी। परन्तु इमदार खाँ जी ने ही सितार पर

झाले बजाने की प्रथा को कायम की और इन्होंने ही सुरबहार के आधार पर ही सितार में चिकारी के तारों को संशोधित करके लगाया।

'इमदाद खाँ ने सर्वप्रथम आलाप, जोड़, झाला, तत्पश्चात् मसीतखानी रजाखानी गत बजाकर उसमें विभिन्न प्रकार की ताने व तिहाइयों के पश्चात् झाले बजाकर वादन समाप्त करने की पद्धति कायम की।

यह महत्वपूर्ण योगदान था उनकी ये परम्परा विशेषता के कारण जिस वादन पद्धति का उदय हुआ वे इमदारखानी बाज के नाम से मशहूर हुआ।1

'डा. इमदाद खाँ के पुत्र उ. इनायत खाँ एक विख्यात सितार वादक थे तथा बंगाल के गौरीपुर रियासत में नियुक्त थे। अतः इस घराने को गोरीपुर घराने के नाम से भी जाना जाता है। इनके पुत्र विलायत खाँ एक सुप्रसिद्ध सितार वादक थे इन्होंने वादन में एक विशेष शैली का निर्माण किया इनके छोटे भाई उ. इमरत खाँ भी एक प्रसिद्ध सितार वादक है।'2 आगे इसी परम्परा को बढ़ाने हुए उ. विलायत खाँ, साहब के पुत्र उ. शुजात खाँ जी और हिदायत खाँ जी एवं शिष्यों में अरविन्द पारिख, श्रीमती कल्याणी राय इत्यादि परम्परा का पालन कर रहें हैं

एवं साथ ही उ. इमरत खाँ साहब जी के पुत्र उ. निषाद खाँ जी इत्यादि इस परम्परा के अन्तर्गत जुड़े हुए हैं।

इटावा घराने के शैलीगत विशेषता

इटावा भारत के उत्तर प्रदेश राज्य का एक प्रमुख शहर है। यह दिल्ली कोलकाता राष्ट्रीय राजमार्ग-2 पर स्थित है। इटावा शहर पश्चिमी मध्य उत्तर प्रदेश राज्य के उत्तरी हिन्दुस्तान में स्थित है और इटावा या गौरीपुर का नाम इष्टिकापुर माना जाता है।

सितार वादन का इटावा एवं गौरीपुर घराना का आदि पुरूष राजपूत गायक सरोजन सिंह को माना गया है। उनके पुत्र तुरब खाँ एक प्रसिद्ध संगीतज्ञ थे। तुरब खाँ के पुत्र साहिबदाद खाँ ही इटावा घराने की अगली पीढ़ी के प्रतिनिधि माने जाते थे, साहिबदाद खाँ के पुत्र का नाम इमदाद खाँ था। इमदाद खाँ का जन्म 1848 में हुआ।1 इन्होंने सितार वादन की प्रारम्भिक ज्ञान अपने पिता जी से ग्रहण किया और समय के साथ रियाज एवं सितार में कुशलता हासिल करके उच्च सितार वादकों में गिने जाने लगे।

मसीत खाँ से लेकर साहबदाद खाँ तक 23 पर्दो का अचल ठाठ का सितार प्रचार में था। इमदाद खाँ ने पर्दों की संख्या कम करके 19 कर दी; 1920 में इन्दौर से इटावा लौटते समय आप का स्वर्गवास हो गया।[2]

इमदाद खाँ जी ने सितार-सुरबहार वादन की एक नई शैली को प्रस्तुत किया जिसे लोग इमदाद खानी बाज के नाम से जानने लगे।

इमदाद खाँ साहब के पुत्र इनायत खाँ -

इनायत खाँ जी का जन्म 1895 ई. में इटावा में हुआ। अपने पिता से शिक्षा प्राप्त कर, उनके देहान्त के बाद इन्दौर छोड़कर कलकत्ते में संगीता ब्रजेन्द्र किशोर राय चौधरी के सम्पर्क में रहकर संगीत की शिक्षा लेते रहे और स्थाई रूप से गौरीपुर जिला मैमनपुर में निवास किया।1

उ. इनायत खाँ साहब जी को आधुनिक सितार का जन्मदाता माना जा सकता है। इनायत खाँ साहब जी गत, तोड़े और और झाला के काम में अद्वितीय माने जाते थे और तिहाई में तो वे सुनने वालो को आश्चर्यचकित कर देते थे एवं तोड़ो के साथ क्रमवार 'ध' बजाकर गत समाप्त कर देते थे।

इन्होंने संगीत के 4 अखिल भारतीय महाअधिवेशनों में बजाकर स्वर्ण पदक ग्रहण किया और उन्हें रागों पर पूर्ण अधिकार प्राप्त था जैसे - यमन, खमाज, भैरवी, पीलू बिहाग, काफी, बागे श्री, जौनपुरी इत्यादि।

'राग-बिहाग 'द्रुतलय गत' ताल-तीन ताल'2

1 2 3 4	5 6 7 8	9 10 11 12	13 14 15 16
स्थाई -			
		स मम गग	प प नी सां
		म दा दिर दिर दा	दा रा दा रा
नी - ध प	ग म ग		
दा - दा रा	स दा रा दा		
	रा		ग म प नी
		नी़ प़ नी़ सा दा	दा रा दा रा
सां रें सां नी		रा दा रा	
ध प	ग म ग सा		
दा रा दिर दिर			
	दा रा दा रा		

अन्तरा -

		ग गग ग म	प प नी सं
		दा दिर दा रा	दा रा दा रा
सां नी प नी	सं नी सां सां	प नी सां गं	गं रे सां नी
दा रा दा रा	दा रा दा रा	दा रा दा रा	दा रा दा रा
सां नी ध प	ग म ग सा		
दा रा दा रा	दा रा दा रा		
×	2	0	3

इस राग को 30 इनायत खाँ जी ने सितार पर बजाया है।

इनायत खाँ के छोटे भाई वहीद खाँ -

वहीद खाँ ने अपने घराने की शैली को खूब धूम मचाया और इन्होंने अपने भाई की तरह श्रेष्ठ कलाकार माने जाते थे। ये सुरबहार और सितार का महत्वपूर्ण ज्ञान रखा करत थे। इनके वंश को पूर्वी बाज या रज़ाखानी गतों से ही अधिक लगाव रहा। इनके पुत्र अजीजखाँ और हफीज खाँ अत्यन्त प्रवीण सितार वादक थे। अजीज़ खाँ के पुत्र शाहिद परवेज वर्तमान कालीन लोकप्रिय सितार वादक माने जाते हैं। अजीज खाँ के पुत्र शाहिद परवेज वर्तमान कालीन कुशल प्रिय सितार वादक माने जाते हैं।

वहीद खाँ जी संगीत कम्पोजर और फिल्मों से जुड़ गए और फिल्मों में अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की अपने बॉलीवुड फिल्म इन्डस्ट्री में 'अजीज हिन्दी' के नाम से एक पेशेवर म्यूज़िक कम्पोजर के तौर पर ख्याति प्राप्त की अपने कई फिल्मों में कुशल संगीतकार के रूप में सफलता प्राप्त की। गीतकार और संगीतकार ख्याम के साथ मिलकर उस्ताद अजीज खान ने कई फिल्मों में संगीत रचना की।1

विलायत खाँ साहब को संगीत की दुनिया में सितार का जादूगर कहा जाता है। इन्हें अपने पूर्वजों उस्ताद इमदाद खाँ व उस्ताद इनायत खाँ से संगीत की एक महान संस्कृतिक परम्परा विरासत में मिली विलाप खाँ ने अपने लिए वादन में बाएँ हाथ की तकनीकों का विस्तार एवं भीड़ का प्रयोग

इस प्रकार से किया कि स्वर की निरन्तरता लम्बे समय तक कायम रह सके।1

विलायत खाँ जी ने सितार में परदों के पुराने रूप को बदलकर उनमें पीतल के स्थान पर सिल्वर का तारलगाकर नये आकार में बाँधा, क्योंकि बजते समय भीड़ का निकास सही-सही और असान हो सके। इन्होंने 7 तारों की सितार को 6 तारों का सितार प्रस्तुत किया।

इटावा घराने के प्रमुख कलाकार -

इटावा घराने को आगे बढ?ाने में कलाकारों की महत्वर्पूा भूमिका रही है। इस घराने के अन्तर्गत निम्नलिखित कलाकार इस प्रकार है -

1. उ. इनायत खाँ 2. उ. विलायत खाँ 3. उ. इमरत खाँ 4. उ. निसाद खाँ 5. उ. इरशाद खाँ 6. उ. सुजात खाँ 7. उ. शाहिद परवेज 8. विमलकान्तराय चौधरी 9. श्रीमती कल्याणी राय 10. प. विमलेन्दु मुखर्जी 11. बुधादित्य मुखर्जी 12. अरविन्द पारिख 13. उ. हिदायत खाँ, आदि इस परम्परा का पालन कर रहे हैं।2 और साथ ही साथ उ. इमरत खाँ साहब जी के पुत्र उ. निशाद खाँ भी इस परम्परा के अन्तर्गत जुड़े हुए हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. वीणा जैन : सेनिया, घराने एवं सितार वादन शैली कनिष्क पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 1
2. नैन्सी श्रीवास्तव : सितार, वादन प्रविधि एवं शैली संग्रह कनिष्क, पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 96-97
3. वी.एस. सुदीप राय : जहान ए-सितार, कनिष्क पब्लिकेशन, नई दिल्ली,
4. अलका नागपाल : भारतीय संगीत के प्रमुख तन्त्री वाद्य सितार/सरोद अंकित, पब्लिकेशन दिल्ली, 70
5. रश्मि गुप्ता : स्वतन्त्रोत्तर काल में सितार वादन की परम्परा एवं घराना अनुभव पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद-235
6. नवजोत कासेल : वादन संगीत का शास्त्रीय परिपेक्ष्य, कनिष्क पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 68

फुटनोट

1. जैन वीणा, सेनिया घराना और सितार वादन शैली, पृष्ठ - 1
2. श्रीवास्तव नैन्सी, सितार वादन प्रविधि एवं संग्रह, पृष्ठ 96-97
3. राय वी.एस. सुदीप, जहान-ए-सितार पृ. - 101
4. गुप्ता रश्मि, स्वतन्त्रोत्तर काल में सितार वादन की परम्परा एवं घराना पृ.सं. - 235
5. राय वी.एस. सुदीप, जहान-ए-सितार, सितार वादन की विभिन्न शैलियों का उद्भवएवं विकास - पृ.सं. - 131
6. कसेल नवजोत, वादन संगीत का शास्त्रीय परिपेक्ष्य पृ.सं. - 67
7. कसेल नवजोत, वादन संगीत का शास्त्रीय परिप्रेक्ष्य पृ.सं. - 68
8. गुप्ता रश्मि, स्वतन्त्रोत्तर काल में सितार वादन की परम्परा एवं घराना पृ.सं.- 235
9. नागपाल अलका, भारतीय संगीत के प्रमुख तन्त्री वाद्य - सितार एवं सरोद पृ.सं. - 70
10. वादन संगीत का शास्त्रीय परिपेक्ष्य डॉ. नवजोत कसेल पृ.सं. - 69
11. वादन संगीत का शास्त्रीय परिपेक्ष्य डॉ. नवजोत कसेल पृ.सं. - 69-71
12. कसेल नवजोत, वादन संगीत का शास्त्रीय परिपेक्ष्य पृ. सं. 72
13. कसेल नवजोत, वादन संगीत का शास्त्रीय परिपेक्ष्य पृ. सं. 73
14. नागपाल अलका, भारतीय संगीत के प्रमुख तन्त्री वाद्य सितार एवं सरोद पृ.सं - 70

संगीत में ताल की आवश्यकता एवं महत्व

श्रेया राज

शोधार्थी, संगीत एवं प्रदर्शन कला विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज

संगीत गायन, वादन तथा नृत्य तीनों से मिलकर बना हैं। संगीत की उत्पत्ति से ही संगीत के दो प्रमुख स्तम्भ बताए गए हैं - स्वर एवं ताल। ताल को संगीत का प्राण कहा गया हैं। ताल विहीन संगीत को निरर्थक एवं आरण्यक कहा जाता हैं। संगीत में ताल लय धारण के काम आता हैं।

ऐतिहासिक तथ्यों को अध्ययन के पश्चात् यह ज्ञात होता हैं कि मनुष्य को लय का ज्ञान स्वर के ज्ञान से पहले ही हो चुका था। मनुष्य को लय का ज्ञान सर्वप्रथम प्राकृतिक तथ्यों के आधार पर हुआ अंगों की विभिन्न क्रियाओं द्वारा मानव के अन्दर लय का सर्जन हुआ क्रियाऐ अर्थात हाथो में ताली देकर तथा भूमि पर पैर मारकर लय धारण का कार्य किया होगा। संगीत में ताल का विशेष महत्व है ताल को संगीत का प्राण कहा जाता हैं संगीत में ताल का उद्भव अति प्राचीन काल से माना जा रहा हैं ताल विहीन संगीत कोई काम का नहीं कहलाता अतः ताल विहीन संगीत निरर्थक ही होता है।

ताल शब्द की व्यूत्पत्ति :-

विद्वानों के अनुसार ताल शब्द की उत्पत्ति 'तल' धातु में धञ् प्रत्यय लगाने से हुई जिसका अर्थ है स्थिरता से स्थापित करना।

ताल भारतीय संगीत का प्राण कहलाता हैं। इसकी उत्पत्ति के विषय में डा. अरूण कुमार सेन का मत है कि 'साहित्य में छंद का और संगीत में ताल का जन्म स्वाभाविक रूप से हुआ होगा।

ताल की बहुत से विद्वानों तथा कलाकारों ने अपने अपने शब्दों में व्याख्या की है। इनमें से एक प्रतिपादित करें ।

ताकरः शंकरः प्रोक्तोलकारः पार्वती मृतः।
शिवश्याक्तिसमायोग-ताल इत्याभिहीयते।[1]

शिवजी के ताडंव नृत्य से 'ता' की और पार्वती जी के लास्य की ध्वनि 'ल' की ध्वनि निर्मित हुई। इस प्रकार शिव और शक्ति के संयोग से 'ताल' की संकल्पना हुई एवं 'ताल' शब्द बना।

ताल की अथकता गायन, वादन तथा नृत्य तीनों में बहुत अधिक हैं। भरत के अनुसार जिसे ताल का ज्ञान नहीं उसे गायक या वादक कहना अनुचित होगा।

संगीत में ताल की आवश्यकता एवं महत्वः- विद्वानों का मत हैं कि जो संगीत तालविहीन होता हैं वह संगीत निरर्थक कहलाता हैं इसके विपरित जो संगीत ताल से युक्त होता हैं वह सामाजिक तथा प्रिय कहलाता है। ताल के अभाव के कारण स्वर से आनन्द की प्राप्ति नहीं होती है तथा न ही हृदय में उल्लास उत्पन्न होता हैं अव्यवस्थित एवं अनिबद्ध संगीत के श्रवण से हृदय में उदासीनता उत्पन्न होती हैं। इसके विपरित ही ताल एवं स्वरों का उचित प्रकार से समन्वय होता हैं तो वह संगीत मन को प्रिय लगता हैं तथा हृदय उल्लासित एवं उत्तेजित हो उठता हैं।

साहित्य में छन्द का एवं संगीत में ताल का जन्म स्वाभाविक रूप से हुआ होगा।[2] प्राप्त साक्ष्य एवं वैज्ञानिक प्रमाणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि समस्त ब्रह्मादि लयगति से बँधा हुआ हैं। दैनिक जीवन में मनुष्य, पशु-पक्षी सभी अपना कार्य निश्चित समय पर करते है।

प्राचीन काल में ताल मात्रा के रूप में व्यक्त नहीं किये जाते थे। ताल देने के लिए ताली का

प्रयोग किया जाता था तथा संगीत समारोह में इसके लिए अलग से मानव का प्रयोग किया जाता था जिसे पाणिनि कहा जाता था। संगीत के विकास में महत्वपूर्ण योगदान देने वाले भरत जी ने सर्वप्रथम मार्गी ताल का वर्णन किया जो घन वाद्य में प्रयोग किए जाते थे। शनैः शनैः मार्गी ताल का स्थान देशी ताल ने लिया तथा इसका प्रचलन प्रारम्भ हो गया। जैसे-जैसे गायन शैली का प्रचार प्रसार होता गया वैसे-वैसे उनके साथ संगत वाद्य व वाद्य पर बजने वाले तालों का स्वरूप भी परिवर्तन होने लगा।

संगीत में ताल की आवश्यकता एवं महत्व को निम्नलिखित बिन्दुओं द्वारा दर्शाया जा सकता है :-

1. संगीत तथा ताल में समय का सम्बन्ध - किसी भी वस्तु की अति होने के कारण वह नीरस तथा अग्राहा होने लगती हैं उसी प्रकार अगर कर्ण प्रिय संगीत भी निरन्तर चलता ही रहेगा तो मानव को वह आनन्द ना पहुँचाकर निरस बना देगा इसलिए संगीत तथा ताल में समय एवं लयबद्ध का विशेष ध्यान रखना पड़ता है।[3] ताकि श्रोतागण ताल के निश्चित समयकाल की आवृत्ति में विभोर रहे और उन्हें संगीत प्रिय लगे तथा सुख का अनुभव प्राप्त हो।

2. ताल एवं चलन शैली :- ताल के द्वारा संगीत में चमत्कार पूर्ण एवं सौंदर्यपूर्ण चलन शैलियों का विकास होता हैं। इसके द्वारा संगीत में आनन्द की अनुभूति होती है। उच्च कोटि के संगीतज्ञों के संगीत में चलन शैली का विकास ताल के द्वारा ही होता है। ताल के विभिन्न चलन शैलिया गीत के शब्दों में प्राणों का संचार कर देती है।

3. संयम एवं ताल :- कोई भी कला हो उसमें संयम होना बहुत ही आवश्यक हैं उसी प्रकार संगीत में ताल के द्वारा ही संयम रखा जाता हैं। गायन, वादन तथा नृत्य तीनों में संतुलन एवं संयम होना बहुत आवश्यक हैं संगीत में संयम होने के कारण ही हमारे संगीत का प्राचीन काल से लेकर आज तक निरन्तर प्रचार प्रसार होता आ रहा हैं। गीतों में लय का संयम ताल से भी संभव होता हैं तभी गीत का सौन्दर्य नष्ट नहीं होता।

4. संगीत में रस निष्पति :- संगीत में रस की निष्पति ताल के बिना संभव नही हैं। ताल के द्व ारा ही रस निष्पति की जाती हैं जैसे रौद्र रस से प्रेरित होकर भगवान शिव ने ताण्डव किया होगा गीत में रस निष्पत्ति होना आवश्यक है और यह ताल के बिना सम्भव नही हैं।

5. संगीत का मूल्यांकन :- संगीत के मूल्यांकन का एक मुख्य स्रोत ताल है संगीत में ताल एवं गीत में लय में समन्वय स्थापित होना बहुत ही आवश्यक है।[4]

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भारतीय संगीत में ताल का विकास प्राचीन काल से होता चला आ रहा है तथा भारतीय संगीत में ताल की आवश्यकता भी प्रारम्भ से देखी जा रही हैं। चाहे शास्त्रीय संगीत हो या उपशास्त्रीय, सुगम, संगीत, लोक संगीत तथा सिनेमा संगीत सभी में ताल वादन का विशेष महत्व एवं आवश्यकता हैं। ताल के द्वारा गीत में सुन्दरता बनी रहती है तथा वह निरन्तर अच्छा लगता रहता है एवं मनोरंजक लगता है।

संदर्भ-ग्रन्थ सूची

1 डॉ.सेन कुमार अरूण : भारतीय तालों का शास्त्रीय विवेचन मध्य प्रदेश, हिन्दी ग्रन्थ अकादमी

2. डॉ. मराठे भालचंद्रराव मनोहर ताल वाद्य शास्त्र : शर्मा पुस्तक सदन, ग्वालियर

3. श्रीवास्तव गिरीश चन्द्र : ताल परिचय भाग-3 रूबी प्रकाशन, इलाहाबाद।

4. डॉ.मिश्र लालमणि : भारतीय संगीत वाद्य : भारतीय ज्ञानपीठ 18

(Footnotes)

[1] भारतीय तालों का शास्त्रीय विवेचन, पे.नं. 46, डॉ. सेनकुमार अरूण

[2] भारतीय तालों का शास्त्रीय विवेचन, पे.नं. 47, डॉ.सेन कुमार अरूण

[3] ताल वाद्य शास्त्र, पे.नं. 32, डॉ.मराठे भालचन्द्रराव मनोहर

[4] ताल वाद्य शास्त्र, पे.नं. 33, डॉ.मराठे भालचन्द्रराव मनोहर

सेहतार से सितार तक की यात्रा

विधुश्री पाण्डेय

शोध छात्रा, इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

'वीणावादनतत्वज्ञरू श्रुतिजातिविशारदः।
तालज्ञश्चाप्रयासेन मोक्षमार्ग प्रयच्छति'। 1

संगीत जीवन है, शक्ति है, आनंद है। सभ्यता के प्रारंभ से मनुष्य अपने मन के कोमल भावों को अभिव्यक्त करने के लिए माध्यम खोजता रहा है। लेकिन मन लालित्य में रमता है इसीलिए उसने ललित माध्यम ढूंढा। संगीत भी उसका एक भाग है।

वस्तुतः मनुष्य की प्रकृति सदैव से बहुत जिज्ञासु रही है। जानने समझने की प्रक्रिया में उसने नई चीजों की खोज की है। आदिम प्रकृति के मनुष्य ने आग जलाने की कला सीख कर सभ्यता के इतिहास में पहला कदम रखा। धीरे-धीरे कदम बढ़ता गया फिर क्या था। मनुष्य ने अपनी आवश्यकता और अभिरुचि के अनुरूप उन सब चीजों का आविष्कार किया जो उसकी चाहत थी। धीरे - धीरे शिक्षा और संस्कार से परिमार्जित होकर उसने अपनी सांस्कृतिक धरोहर को संरक्षित किया।

मनुष्य भावना सम्पन्न बौद्धिक प्राणी है। वह अपने हृदय के कोमल भावों की अभिव्यक्ति कला के माध्यम से करता है। उसे ललित माध्यम प्रियकर लगा। चाहे वह, स्वर माध्यम हो, कला माध्यम हो या सुर ताल हो। वह उसको आनंद कारक होता है। उसने प्रकृति के हर छोटे - बड़े उपादान में रागात्मक आधार ढूंढने की चेष्टा की है। वस्तुतरू संपूर्ण सृष्टि में संगीत समाहित है। प्रकृति में स्वर और लय है। पक्षियों का कलरव, झरने - नदियों की कल-कल छल-छल ध्वनि, वायु की सरसराहट सब संगीत की सृष्टि करते हैं। सृष्टि में जीवन है, लय है, ताल है और संतुलन है। इसके बिना जीवन राग बेसुरा हो जाएगा। मनुष्य ने इस जीवन राग को संजो रखा है।

संस्कृति में जीवन और संगीत एक दूसरे के पर्याय हैं। संगीत में गीत, नृत्य और वाद्य तीनों का समावेश है। आदि काल से ही संगीत में तंत्र वाद्यों की उत्पत्ति एवं विकास के अनेक साधन मिलते हैं। आदि मानव ने अपनी रूचि और मति के अनुरूप कलात्मक विविध तंत्रीवाद्यों की नीव डाली। आदि कालीन मनुष्य के जीवन में धनुष की डोरी की टंकार नित्य अनुभव की चीज थी। यहीं से उसने टंकार से बजने वाले वाद्य निर्माण की प्रेरणा ली। प्रारंभिक वाद्य नैसर्गिक ध्वनियों के अनुकरण पर निर्मित हुए। फिर इन्ही वाद्यों में संशोधन कर नवीन वाद्यों का जन्म हुआ। वैदिक काल में तंत्र वाद्यों का प्रचलन हो चुका था। ऋग्वेद कालीन बाण का रूपांतर वीणा में हुआ। वीणा तंत्र वाद्य माना गया। वीणा से 'सितार' की उत्पत्ति हुई। 'सितार' का निर्माण 'त्रितंत्री' वीणा के आधार पर हुआ। भारत में गज वाद्यों की अपनी परंपरा रही है। वायलिन गज या बो से बजाया जाने वाला वितत् वाद्य है। सारंगी वर्तमान गज वाद्यों में महत्वपूर्ण गायन की संगति के लिए सर्वश्रेष्ठ वाद्य है। इसमें भारतीय संगीत की सभी विशेषताएं समाहित है।

'सितार' प्रचलित लोकप्रिय साज है। प्राचीन समय में 'सेहतार' कहलाता था। इसमें तीन तार

होते थे। ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर इसका निर्माण त्रितंत्री वीणा के आधार पर हुआ है। वर्तमान समय का लोकप्रिय वाद्य यंत्र है 'सितार'। कभी स्वरों को संगीत देने वाला साज आज एक लय के रूप में मधुर और कलात्मक बन पड़ा है।

वाद्यों को मुख्यतः चार वर्गों में विभाजित किया गया है -

- तत वाद्य
- घन वाद्य
- अवनद्य वाद्य
- सुषिर वाद्य

तत या तंत्री वाद्य -

भारतीय संगीत का उद्‌गम वेदों से हुआ है और सामवेद को संगीत का वेद माना गया है। सामवेद में ऋग्वेद के मंत्रों का संकलन है। ये गेय मंत्र यज्ञादि कार्य के आरंभ में उच्चारित होते थे। सामगान की प्रथा संगीत शास्त्र की जन्मदात्री बनी। सामगान में 'वाण' नामक तंत्र वाद्य का वादन होता था। ऋग्वेद में वाण या बाण शब्द मिलता है। वीणा यजुर्वेद में मिलता है जिसे विद्वानों ने तंत्री वाद्य कहा जो इस प्रकार है - गर्गर, गोधा, कर्करी, क्षोण, आधारी आदि। वीणा का आविष्कार उस समय हो चुका था। घाटलिक, काण्ड वीणा, पिच्छोला, स्तम्बल वीणा, अलाबु वीणा और कपिशीष्णी वीणा का उल्लेख मिलता है।

सामवेद के जैमिनीय ब्राह्मण में एषीक और काश्यपी वीणा सभी तंत्री वाद्यों में प्रमुख है। तत, वितत वाद्यों के अन्तर्गत वीणा के कुछ प्रकारों का उल्लेख है। नारद रचित 'संगीत मकरन्द' नामक ग्रंथ में वीणा के 19 भेदों का उल्लेख है।

तंत्री वाद्यों की उत्पत्ति -

संगीत आह्लादक, सरस तथा आकर्षक विधा है। यह गायन, वादन, नृत्य तीनों के अभिन्न साहचर्य से उत्पन्न होती है। शांखायन ब्राह्मण में इसका उल्लेख मिलता है त्रिवृदै शिल्पं नृत्यं गीतं वदितामिति'।2

भारतीय संगीत में अनेक प्रकार के तत् वाद्यों की परम्परा चली आ रही है। आदिकालीन मानव का धनुष व डोरी का सम्बंध रोज की दिनचर्या में था। धनुष की डोरी व अंगुली के घर्षण से निकली ध्वनि ने धनुष के आकार वाले तथा उसी समान झनकार से बजने वाले वाद्य बनाने की प्रेरणा दी। धनुषाकार वाद्यों पर नाद उत्पन्न करने की तीन विधियाँ थीं।

- अंगुलियों से स्पर्श करने की
- कोण या काष्ठ से छेड़ने की
- गज चलाने की

यह गज धनुषाकार होता था। ऐसे गज के लिए वैदिक काल में 'इषीका' नाम था जो बेंत के टुकड़े से बनाया जाता था। 3

डोरी टूटने पर दूसरी डोरी बाधने उसकी लम्बाई और आवाज में अन्तर पता चला। डोरी के घटाने-बढ़ाने में स्वर ऊँचा नीचा हुआ फिर एक नया प्रयोग किया गया कि धनुष के सिरे को खोखली वस्तु से सटाकर बजाया जाए तो गूँज अधिक उत्पन्न होगी। अतरू तमाम तरह के प्रयोगों से नयी ध्वनि व यन्त्र की खोज हुई। एक ही धनुष में छोटी बड़ी कई डोरियाँ बाँधी जाने लगीं फलस्वरूप 'हार्प' नामक प्रसिद्ध वाद्य की उत्पत्ति हुई।

प्राचीन समय में एक तार वाले जिसे अंगुली से छेड़कर बजाया जाता था ऐसे एक तंत्री वाद्य की चर्चा हुई है जिसे 'पिनारू' कहते हैं। इसकी उत्पत्ति शिव से मानते हैं। पिनाक शिव धनुष को भी कहते है।

वाद्यों के सन्दर्भ में दो बातों की चर्चा होती है। पहली यह की समय के परिवर्तन के साथ वाद्यों के स्वरूप में भी बदलाव आता गया जिनसे नये वाद्यों का उदय हुआ। दूसरी बात यह कि अधिक बजाये जाने के कारण वाद्यों में विकास आ गया। अतरू इसे सुधारने में नवीन वाद्यों का उदय हुआ। समय, परिवर्तन, संशोधन और सुधार से नयापन आता गया और वैदिक काल के तंत्री वाद्य धीरे-धीरे नये स्वरूप और नवीन नाम ग्रहण करते गये।

इस वर्ग में वो सभी वाद्य आते हैं, जिसमें ध्वनि वाद्यों में प्रयुक्त तारों की सहायता से उत्पन्न होती है।

तत वाद्यों को भी और दो वर्गों में विभाजित किया गया है।

जैसे -

- तत वाद्य
- वितत वाद्य
- तत वाद्य - इस श्रेणी में वाद्यों की तंत्रीयों को अँगली या मिजराब आदि की सहायता से बजाया जाता है।
  जैसे सितार जिसे मिजराब से तानों पर आघात कर बजाया जाता है और तानतुरा जिसके तारों को अँगली से छेड़कर बजाया है।
- वितत वाद्य - इन वाद्यों में तारों को गज से या बोयठवूद्ध से रगड़कर बजाते हैं।
  जैसे - वायलिन, सारंगी, इसराज आदि वाद्य।

इसके अतिरिक्त वादन क्रिया के आधार पर इस वर्ग के वाद्यों को चार उपवर्गों में विभाजित क्रिया जा सकता है।

- अँगुलियों से छेड़कर बजाये जाने वाला वर्ग। जैसे - तानतुरा, एकतारा, स्वरमंडल आदि वाद्य।
- कोण, त्रिकोण यमिजराबद्ध से बजाये जाने वाले वाद्य।
  जैसे - सितार, सरोद, रूद्र वीणा, विचित्र वीणा, तंजौरी वीणा, गोट्टुवाद्यम आदि वाद्य।
- गज से रगड़कर बजाये जाने वाले वाद्य।
  जैसे - सारंगी, रावणहत्था, इसराज, दिलरूबा आदि वाद्य।
- डंडी से प्रहार कर बजाये जाने वाले वाद्य।
  जैसे - संतूर, कानून आदि वाद्य।
- तंत्री वाद्यों की बनावट के आधार पर भी इनको 6 उपवर्गों में बाँटा जा सकता है -
  - लम्बे आकार वाले वाद्य - वीणा, सितार, इसराज, दिलरूबा, तानपुरा।
  - छोटी आकृति वाले वाद्य - सारंगी और रावणहत्था इत्यादि।
  - एक और दो तुम्बे वाले वाद्य - तंजौरी वीणा के अतिरिक्त सभी वीणाएँ और सितार इत्यादि।
  - तबली के स्थान पर चमड़े से मढ़े हुए वाद्य - जैसे सारंगी, दिलरूबा, इसराज, सरोद, रबार आदि।
  - ठोस सीधी अथवा घुमावदार लकड़ी से बने वाद्य - प्राचीन भारतीय वीणाएँ तथा ईरानी एवं पाश्चात्य हार्प आदि।
  - चपटे और चार कोने वाले वाद्य - स्वरमंडल और संतूर इत्यादि।

आवश्यकता से आविष्कार तक की यात्रा तय करने वाला तंत्री वाद्य यसितारद्ध मेरे इस लेख का केंद्रीय विषय है। वस्तुतः सितार के आविष्कार के सम्बन्ध में अभी तक कोई निश्चित मत प्राप्त नहीं होता है। बहुत से लोगों का विचार है कि चौदहवीं शताब्दी में अमीर खुसरो ने इस वाद्य का आविष्कार किया था। तो वहीं कुछ लोगों का मानना है कि तानसेन के वंशज खुसरो खाँ ने इस वाद्य की रचना की तथा उनके वंशज अमृत सेन, रहीम सेन आदि ने इस वाद्य के प्रचार प्रसार में बहुत अधिक योगदान दिया।

यह भारत के सभी लोकप्रिय वाद्यों में से एक है। इसका प्रयोग शास्त्रीय संगीत के साथ-साथ अन्य अनेक प्रकार की संगीत शैलियों में प्रचुरता से होता है। सितार पूर्णतः भारतीय वाद्य यन्त्र है क्योंकि इसमें भारतीय वाद्यों की तीनों विशेषताएं हैं। तार के अलावा घुड़च, तरब के तार तथा परदे होते हैं। यह वाद्य तन्त्री वाद्यों की श्रेणी का सबसे विकसित वाद्य है।

यह वाद्य माधुर्य और रंजकता का बहुत बड़ा स्त्रोत है तथा अपनी ध्वनि की मिठास तथा सौंदर्य के कारण अत्यंत लोकप्रिय है। 'शास्त्रीय तथा सुगम' दोनों ही संगीत विधाओं में सितार का एक समान आधिपत्य है।

- सितार की बनावट या रचना में जिन वस्तुओं का प्रयोग किया जाता है वह सभी उसके अंगों के अंतर्गत आते हैं। जैसे-

- तुँबा - तुँबा डाँड के नीचे रहता है। अन्दर से पोला और हल्का होता है। तारों के द्वारा पैदा होने वाली झंकार तुंबे के कारण गूँजती है।
- डाँट - डाँट पर ही पर्दे बँधे रहते हैं। यह लकड़ी की लम्बी पोली डंडी होता है जिसके ऊपर एक तख्ती ढ़की रहती है।
- तरब - सितार में परदों की संख्या के अनुरूप 'तरब' के तार भी लगाये जाते हैं। ये भि. ान्न-भिन्न स्वरों के साथ मिले होते हैं। ये सितार के सात तारों के अलावा नीचे लगाये जाते हैं। ये संख्या में 13 होते हैं। सितार जब बजाया जाता है, तो उसकी झंकार से 'तरब' के तारों में स्वतः ही झंकार उत्पन्न हो जाती है।
- खूटियाँ - यह लकड़ी की बनी छोटी-छोटी कुंजियाँ होती हैं। जिसमें तार लिपटे रहते हैं। इनको घुमाने से तार का स्वर चढ़ता-उतरता है।
- मनका - बाज के तार में पिरोया हुआ एक छोटा सा दाना मनका कहलाता है। यह बाज के तार की ध्वनि को ठीक रखने में सहायता करता है।
- मिजराब - अंगूठी की तरह का होता है। यह लोहे के तार से बना होता है। इसे दाहिने हाथ की तर्जनी में पहन कर सितार के तारों पर आघात करते हैं और सितार बजता है।

सितार के तार -

- पहला तार - इसे बाज का तार या बोल तार कहते हैं। इसे 'मन्द्र म' में मिलाते हैं।
- दूसरा और तीसरा तार - ये जोड़ी के तार कहलाते हैं। इन्हें 'सा' में मिलाते हैं।
- चौथा तार - यह स्टील का होता है। इसे पंचम तार कहते हैं। यह 'प' में मिलाया जाता है।
- पाँचवा तार - यह तार थी स्टील का होता है। यह लर्ज का तार भी कहलाता है। इसे 'अति मंद्र प' में मिलाते हैं।
- छटा तार - इसे 'मध्य सप्तक के सा' में मिलाते हैं। इसे चिकारी का तार कहते है।
- सातवा तार - इस तार को 'तार षड्ज' में मिलाते हैं। इसे भी चिकारी का तार या पपैया का तार कहते हैं।
- गत - किसी राग के स्वरों में सितार के बोलों की ताल बद्ध रचना को गत कहते हैं

गतों के मुख्य दो प्रकार हैं -

- मसीतखानी गत - इस गत के बोल विलंबित लय में बजाये जाते हैं। मीड़ का प्रयोग करते हुए बोलों में गम्भीरता दिखाई जाती है।
- रजाखानी गत - इस गत के बोल द्रुत लय के होते हैं और विभिन्न तरह की चालें इसमें प्रदर्शित की जाती हैं।
- जोड़ आलाप - सितार में गत बजाने से पहले जो आलाप झाले के साथ बजाया जाता है, उसे जोड़' भी कहते हैं।
- जमजमा - सितार बजाते समय जब दो स्वरों को जल्दी-जल्दी और इस प्रकार बजाया जाता है कि पहले स्वर पर तो मिजराब पड़े और दूसरे को बिना मिजराब के केवल अंगुली के आधार से बजाया जाये उसे जमजमा कहते हैं।

  जैसे - रेग रेग गम गम

  दो दो दो दो
- झाला - झाला में बाज के तार पर 'दा' और चिकारी पर 'रा' बजाया जाये तो चिकारी तथा बाज के तार पर प्रहार करते हुए 'दा रा रा राए दा रा रा रा' बजाते हैं उसे झाला कहते हैं। झाले के सहायता से स्वर लम्बा भी किया जा सकता है।
- कृन्तन - कृन्तन का प्रयोग सितार पर ऊँचे स्वर से नीचे स्वर पर आते समय इस तरह

होता है कि बाएँ हाँथ की अँगुलियों से झटके के साथ तार को दबा कर एकदम छोड़ते हैं या अधिक स्वर शीघ्रता से बजाये जाते हैं लेकिन एक स्वर का दूसरे स्वर के साथ सम्बन्ध बना रहता है। यही कृन्तन कहलाता है।

यह सभी सितार वादन के भाग हैं। यह सभी सितार में मधुरता, लालित्य, सौन्दर्य और कलात्मकता के लिए प्रयुक्त कला विधियाँ हैं। सितार नित नये प्रयोगों के कारण नया स्वरूप ग्रहण कर चुका है साथ ही यह मधुर तंत्री वाद्य यंत्र है। इसके स्वरों में मिठास और सौन्दर्य लाने के लिए कलाकारों द्वारा निरन्तर प्रयोग किया गया। आज यह न केवल हिन्दुस्तान बल्कि विदेशों में भी लोकप्रिय हो गया है। इसकी लोकप्रियता में चार चाँद लगाने वाले सितार के कलाकारों का बहुत योगदान रहा है।

सितार की कलात्मक लोकप्रियता के पीछे दूसरी शैलियों की खासियत है। नामचीन घरानेदार कलाकारों ने इसे नई उचाई प्रदान की है। उस्ताद इमदाद खां, उस्ताद इनायत खां, उस्ताद विलायत खाँ, पंडित रवि शंकर, निखिल बैनर्जी, उस्ताद शाहिद परवेज, बुधादित्य मुखर्जी आदि उच्च कोटि के कलाकारों ने 'सितार' को विश्व स्तर पर ख्याति प्रदान की है।

धीरे-धीरे नए प्रयोगों के आधार पर आज 'सितारश्' की संरचना और वादन शैली दोनों क्षेत्रों में परिवर्तन आया। गुरु शिष्य की परंपरा के साथ आगे बढ़ता हुआ 'सितार' बेहद महत्वपूर्ण सुर साज के रूप में प्रतिष्ठित हो चुका है। कला साधक सितार वादकों ने अपने परिश्रम और प्रतिभा के बल पर इस क्षेत्र में नित्य नया करने का प्रयास किया है, इन्होने सितार पर नित्य नयी गते, राग आदि का निर्माण ही नहीं किया बल्कि जुगलबंदी, ऑर्केस्ट्रा, सिनेमा और बैंड आदि का निर्माण और प्रयोग कर सितार को लोकप्रिय पहचान दी है।

सन्दर्भ सूची

1. याज्ञवल्क्यस्मृति
2. संगीत शास्त्र - डॉ. के. वासुदेव शास्त्री पृ.1
3. हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत में तन्त्र-वादन शैलियाँ- डॉ. रचना भृगुवंशी पृ.69
4. संगीत बोध - श्रीधर शरच्चन्द्र परांजपे पृ.134

सुगम संगीत में ताल की उपयोगिता एवं ताल के विविध स्वरूप

सुकन्या वर्मा

भूमिका-

भारतीय संगीत अपनी विशेषताओं के लिए विश्व प्रसिद्ध है। इसमें सदैव विविधता और नवीनता बनी रहती है। जिसके फलस्वरूप आज भारतीय संगीत में संगीत के विभिन्न रूप एवं विभिन्न गायन शैलियाँ प्रचार में है। संगीत कला सदैव दो धाराओं में प्रवाहित होती रही है–(1) मार्गी संगीत (2) देशी संगीत। प्रथम में शास्त्र के अनुगमन के द्वारा कला की परिष्कृतता तथा अभिजातता पर ध्यान दिया जाता है। दूसरे में लोकाभिरुचि पर ध्यान दिया जाता है। आधुनिक भारतीय संगीत में मार्गी धारा शास्त्रीय संगीत के रूप में व देशी धारा लोकसंगीत, सुगम संगीत, भक्ति संगीत आदि के रूप में प्रवाहित हो रही जिसे कुछ लोग भाव संगीत भी कहते हैं।

सुगम संगीत भारतीय संगीत की एक प्रमुख गायन विधा है। इसे काव्य संगीत और भावगीति के नाम से भी जाना जाता है। वह संगीत जिसे सहजता से सीखा और गाया बजाया जा सके, जिसमें निश्चित नियमों का बंधन न हो तथा जो लोक में प्रिय है सुगम संगीत कहलाता है। लय और ताल सुगम संगीत में एक विशेष स्थान रखते है परंतु इसमें राग, स्वर और ताल के नियमों का कोई बंधन नहीं होता।

सुगम संगीत में गाए जाने वाले गीतों में शृंगार रस, भक्ति रस, मांगलिक गीत आदि कई प्रकार के गीतों का समावेश होता है।

सुगम संगीत का ऐतिहासिक विवरण–

(1) **प्राचीन काल**–भारतीय संगीत का इतिहास अत्यंत प्राचीन है। अति प्राचीन काल में संगीत को मोक्ष प्राप्ति के साधन के रूप में मान्यता प्राप्त थी। संगीत में सर्वप्रथम प्राप्त ग्रंथ भारत का नाट्यशास्त्र है। इस ग्रंथ के 28वें से 33वें अध्याय में संगीत शास्त्र का विस्तृत विवेचन किया गया है। भरत ने वाद्याध्याय में उत्सव, मंगल अवसर, विवाह पुत्र, उत्सव और युद्ध के साथ-साथ घरेलू त्योहारों में किस प्रकार के ताल वाद्यों का प्रयोग करना चाहिए यह बताया है। इसी प्रकार 8वीं शताब्दी में लिखे मतंग के वृहद्देशी ग्रंथ में आम लोगों की रूचि के अनुसार जो संगीत प्रचार में आया वह देशी संगीत है ऐसा स्पष्ट उल्लेख है। 13वीं सदी में शांरगदेव ने संगीत रत्नाकर ग्रंथ की रचना की। इस ग्रंथ में देशी संगीत की परिभाषा देते हुए उन्होंने लिखा है–

''भिन्न-भिन्न देशों (प्रांतों या राज्यों) के लोगों के रूचि के अनुसार मनोरंजन करने वाला गीत, वादन, और नृत्य देशी संगीत कहलाता है।''[1]

जो देशी संगीत के साथ सुगमता से प्रयोग में लाए जा सके तथा द्रुत, लघु आदि के द्वारा लय धारण कर देशी संगीत को रंजन बना सके वे देशी ताल कहलाते थे।

मध्यकाल–

मध्यकाल का समय 11वीं से 18वीं सदी के लगभग माना जाता है। इसी काल में गीत, गजल, ख्याल, कव्वाली, ध्रवपद, धमार, पद, कीर्तन, भजन आदि

गायन विधाओं का निकास एवं विकास हुआ। इस काल में जयदेव, मीराबाई, कबीर, तुलसीदास, अमीर खुसरो आदि ने पीड़ा, प्रेम, विरह श्रृंगार आदि अनुभूतियो को स्वरपदो द्वारा गाकर पेश किया जैसे–

''मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई
जाकै सिरमोर मुकुट मेरो पति सोई''

इसी प्रकार तुलसीदास जी की रामचरितमानस तथा विनयपत्रिका भी भक्ति गीतों का उत्कृष्ट उदाहरण है। जैसे–

''ठुमक चलत रामचंद्र बाजत पैजनियाँ
भमन रामचरण सुखदाई''

मध्यकाल में भक्ति गीतों की परंपरा अत्याधिक विशाल थी। वर्तमान में भी इन कवियों के पदों को बहुत तन्मता से गाया है।

आधुनिक काल–

आधुनिक काल में विष्णु दिगंबर पलुष्कर, रवींद्रनाथ टैगोर और 20वीं शताब्दी की तकनीकी क्रांति (ग्रामोफोन, आकाशवाणी, फिल्म निर्माण) ने वर्तमान सुगम संगीत की मुख्य भूमिका निभाई। आज के सुगम संगीत में गजल, गीत, भजन विशेष तौर पर गाई जाती है। फिल्म संगीत भी सुगम संगीत के अंतर्गत आता है।

मध्यकाल के संतों, भक्तों की धार्मिक रचनाओं को स्वबद्ध करके पेश करने की परंपरा के रूप में जाना जाता है। इस परंपरा को 20वीं सदी के महान संगीतज्ञ पं. विष्णु दिगंबर पलुष्कर का बहुमूल्य योगदान है। वर्तमान में सुगम संगीत की विधाओं को विकसित करने में आकाशवाणी ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

सुगम संगीत में ताल का महत्व एवं उपयो. गिता–

संगीत में लय वाद्यों का प्रयोग प्रचीन काल से होता आ रहा है।

रामायण–

महाभारत काल में संगीत मोक्ष प्राप्ति के साथ-साथ मनोरंजन के रूप में होता था। प्राचीन काल में भरत के नाट्यशास्त्र में 5 मार्गी तालों का वर्णन मिलता है। ऐसा माना जाता है कि 8वीं सदी से देशी तालों का विकास होना प्रारंभ हुआ तथा 13वीं सदी के ग्रंथ संगीत रत्नाकर में शारंगदेव जी ने मार्गी तालों के साथ-साथ देशी तालों का भी विस्तृत विवेचन किया। उन्होंने 120 देशी तालें बताई है। मध्यकाल में संगीत दो धाराओं में विकसित हुआ-1) मंदिरो, 2) राजाश्रय के माध्यम से। मध्यकाल में संगीत की कई विधाओं का विकास हुआ जिनमें से एक सुगम संगीत है। सुगम संगीत की शब्द रचना एवं ताल रचना सरल होती है। अर्थात् इन गीतों की रचना विभिन्न प्रांतों की भाषा शैली के अनुसार होती है इसमें रागांग स्वरों का बंधन नहीं होता। सुगम संगीत मध्य व द्रुत लय में गाए जाते हैं। विलंबित लयों का प्रयोग यहाँ नहीं होता। ये गीत प्रकार स्वर प्रधान या ताल प्रधान न होकर लय प्रधान होते हैं। सुगम संगीत में संगत करते समय लघु तालों का निश्चत छोटी-छोटी मात्राओं के बोल समूह का वादन होता है।

सुगम संगीत में प्रयोग होने वाले तबले के ताल और उनके प्रकार–

शांरगदेव ने कम संख्या वाले तथा छोटे-छोटे खंड वाले तालो का प्रयोग देशी संगीत के लिए बताया है। सुगम संगीत में बजने वाले ताल 16 मात्रिक तालों से अधिक लंबे नहीं होते। 8 मात्रा तक के ताल सुगम संगीत में अधिक प्रचलित है। सुगम संगीत में प्रयोग होने वाले तालों में से कुछ प्रमुख तालों का वर्णन इस प्रकार है–

(1) **कहरवा ताल**–उतर भारत के लोकप्रिय और प्रचलित तालों में कहरवा ताल का नाम सर्वप्रथम आता है। ये ताल चंचल और श्रृंगार रस प्रधान होती हैं। यह समपदी ताल है। इसमें 8 मात्रा, 2 विभाग, 1 पर ताली तथा 5 पर खाली होती है।

धा गे ना ति। न क धि न।

× 0

प्रकार-(1) धा धिं ना तिं। ना तिं धा तिं।

× 0

(2) धा धिं धा तिं। ना तिं धि धा।

× 0

(2) दादरा ताल–यह लोक तथा सुगम संगीत की एक प्रचलित ताल है। यह ढोलक, खोल, नाल, ताशा, दुक्कड से वाद्यों प भी बजायी जाती है। दादरा एक उत्तर भारतीय उपशास्त्रीय गायन शैली का भी नाम है। यह त्र्यस्य जाति की समपदी ताल है। इसमें 6 मात्रा, 2 विभाग, 1 पर ताली तथा 4 पर खाली होती है।

धा धी ना। धा तू ना।

× 0

प्रकार-(1) धा धा ती। ता धा ती।

× 0

(2) धा तिं ति। ता धिं धिं।

× 0

(3) रूपक ताल–यह मध्य लय की ताल है। इसका निर्माण तीन व चार मात्राओं के सहयोग से हुआ है। यह सात मात्रा की अयुग्म ताल है। अयुग्म ताल होने के कारण इसकी गति चपल है इसलिए गीतो के बोलो के अनुसार यह बिल्कुल सटीक बैठती है। इसमें 7 मात्रा, 3 विभाग, 1,4 पर ताली तथा 7 पर खाली है।

ती ती ना। धी ना। धी ना

× 0 3

प्रकार-(1) ती ती नाना। धीधी नाना। धीधी नाना।

× 2 3

(2) ता तीना तिट। धीधी नाना। धीधी

× 2 3

(4) दीपचंदी ताल–मुख्य रूप से इस ताल का प्रयोग ठुमरी व होली के लिए होता है। यह शृंगार प्रधान ताल है। इसमें 14 मात्राएँ, 4 विभाग, 1,4 और 11 पर ताली तथा 8 पर खाली हैं।

धा धिं-। धा धा तिं-। ता तिं-। धा धा धिं-।

× 2 0 3

प्रकार-(1) धा ति ट। धा धा तिं-। ता तिट। धा गे

× 2 0 3

धिं-।

(2) धा धिं-। धा-तिं-। ता तिं-। धा-धिं-।

× 2 0 3

(5) झपताल– यह तबले की प्रचलित तलों में से एक है। कुछ-कुछ गीतों में झपताल का प्रयोग मूल ठेके को परिवर्तित करके किया गया है। इसमें 10 मात्राएँ, 4 विभाग, 1,3,8 पर ताली तथा 6 पर खाली है।

धी ना। धी धी ना। ती ना। धी धी ना।

× 2 0 3

प्रकार-(1) धी ना। धी धी ना। ती ना। धीना धीधी

× 2 0 3

नाना।

(2) धी ना। धीना धीधी नाना। ती ना। धीना

× 2 0 3

धीधी नाना।

(6) तीनताल–यह उत्तर भारत की सबसे प्रचलित ताल है। यह मध्य, द्रुत, अतिद्रुत लय में बाने के लिए अत्यंत उपयुक्त ताल है। कुछ गीत शास्त्रीय रागों पर आधारत होते है। जिनमें तीनताल का प्रयोग किया गया है। इसमें 16 मात्रा, 4 विभाग, 1,5,13 पर ताली तथा 9 पर खाली है।

धा धिं धिं धा। धा धिं धिं धा। धा तिं तिं ता। ता धिं धिं धा।

× 2 0 3

प्रकार-(1) धा घेना धिन धा। धा घेना धिन था।

× 2

ता केना तिन ता। ता घेना धिन धा।

× 3

(1) धा तेटे धिं ना। धा तेटे धिं ना। ता तेटे तिं ना।

1. मराठे भालचंद्र राव, ताल वाद्य शास्त्र, पृष्ठ सं. 68

× 2 0

(7) **पश्तो ताल**–यह ताल रूपक का ही एक प्रकार है। इसका प्रयोग गीत, भजन तथा लोक गीतों के साथ सुनने को मिलता है। इसमें 7 मात्रा, 2 विभाग, 1,4, 6 पर ताली है।

तिं–तक। धिं-। धा गे।

× 2 3

(8) **धुमाली ताल**–शृंगार रस प्रधान अस ताल का प्रयोग गीत भजन और लोक गीतों के साथ किया जाता है। इसमें 8 मात्रा, 4 विभाग, 1,3,7 पर ताली और 5 पर खाली है।

धिं धिं। धा तिं ना धिं। धागे तिरकिट।

× 2 0 3

संदर्भ ग्रंथ सूची–

1. मराठे भालचंद्र राव : ताल वाद्य शास्त्र : पुस्तक सदन, ग्वालियर, 1991
2. सरल भीमसेन : तबला संगत एवं कनिष्क पब्लिशर्स, कलाकार, नई दिल्ली
3. शर्मा इंदु : भारतीय फिल्म संगीत : कनिष्क पब्लिशर्स में ताल समन्वय, नई दिल्ली
4. श्रीवास्तव गिरीशचंद्र : ताल परिचय भाग : रूबी पब्लिकेशन, 1,2,3 इलाहाबाद
5. सेन अरूण कुमार : भारतीय तालों का मध्यप्रदेश हिंदी, शास्त्रीय विवेचन, अकादमी

फुटनोट

1. मराठे भालचंद्र राव, ताल वाद्य शास्त्र, पृष्ठ सं.68

थाती

राजस्थानी लोकनाट्य व लोकनृत्य में संगीत

डॉ. शशिकला राय

सहयोगी प्रोफेसर

सावित्रीबाई फुले पुणे विश्वविद्यालय

भारत की लोकसंस्कृति की परम्परा का इतिहास प्राचीन है और विश्व सभ्यता में उसकी अपनी महत्वपूर्ण भूमिका है। भारतीय संस्कृति बहुधवन्यात्मक है और बहुरंगीय है अर्थात् विविध परम्पराओं का मिला जुला रूप; इसको इसकी सम्पूर्णता में परन्तु बारीकी से समझना आवश्यक है। एक प्रश्न उठता है इसको समझना क्यों? और इस समझ की साझीदारी में हर समय की पीढ़ी को शामिल ही क्यों करना? युवा कथाकार संदीप मील का एक प्रश्न मुझे कहीं गहरे मथ देता है - 'लोकगीत या लोकसंस्कृति को आप बचाना ही क्यों चाहते हैं? कि भारतीयता के विराट पटल पर छा गये इस प्रश्न से मैं उलट अपने में समा गई। यही तो था जानना। अगर इस प्रश्न का उत्तर है हमारे पास तो लोकसंस्कृति बच जायेगी अैर अगर इस 'क्यों' का उत्तर नहीं है तो योजनाएं, प्रयास, मुखौटा बन कर रह जायेगा।

अज्ञेय जी कहते हैं - ''मेरा मेरे पास एक सांस्कृतिक परम्परा है और मेरी संवेदना है और बाकी तो शिल्प है।'' इससे मुझ जैसे तमाम वे लोग सहमत होंगे जो ये मानते हैं कि 'किसी भी देश की सांस्कृतिक परम्परा और सृजनकर्ताओं की संवेदना ही उस देश के व्यक्ति के अस्तित्व नहीं और उस देश के भी अस्तित्व का परिचायक होती है। पहले उस क्यों के आलोक में लोकसंस्कृति के अंग लोकसंगीत को देखें - लोकसंगीत का केन्द्र मनुष्य ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण सृष्टि है। लोकसंगीत (लोकगीत, लोकनृत्य, लोकवाद्य) में जनचेतना, पर्यावरण, संरक्षण, पृथ्वी, प्रकृति से मनुष्य का अटूट गहरा नाता बन कर छलकता है। लोकसमाज में ज्ञान विचारें और भावनाओं का संचार मुख्य रूप से मौखिक परम्परा द्वारा ही होता है। ऐसे समाज को समझने के लिए मौखिक परम्परा के अध्ययन का महत्व असंदिग्ध है। लोकसंगीत, उपदेश, नीति शिक्षा एवं विकास की लोक अवधारणाओं का भी सतत् वहन करता है। इसका संबंध पुरूष और स्त्रियों दोनों से है बल्कि स्त्रियों की भागीदारी कुछ ज्यादा है। घर के आंगन से लेकर जात तक विवाह के मड़वे (मंडप) से लेकर खेत तक खेत से चौपाल और पंचायत घर तक गाये जाने वाले लोकगीत केवल श्रमपरिहण और मनोरंजन ही नहीं करते बल्कि अपनी प्रतिबद्धताओं को लेकर आगे बढ़ते हैं

ये लोकगीत सांप्रदायिक सद्भाव करूणा, संवेदना, मनुष्यता के धागे से बुने जाते हैं। इक्कीसवीं सदी का दूसरा शतक उत्तर आधुनिकता का शोर भी कुछ मद्धिम हो चला है। मराठी का एक शब्द उधार लूं तो अफाट (प्रचंड) विकास होने लगा। तकनीक विकास को वैधानिक विकास के पर्याय के रूप में देखा जाने लगा। अत्याधुनिक सुविधाओं से लैस मनुष्य को तो सुखी ही कहना चाहिए। आज का मनुष्य सुखी है क्या? यह प्रश्न उठते ही जेहन में एक खबर कौंधती है जापान में अवसाद से उबरने के लिए लोग अपनी कब्र खोदकर लेटने लगे हैं। एक त्रासद मुस्कान सहज तैर जाती है। मशीनें जीवन का रस नहीं दे सकती हैं। यह जीवन को

उल्लास से नहीं भर सकती। मशीनें मानव जीवन को जटिल कर रही हैं; जीना कठिन बना रही है। संवेदना छीजती जा रही है। मैं यह नहीं कहती कि लोकगीतों से जुड़ना सभी समस्याओं का समाधान है परन्तु इतना अवश्य कहूंगी कि जिंदगी में रस भर कर यह मनुष्य को अधिक सहृदय बनायेगी। अलग-थलग अकेले पड़ते जा रहे मनुष्य को पुनः सामूहिक होना सिखायेगी और इस बात के लिए शायद मना ले कि मशीनें साधन मात्र हैं। मनुष्य जीवन का साध्य नहीं। इसी ध्येय को केन्द्र में रखकर राजस्थानी लोकनाट्य में संगीत का परिचय देने का विनम्र प्रयास यह लेख है -

लोकनाटक व्यक्तिगत नहीं बल्कि सामाजिक प्रतिभा से उत्पन्न होता है। देवीलाल सामर जी का मानना है लोकनाट्य को अपना आकार पाने में कई बरस लग जाते हैं। लोकनाट्य की प्रस्तुति ना तो शास्त्रीय विधान से होती है ना ही उस तरह की रंगशाला जरूरत होती है। गाँव के चौराहे पर किसी भी खुली जगह पर इसकी प्रस्तुति होती है। इसके हेतु आवश्यक संसाधन गाँववाले ही जुटा देते हैं। गाँव में रामलीला खेली जाती है। वह लोकनाट्यधर्मी होती है। मुझे याद है बचपन में रामलीला का दल दरभगा से यू.पी. हमारे गाँव आता था। और पंद्रह दिन तक रामलीला चलती थी। साड़ी कपड़े गाँववाले देते ही थे इस दल का खाना भी प्रत्येक घर में एक दिन की बारी से सम्मान खिलाया जाता था। दिन में सामान्य से लगनेवाले रात होते ही सब बदल जाता था। राम की कथा हमारा गाँव ही अयोद्धा हमारा गाँव ही जनकपुरी। वर्षभर गाँववालों को इस दल का इंतजार रहता। लोकनाट्य गाँव का त्यौहार है। यह सामाजिक प्रतिभा की सृष्टि है।

हम लोकनाटकों में गीतों की प्रधानता पाते हैं। नृत्यों की भी प्रधानता पाते है। लोकजीवन में स्त्रियाँ गाती भी नाचती भी है। लोकनाटकों में स्त्रियों का चरित्र भी पुरूष ही निभाते हैं। इसका कारण बकौल देवीलाल सामर ''नाटकों में गीतों के लिए मीलों दूर तक आवाज फेंकनेवाले बुलंद स्वरतंत्र की अपेक्षा होती है। नृत्य के तीव्रतम पदचापों की। अभिनेता जब तक बुलंद आवाज में गाए नहीं तीव्रतम गति से नाचे नहीं तब तक समस्त नाटक का रंग फीका रहता है। दर्शक का आग्रह सुंदर स्त्री के अभिनय के लिए नही होता। आवज की बुलंदी और तीव्र नाच के लिए होता है। इतना ही नहीं देवीलाल सामर जी आगे यह भी कहते हैं लोकनाट्य का नियमित दर्शक नाटक के कई अभावों से समझौता कर लेता है। अभिनेता, मंच सज्जा कथानक का सौष्ठव, वह इनकी शिकायत नहीं करता लेकिन गीत और नृत्य की शिथिलता इन्हें गंवारा नहीं। अर्थात लोकनाट्यों की प्राणशक्ति उनके गीत और नृत्य होते है। जन सामान्य का अनुरंजन करने की शक्ति पात्रों के गीत-नृत्यों गीत संवादों की कुशलता में होती है। कथा का गठन या सामाजिक मूल्य इसकी कसौटी नहीं होती। लोकनाट्य पद्य में ही रचे जाते हैं। लोकनाट्य में गीतो की प्रबलता इस तरह होती है कि बहुधा संवादों का काम लोकगीतों से लिया जाता है। नाट्यगीतों की बंदिशें भी प्रसंगानुसार विभिन्न रसों के अनुरूप होती हैं। क्रोध पूर्ण संवादों में गेयता अपनी राह छोड़ कर तालबद्ध गद्य प्रणाली में उतर आती है। जिनमें ताल स्वर तो होते हैं परन्तु गाते समय लगता है केवल शब्दोच्चार हो रहा है। करुण प्रसंगों और विलाप के अवसरों पर ये रचनाएँ रूला कर छोड़ती हैं। लोकनाट्य किसी भी क्षेत्र का हो उसमें गीत और नृत्य की प्रधान भूमिका होती है। लोकनाट्य को दर्शकों के लिए ये गीत और नृत्य ही ग्राह्य बनाते हैं।

राजस्थान में लोकनाट्य की अनुपम बहार रहती है। राजस्थान के ख्याल में भी नृत्यों की बहार रहती है। ये लोकनाट्य घटनात्मक न होकर गाथात्मक होते हैं। राजस्थान ही क्यों सम्पूर्ण भारत के लोकनाट्य घटनात्मक न होकर गाथात्मक होते है। लोकनाट्य सदैव परिवर्तन शील होते हैं।

राजस्थानी कुछ लोकनाटयों की चर्चा करना चाहूँगी। सभी संभव नहीं हैं।

ख्यालः

देवीलाल सामर के अनुसार ख्यालों की एक लोकधर्मी परम्परा 17वीं शताब्दी में आगरा के निकट हुई थी। यही परम्परा 18वीं शताब्दी में राजस्थान के रंगमंचीय ख्यालों के रूप में परिवर्तित हुई जो आज भी राजस्थानी जनजीवन को उर्जा और उमंग से ओतप्रोत कर रही है। डॉ. महेन्द्र भानावत ने बीस प्रकार के ख्यालों की सूचियाँ दी है। माच के ख्याल तुर्रा, कलंगी, कुचामणी शेखावटी, नौटंकी मेवाड़ी अलीवक्षी किशन रम्मतें, जयपुरी कठपुतलियों के ख्याल हाथरसी ख्याल गंधर्वों नागौरी कड़ा, अभिनय प्रधान, कथावाचन, चौबाला झाड़ाशाही, दंगली। ख्यालों में संगीत पक्ष सर्वाधिक महत्वपूर्ण होता है। जिस ख्याल का संगीत पक्ष कमजोर होगा वह प्रदर्शन सफल नहीं हो सकता। इनके कलाकार किसी तरह के शास्त्रीय विधान में प्रशिक्षित नहीं होते। इसके बावजूद ऊँची तान में स्वयँ कलाकारों द्वारा संवादों गीतों और छंदों के गायन की रंगते लोगों के आकर्षण का मुख्य केन्द्र होती है। सोरठ, मॉड, मालकौस, जांगली, मुख्य वाद्य नगाड़े पर कहरवा, दीपचंदी दादरा तालें बजायी जाती हैं। नगाड़े के अलावा ढोलक सारंगी, मंजीरा और हारमोनियम जैसे वाद्ययंत्रों के लिए उपयोग में लिया जाता है। लोकधुनों की अधिकता के कारण वे अधिक लोकप्रिय होते हैं। राजा हरिश्चंद्र, राजा मोरध्वज, जगदेव कॉकली, भक्त पूरणमल, गोगा चौहान, अमर सिंह राठौड, का ख्याल प्रसिध्द है। इसकी भाषा मारवाड़ी है। इसमें हिंदू उर्दू का समावेश होता है। चिड़ावी ख्याल, लावणी, दूहा, शेर दुबोला, चौबोला काव्य शैलियों के लिए जाने जाते हैं। इसमें कथोपकथन नृत्य और रागों का सुंदर समिश्रण रहता है। इसमें गायक-वादक एक दूसरे से प्रतिस्पर्धा करते दिखाई देते है। इसी कारण इसमें कई बार नई अदायगियाँ लय और तानें तैयार हो जाती है।

लोकनृत्य -

लोकनृत्य और लोकगीत के संदर्भ में कुछ भी चर्चा करने से पहले उन विद्वानों के उदाहरण देना चाहूँगी जिन्होंने इन्हे सूत्रात्मक ढंग से रखा है।

''संगीत को ही मूर्त रूप देने के लिए नृत्य का जन्म हुआ।

रूक्मिणी देवी

''नृत्य चाहे शास्त्रीय हो अथवा लोकनृत्य की परंपरा का वह जनमानस में सूक्ष्म से सूक्ष्म भावों को अत्यंत सफलतापूर्वक उद्वेलित करने में सक्षम है। - कादाम्बिनी

आनंदित चित्त से गीत फूटते हैं अति आनंदित चित्त से नृत्य - हृदयनारायण दीक्षित

लोकनृत्यों में हमारे साधारण जीवन की जो झलक है वही हमारे जीवन की सबसे निकट की वस्तु है और उसी में हम आत्मीयता पाते हैं। - वीरेन्द्र मोहन स्वूडी

सामूहिक अथवा वैयक्तिक उल्लास की सर्वप्रथम अभिव्यक्ति मनुष्य का अपना स्वयँ का शरीर है। उसे अपने से बाहर करके देखने या दर्शाने की क्रिया ऐतिहासिक क्रम में लोक और शिष्ट संस्कृति की दीर्घयात्रा है। इस दृष्टि से नृत्य मुद्रा मानवीय उल्लास की प्रथम सहज कलात्मक अभिव्यक्ति है। किसी भी लोकनृत्य में प्रदेश विशेष जाति विशेष के जातीय जीवन का अंग है। इनमें इनका सामाजिक जीवन प्रतिबिंबित हो उठता है।

राजस्थान की धरती लोकसंस्कृति के संदर्भ में कुबेर की धरती कही जा सकती है। अपने भीतर अकूत संस्कृति की थाती सहेजे हुए।

प्रत्येक लोकनृत्य पर विस्तार से चर्चा संभव नहीं है। कुछ प्रमुख नृत्यों का परिचय देना अवश्य तर्क संगत होगा सर्वप्रथम हम उन नृत्यों पर बात करेंगे। जिन्हें सामाजिक परिप्रेक्ष्य में देखा और समझा जा है।

कृषि संबंधी लोकनृत्य

'भारत कृषि प्रधान देश है'। इस प्रचलित वाक्य के बजाय मैं यह कहना चाहूँगी भारत कृषि संस्कृति प्रधान देश है। यहाँ का उल्लास उत्सव, गीत नृत्य खेतिहरों की इर्द-गिर्द घूमता है। बीज रोपना, सिंचाई करना फसल की कटाई करते समय अनेक लोकनृत्य भारत के विविध प्रांतों में मिलते हैं। राजस्थान में होली तक रबी की कटाई हो चुकी होती है। सो कृाकों के यहाँ गीदड़ डांडिया नृत्य होता है। मारवाड़ में में बालिकाएँ लूर नृत्य करती हैं

लूर के प्रसिद्ध गीत गाती हैं।
आज म्हानै देवरिये से गैर खिला दे ए माँ
लूरा रमवा म्है जास्यां।

विजयोल्लास संबंधी लोकनृत्य

इस संदर्भ राजस्थान के प्रसिद्ध नृत्य और गीत घुडला को देखा जा सकता है। राजस्थान के भील आदिवासी शिकार और युद्ध के पश्चात नृत्य करते हैं।

संस्कार संबंधी लोकनृत्य

राजस्थान में बच्चे के जन्म मुंडन यज्ञोपवीत कर्णछेदन और विवाह गौना आदि के अवसर पर महिलाएँ रात्रि में घर के चौक में या मोहल्ले में विभिन्न तरह के रंग रंगीले घाघरे ओढ़नी पहन ओढ़ कर ढोल ताल पर नृत्य करती है। दूल्हा ब्याह के बाद जब पहली बार ससुराल आता है तब भी स्त्रियाँ नृत्य करती हैं

पर्वोत्सव

गुजरात में रासलीला (गरबा), उड़ीसा का चढ़ैया नृत्य, वसंतोत्सव, पर बिहार में करमा ज़ादूरा नृत्य देखा जा सकता है। नागालैंड में तेरहून्ये का नृत्य नये वर्ष के आगमन की घोषणा करता है। इस नृत्य के साथ होनेवाले गीतों में ईश्वर से अच्छी फसल विजय शांति तथा समृद्धि की प्रार्थना की जाती है।

लोकगीत और लोकनृत्य एक दूसरे के साथ इतनी गहराई से जुड़े हैं कि इन्हें एक दूसरे से अलग कर के नहीं देखा जा सकता। इतने आत्मीय कि एक दूसरे से अलग ही नहीं किया जा सकता। हाँ कुछ एक आदिवासी जनजातीय और कबीलाई नृत्यों में गीत नहीं होते बल्कि उनमें अलग-अलग ध्वनियों का प्रयोग होता है। किसी भी प्रदेश का लोकगीत- लोकनृत्य उस देश की परंपरा परिधान रहन-सहन से परिचित कराता है।

लोकनृत्य के साथ गाये जाने वाले गीत बहुधा शब्द प्रधान होते है। 4से 8 अंतरे वाले ये गीत किसी धुन में बँधे होते है। सामान्यतः 3,4,7 मात्रा की गतिवाले किसी आंचलिक ताल से निबद्ध होते हैं। ये नृत्य सामान्यतः उर्जावान और गतिप्रधान है। भारत में लोकगीतों और नृत्यों की दुनिया अत्यंत समृद्ध है। भावनाओं से प्रेरित लोकगीतों और नृत्यों की विधाएँ जैसे स्वतः सृजित हो जाती है। जो लोकगीत लोकनृत्य या कलाओं की सराहने की दृष्टि खो देते हैं उनके संदर्भ में फ्रेडरिक 'नीत्से' ''जिन लोगों को मधुर संगीत सुनाई नहीं देता वही लोग दूसरो को नाचते देख उन्हें पागल बुलाते हैं''।

राजस्थान की विराट धरती पर लोकनृत्यों की विविधवर्णी नवरंगी घटाए हैं। दृटांत स्वरूप कुछ महत्वपूर्ण नृत्यों की जरूर चर्चा करूँगी।

गैरः

गैरिए रंग बिरंगे चमकीले मनमोहक वस्त्र पहनते है यह गैर एक बड़ता दो बड़ता। अंदर बाहर कड़ी के रूप में चलते हैं। ढोल व कुंडी की थाप के सहारे शुरू होनेवाली 'गैर' नृत्य के गीत की शुरूआत कुछ यूँ होती है-

जाए है... होली
जाए है... होली... हो
पासिया ने घेरे पारेवा
एक पारे वो धोरो ने एक परिवो कारो
हो... हा... हे

'गैर' में नर्तक ही नहीं नर्तकियाँ भी शामिल होती हैं। वृत्ताकार इस 'गैर' में वादक बीच में

अपना कमाल दिखाते हैं। गाँवों के मध्य चौराहों पर रात-रात भर चलने वाले गैर के दिलचस्प नृत्य दूर दूर तक वातावरण को अपनी ओर बाँधे रखते हैं।

मौटे तौर पर चार तरह के गैर नृत्य दिखाई देते है -

1. डांडिया गैर 2. आंगिया गैर 3. चंग गैर 4. तलवार गैर।

लूर

लूर नृत्य होली के दिनों में किया जाता है। लूर नृत्य में जो गीत गाए जाते हैं, वे आँके-बाँके भरपूर मनोरंजन करनेवाले यौन भावनाओं को उद्दीप्त करनेवाले, प्रेम और श्रृंगार से संबंधित होते हैं कई गीतों में प्रेमी की खिल्ली भी उड़ायी जाती है -

काजालिया काढूँ तो म्हारे
नेणां पाणी आव रे
ओढ़णियों ओढूँ तो कोई लारे
पड़ जाव रे।
बलम रांडा पो
राम जी हराम हो रयो रे बालम

इंदरपुरी

जब भी 'सहरिया' लोग उमंग में होते हैं, नृत्य के लिए जुड़ जाते हैं, इस नृत्य में पुरूष अपने मुँह पर भाँति-भाँति के मुखौटे लगाते हैं। यह नृत्य अपने गीत की गति से संचलित होता है। इस नृत्य के साथ गाये जाना वाला गीत रागिनी के नाम से जाना जाता है।

मोराई राम मिले सुदामा को
जबरी सुदामा की टूटी टपरिया (अंतरा)
लैर भई परभु की कंचन म्हल खड़े

मोराई

नाने सुदामा पे पगड़ी
नाने तंदुल पगड़ी बंधाई मोराई
लिक्षमण के रे बाण लग्यो
सगति लिक्षमण के
राजा बल के रे हारा मची रे
होली राजा बल के

चंग -

चंग नृत्य होली के अवसर पर सभी जगहों पर मिल जायेगा। परन्तु शेखावटी क्षेत्र का चंग नृत्य अपनी अलग पहचान लिए है। इस नृत्य में लम्बी लम्बी लय के गीत गाए जाते है। चंग पर थपकी देते हुए नृत्य का प्रारंभ धमाल गाकर एक युवक करता है। फिर सभी उसके स्वर में स्वर मिलाकर धमाल गायेंगे। धमाल भक्ति प्रणय विरह करूण गीत से ओत प्रोतः होती है। धमाल गीत अलग-अलग रसों की सष्टि करते हैं। कलबेकियाँ महिलाएँ भी चंग लेकर निकल पड़ती है।

कुड़ा माय कबूतर बोले क्यारे-क्यारे भूत रे
निरखण वालो सात जनम ले
गिण-गिण मेलू जूत रे
चटा चट पड़वा दो
टाटा री टाट जड़वा दो

रसिया

ब्रज से प्रभावित रसिया नृत्य होली के पहले से प्रारंभ होकर कुछ दिन बाद तक चलता है। यह पुरूषों का नृत्य है। रसिया के गीतों की रचना का लंगड़ा जिकडी सादा लावणी बहर आदि छंदों मुं अधिक मिलती है। ये छंद रंगत भी कहलाती है। गाने वाले ऐसे उस्ताद होते है कि एक सौ कडी के रसिया गाते है। रसिया गीतों के विषय यशोदा कृण तथा असे सम्बध्द आख्यान से लेकर आधुनिक राजनीतिक के रंग तथा समाज चेतना से जुडे सरोकार होते है

जमुना किनारे मोरो गाम रे साम रे
आई जङ्घ्यो
तुमसौ फंसी रहयो प्रेम हमारों

लालकेश्या

ये गीत उन्मुक्त हास्य बिखरेते हुए जीवन को खोलने वाले होते हैं। लाल ने केश्या गीतों के गूंज और

उनके सहारे नाचने वाली भील, मीणा, कालबेलिया और वागरिया महिलओं की उन्मुक्त अँगड़ाई सारे बंधन खोलती हुई लगती है

चंग ब जातो नैण मिला तो
साजन हे लो पाड़े रे

घूमर

राजस्थान में लगभग सभी जगहों पर घूमर का नृत्य होता है। इसमें नृत्य में विशिष्ट प्रकार का घाघरा पहना जाता है। कई बार एक सौ आठ कली का घाघरा पहन कर यह नृत्य किया जाता है।

अस्सी कलौ रे घाघरो
कली कली में घर

राजस्थान में जयपुर, कोटा, बूँदी जैसलमेर, प्रतापगढ़, उदयपुर बीकानेर की घूमर बड़ी नामी रही है। घूमर के साथ गाए जाने वाले कुछ प्रसिद्ध गीतों के बोल निम्नलिखित है -

म्हारो, घूमर छे नखराली
ए माँ
कजल भरियो कूपलो
पड्यो पलंग अधवीच

सागर पाणी कैसे जाऊँ
सा नजर लग जाय

काजलिया

काजलिया नाम के संबोधन के विविध जातियों में विविध गीत मिलते है। आदिवासी महिला के अलावा भी। कई महिलाएँ होली के समय काजलिया गाती है। इन गीतों के साथ जो नृत्य किया जाता है उसे काजलिया कहते हैं

गोरी फागणियों बागे
ओ रिहामा बहनो
फागणियों बोल

हीड़

दीवाली पर रात्रि में आदिवासी लोग समूह रूप में घर घर जाकर हीड़ नृत्य करते हैं। हीड़ का तात्पर्य देखके से है जो सर्वत्र शुभमंगल की कामना करता है। हीड़ सम्बन्धी जो गीत गाए जाते है उसमें धरती परती तथा बैलों को महात्म्य वर्णित रहता है।

ये नृत्य मुख्यतः गाएँ चराने वाले ग्वाले मिल कर करते है गीत के बोल है

धोला धोला रे सुभर जी
गाया रे गुवाल हीड़ा बोले

हुंदरी

हुंदरी का ताप्तर्य सुंदरी से है। मुख्यतः यह भील भीणा युवतियों का नृत्य है इस समय इनके द्वारा गाए जानेवाले गीत प्यार मुहब्बत बनाव श्रृंगार मान मनुहार इत्यादि के होते हैं।

कूद

इस गरसिया नृत्य को स्त्री पुरूष मिल कर नाचते है। इसमें नृत्य के नाम पर तो केवल उछल कूद किया जाता है परन्तु गीत बड़ा लयात्मक गाया जाता है।

जोई न जोई मारा
रीझे परण
हाथो वारो हाथ
मेली जाना परणां
हाथों वारो हाथों
पान ले वा रेई सेमाँ

गौर

गौर नृत्य सरसियों में प्रचलित है नृत्य के समय गणगौर विषयक गीत गाएँ जाते है। एक गीत जो लड़कियाँ गाती है। बड़ा ही कारुणिक होता है। इस वर्ष गणगौर सामूहिक रूप से मना ले अगले वर्ष की गणगौर क्या पता विवाह हो गया तो शायद ही मिल पायेंगी।

ऐसी रे गणगौर धोरणा
ओल्यू दोल्यू करला ले।

तेरातली

कामड महिलाएँ तेरा ताली का नृत्य करती है। पुरूष उनके साथ मजीरा और तानपुरा पर भजन गाते

है। तेरा ताली के संदर्भ में बहुत सी लोकोक्तियाँ प्रचलित है

सास बहू ने आपस में इ खा लियो
आंठोणो की नाच तेरा तालियों

बिछुडो

यह नृत्य कालबेलिया औरतों में बड़ा लोकप्रिय है। इसके साथ छोटा सा चंग बजाया जाता है।

तालेरिया रमती ने म्हाने
बिच्छू घणे रे खायो सा
अर र र गई मर रे
उतार बिछुडो
म्है तो दडी खेलवा गई सा
चढ़ ग्यो म्हाने वैरी बिछुड़ो

कंजर

कंजर जाति के नृत्यों में स्वस्थ मांसलता तथा स्फूर्त ताजगी देखने को मिलती है। पुरूष और महिलाएँ मिल कर नाचते हैं। नृत्य के समय जो गीत गाएँ उनमें गोरबंद कांगासियों इडोणी आदि गीत लोकप्रिय है-

गाय चरौती गोरबंद गूंथियो
भैस्या चरौती पोयो पोया राज
म्हारो गोरबंद नखरालो
आली जा म्हारो गोरबंद लूमालो

विठाण चकरी

यह नृत्य सामान्यतः फाग राग पर आधारित गीतों से शुरू होता है। तब एडी तथा पंजे के बलपा कंजर महिलाएँ थिरक उठती है। प्रारंभ में सीध नृत्य होता है। फिर नाचनेवाली फाग राग के गीत चकरी लेना प्रारंभ करती है।

रोहिड़ा

रोहिड़ा नृत्य में मेवाड़ में बसी रावत जाति की महिलाओं में प्रचलित है। मंदिर में भगवान को रिझाने के लिए अराधना एवं स्तुति के रूप में यह नृत्य किया जाता हे। दैनिक जीवन की कामकाज की प्रमुख क्रियाओं को इस नृत्य के माध्यम से बड़े ही सुंदर भावों में आटा पीसना, छाँछ बिलोना, कंउे थापना, घर बुहारना पानी भरना, रोटी बनाना, दूध दूहना, घटटी फेरना। अनाज साफ करना सूत कातना, गोफण चलाना, चडस हॉकना इत्यादि प्रमुख है।

कच्छी घोड़ी

काठ की बनी वह घोडी जो कमर में पहन कर नचायी जाती है। इस घोड़ी के नाच के साथ कहीं कहीं स्त्री स्वाँगिया भी होता है। दोनों के आपस में दोहे चुटकुले के माध्यम से सवाल जवाब चलते रहते है। जो बड़े मीठे, रोचक, श्रृंगार मूलक होते है। इन दोहों के साथ नृत्यकारों की भाव लहरिया वातावरण को अधिक प्रफुल्ल बना देती है। उदा.

घोडी वाला
निजर करै तो नेह कर तीतर नेह
निवार
सुण प्यारी छैला कहे, उल्टा बाण मत मार।
स्त्री
आछी कही रे साजना म्हारे
लागी अंग
एक पीलो सो दूहो कहै तो चालू
थारे संग

रागिनी

सहरिया आदिवासियों में प्रचलित यह नृत्य उत्सव मेले ठेले त्यौहार तथा किसी मांगलिक अवसर पर किया जाता है। यह पुरूषों का नृत्य है जो गीत गाए जाते है वे धर्म अध्यात्म के गूढ तत्व लिए होते है, इन गीतों को भी रागिनी ही कहा जाता है

उरिए उरिए रे समंद
तो में नाए
राम बिना नैया थकत कैसे राई

कीलियो बारियो

ये रेगिस्तानी इलाके का नृत्य है। नवोढ़े जवाई के लाड चाव हेतु देर रात महिलाओं द्वारा यह नृत्य

प्रस्तुत किया जाता है। जब पुरूष सो जाते है तब महिलाओं द्वारा यह नृत्य प्रस्तुत किया जाता है। महिलाए जँवाई के सामने विविध गीतों के साथ मनभावना नृत्य करती है।

लांगुरिया

लांगुरिया नृत्य करौली क्षेत्र का बडा लोकप्रिय नृत्य है। लांगुरिया लोकदेवी केला का भक्त है। लांगुरिया को रिझाने के लिए जो गीत गाए जाते है वे लांगुरिया नाम से ही जाने जाते है।

मुख दिखला जा रे लांगुरिया
मेरे गोने की घडी
माता पिता के घर कू छोड़ो भैया
को परिवार
तेरे संग में प्रेम कियो मैं से जन
कियो पियार

भणत

भणत बाणमेर जिले का श्रमनृत्य इससे कृाकों की कार्यशक्ति द्विगुणित नहीं दसगुना बढ़ती हुई साहस उल्लास और ताजगी लिए होती है। इस श्रम नृत्य के साथ जो भणते गायी जाती है। वे कई रूप रंग कथ्य और तथ्य लिए होती है। वे केवल मनोविनोद ही नहीं देती इतिहास धर्म संस्कृति क्रीड़ा कौतुक शिक्षण संदेश एवं सामाजिक वैयक्तिक रिश्तों नातों तथा संबंध सरोकारो के कई दिलचस्प तथ्यों को हलचल देने झकझोरने और स्मृतियों में लाने की भूमिका भी निर्मित करती है।

सिरोही तलवार ए भाई ओ
कबोड़ी कटार ए भाई ओ
दूनानी बंदूक ए भाई ओ
लोंकी तीख भूख ए भाई ओ
भूरियो झवरो ऊँट ए भाई ओ।

जिस तरह प्रकृति में रंगों की अनगिनत छवियाँ है उसी तरह राजस्थानी लोकगीत जिन्दगी और कलाओ के भव्य फलक पर अपने पूरे सौन्दर्य गरिमा और अनिगनत अमिट छवियों के साथ मौजूद है।

गुरू पूर्णिमा पर बिरहा अखाड़ों में दिखता है अद्भुद दृश्य

डॉ. धनंजय चोपड़ा

डिपार्टमेंट मीडिया ऑफ स्टीड, इलाहाबाद विश्वविद्यालय

ऐसे समय म जब बरास्ते मीडिया यह उम्मीद की जा रही है कि हम अपने सामाजिक ताने-बाने को सामान्य साक्षरता और समझ की उस हद तक तो ले ही जायगे, जहां से अपने देश को विकसित राष्टङ्ख के हो जाने का गौरव दिलाने के लिए सार्थक कदम बढ़ाया जा सकता है, तब हम कास्टिंग सिस्टम के उस मजबूत आधार की याद आती है, जो हमारे साथ तब था जब हम समाज के गढ़े जाने के समय म थे। ह्यूमन कांस्टिंग सिस्टम यानी हमारी वाचिक परम्परा। यह सिस्टम या फिर यूं कह कि यह परम्परा एक बार फिर महत्वपूर्ण हो चली है। वास्तव म समाज के एक दम निचले और एकदम भीतरी स्तर तक जाकर जन-जागरूकता लाने का जो काम कास्टिंग के आधुनिक सिस्टम यानी प्रिंट कास्ट, टेली कास्ट, ब्रॉड कास्ट और वेब कास्ट नहीं कर पा रहे हैं, उसे वाचिक परम्परा के उपक्रम यानी हयूमन कास्ट के सहारे पूरा किया जा सकता है। और, जब हम वाचिक परम्परा की ओर देखते हैं तो हमारा ध्यान हमारे वे लोक काव्य- लोक गीत आकर्षित करते हैं, जिन्होंने अपनी जातीय, धार्मिक व देशज हदों को न केवल पार किया है, बल्कि नये-नये प्रयोगों की संभावनाओं को तलाशा, तराशा और उन्ह आत्मसात कर अपने को अद्यतन समाज के अनुरूप तैयार कर लिया। एक बड़ा सच यह भी कि इस तरह का अभिनव प्रयास उस समय इनकी लोकप्रियता के ग्राफ बढ़ाता रहा, जब आधुनिक के संकट को लेकर पूरा संस्कृति-समाज हाय-तौबा मचा रहा था। इन लोक काव्यों-लोक गीतों म जो नाम सबसे ऊपर हैं, उनम बिरहा शामिल है। प्रत्येक लोक कला की ही तरह बिरहा का भी इतिहास अलिखित बिखराव लिये हुए है। लेकिन, इसके बरक्स बड़ी बात यह है कि लोक स्मृतियों म यह जिस तरह से दर्ज होता आ रहा है, वह अद्वितीय है।

यद्यपि बिरहा गायक और जनश्रुतियां सत्रहवीं शताब्दी म बिरहा गाये जाने का हवाला देती हैं, लेकिन इसका कोई प्रत्यक्ष प्रमाण या फिर किसी बिरहा गायक के प्रसिद्ध होने का कोई प्रमाण या उनका नाम उपलब्ध नहीं मिलता है। इस तरह के साक्ष्यों की उपलब्धता उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध म मिलती है। इन्हीं साक्ष्यों के आधार पर आधुनिक बिरहा का जनक बिहारी लाल यादव उर्फ बिहारी गुरू को माना जाता है। बिहारी गुरू ने बिरहा को लोकप्रिय बनाने की मुहिम चला रखी थी। बिहारी ने ही बिरहा को शहरी मंच पर प्रस्तुत करने की पहल की। पहली बार बिरहा संगीत नगरी बनारस के मंच पर प्रस्तुत हुआ। यह समय १८८६ के आस-पास का था। उन दिनों बनारस के देवी मंदिरों के श्रृंगार के अवसर पर कजरी उत्सव हुआ करते थे। बिहारी गुरू अपने बिरहा के साथ इन्हीं कजरी उत्सव के मंचों पर उपस्थित हुए और छा गये। इन दिनों तक बिहारी गुरू गायक व कवि, दोनों ही रूप म प्रसिद्ध हो चुके थे। बिहारी गुरू के शिष्यों ने भी बिरहा को दूर-दूर तक फैलाने का काम प्रारम्भ कर दिया था। कहा जाता है कि बिहारी गुरू स्वयं

भी अपने शिष्यों को बहुत प्रोत्साहन देते थे। स्वयं मंच पर उपस्थित तो होते ही थे, अपने साथ शिष्यों को भी उपस्थित कराते थे। अधिकांशतः गीत गाने का अवसर बिहारी गुरू अपने शिष्यों को ही देते। यही वजह थी कि उनके शिष्यों ने उन्ह ईश्वर की तरह पूजा और अब भी पूजते आ रहे हैं। वाराण ासी शहर से लगभग सात किलोमीटर की दूरी पर कपिलधारा नामक स्थान पर कपिलमुनि का आश्रम स्थित है। इसी आश्रम म बिहारी गुरू की प्रतिमा स्थापित की गई है। बिरहा गायकों व कवियों के लिए यह स्थल किसी तीर्थ स्थान से कम नहीं है। गुरू पूजा के अवसर पर यहां मेला लगता है। देश भर से बिरहा गायक यहां उपस्थित होते हैं और अपनी अपनी प्रस्तुतियों के माध्यम से बिरहा के पितामह बिहारी गुरू के प्रति श्रृद्धानवत होते हैं। गुरू पूजा के अवसर पर कपिल मुनि के आश्रम म पहुंचना न केवल गुरू-शिष्य परम्परा से जुड़ने का अवसर देता है, बल्कि एक महत्वपूर्ण लोक कला की जीवंतता से रू-ब-रू भी कराता है। प्रस्तुत है ऐसे ही एक गुरू पर्व के उत्सव का आंखों देखा विवरण :

गुरु पूर्णिमा। गुरु पूजा का पावन पर्व। वाराण ासी के कपिलधारा स्थान पर कपिल मुनि का मंदिर। समय है सुबह के दस बजे। मंदिर को धोया जा रहा है। यहां कई देवी-देवताओं की मूर्तियां हैं। मंदिर परिसर म अखाड़ा, तालाब, छतरी, बैठकी, सीढ़ियां और घण्टे-घड़ियाल एक अद्भुद सा आभास दे रहे हैं। मंदिर की एक और विशेषता है। यहाँ मंचीय बिरहा के जन्मदाता बिहारी गुरू की मूर्ति भी स्थापित है। यहीं बिहारी गुरू अपने शिष्यों को बिरहा गायन की शिक्षा-दीक्षा दिया करते थे। यहीं से बिहारी गुरू का अखाड़ा संचालित होता था। यही वजह है कि बिहारी गुरू के बाद उनकी गद्दी सम्भालने वाले पत्तू गुरू और फिर गद्दी पर बैठे रामसकल गुरू की भी मूर्तियां स्थापित की गई हैं। बिहारी गुरू का ठीहा होने के कारण यह स्थान देश-दुनिया के बिरहा गायकों के लिए तीर्थ के समान है। मुझको बताया गया है कि गुरू पूजा के दिन यहां देश भर से बिरहा गायक जुटते हैं और अपना गायन प्रस्तुत कर बिहारी गुरू के प्रति श्रद्धा अर्पित करते हैं।

कहते हैं कि बिहारी गुरू के पुत्र पत्तू गुरू ने बिरहा गायन म कोई रूचि नहीं दिखाई। यही वजह रही कि बिहारी गुरू के चारों शिष्यों ने उनकी परम्परा को आगे बढ़ाने म योगदान दिया। चारों शिष्यों ने बिहारी गुरू के बाद अपने-अपने अखाड़े संचालित किये। बिहारी गुरू के अखाड़े की गद्दी उनके पहले शिष्य पत्तू गुरू ने सम्भाली। पत्तू गुरू के बाद उनकी गद्दी पर उनके पुत्र रामसकल बैठे और अब उनकी गद्दी उनके पुत्र विष्णु यादव सम्भाल रहे हैं, जो बिरहा कवि हैं।

सुबह के साढ़े दस बज रहे हैं। गुरू विष्णु यादव और उनके कुछ शिष्य, कुछ पुराने बिरहा गायक यहां आ चुके हैं। मंदिर की धुलाई की जा रही है। बिरहा गुरूओं की मूर्ति को गेरू से पोता जा रहा है। थोड़ी ही देर म पूरा मंदिर सज सा गया। पहले कपिल मुनि के मंदिर म पूजा अर्चना की गई। फिर भगवान शिव की अराधना और फिर बिहारी गुरू, फिर पत्तू गुरू और फिर रामसकल गुरू का पूजन-अर्चन। दीपक, धूप, पान, फूल, सुपाड़ी, मिठाई और तुलसी दल के साथ हुए इस पूजन का नेतृत्व विष्णु यादव ने किया।

अब बारी थी स्वयं विष्णु यादव के प्रति अखाड़े से जुड़े गायकों और कवियों के श्रद्धानवत होने की। पहले कपिल मुनि के दरबार म फूलों की माला पहनाकर, तिलक लगाकर, अखाड़े के वर्तमान गुरू विष्णु यादव के प्रति एक बुजुर्ग गायक की ओर से सम्मान व श्रद्धा व्यक्त की गई। बुजुर्ग गायक ने अपने गायन के माध्यम से गुरू वंदना प्रस्तुत की और गुरू पूजा पर्व पर गायन कार्यक्रम को विधिवत प्रारम्भ किया।

इस विधि-विधान के बाद सभी लोग मंदिर परिसर के एक बड़े आंगन म आ गये, जिसके चारों ओर बरांडे बने हुए थे। अब तक दोपहर बाद के साढ़े तीन बज चुके थे। मंदिर की प्रबंध कमेटी के

सदस्यों ने यहां के आयोजन की कमान संभाल रखी थी। आंगन की पश्चिम दिशा म एक दरी पर सफेद जाजिम बिछाई गई। अखाड़े के गुरू विष्णु यादव यहीं विराजमान हुए। गुरूवर के सामने एक थाली म रोली-अक्षत रखा हुआ था। माइक पर लगातार घोषणा की जाने लगी कि गुरू पूजा पर बिरहा गायन का विशेष कार्यक्रम शुरू होने जा रहा है। माइक पर की जा रही इस पुकार का असर दिखने भी लगा है। एक-एक करके ग्रामीण व आस-पास के लोग जुटने लगे हैं। धीरे-धीरे बड़े से आंगन का हर कोना लोगों की उपस्थिति की गवाही दे रहा है। अब बरांडों की बारी है। यह भी भर गया है। और अब छतों पर। खचा-खच।

इधर बिरहा गायक भी आने शुरू हो चुके हैं। सबसे पहले पहुँचे हैं काशीनाथ यादव। चंदौली से बिरहा गायक काशीनाथ ने गुरू विष्णु यादव को तिलक लगाया, अंगवस्त्रम् भट किया और गुरू दक्षिण ा के रुपये अर्पित किये। इसके बाद तो बिरहा गायकों के आने का तांता लग गया है। कोई गुरू के पगड़ी बांध रहा है, कोई अंगवस्त्रम् भट कर रहा है। सभी माला पहनाते हैं, तिलक लगाते हैं और रुपये अर्पित करते हैं। बदले म गुरू भी हर गायक को तिलक लगाकर आशीवाद देते हैं। अब तक जो गायक आ चुके हैं, उनम वाराणसी के मन्ना लाल यादव, आजमगढ़ के जवाहर लाल यादव, गोरखपुर के मुन्ना यादव, सुश्री मीरा गुप्ता, बिहार से राम नरायन यादव व सुश्री गीता त्यागी, बिहार के कैमूर जिले के ओम प्रकाश दीवाना, शिवनाथ यादव, बलिया के राम बिलास पाण्डे सहित दर्जन भर से भी अधिक गायक यहां आ चुके हैं।

बिरहा गायन का कार्यक्रम प्रारम्भ हो चुका है। एक-एक करके सभी गायक अपनी प्रस्तुति देने के लिए आतुर हैं। कमेटी के पदाधिकारियों ने एक तरफ टेबल लगाकर बिरहा गायकों का नाम नोट करना जारी रखा हुआ है। अखाड़े म बिहारी गुरू से लेकर विष्णु यादव तक के गुरूओं के प्रति सम्मान व्यक्त करने का अवसर कोई गंवाना नहीं चाहता। यहां न तो कोई बड़ा गायक है और न कोई छोटा। जिस क्रम म नाम नोट किया जा रहा है उसी क्रम म प्रस्तुति के लिए गायक-गायिकाओं को आमंत्रित किया जा रहा है। संचालन का दायित्व वरिष्ठ गायक काशीनाथ यादव ने संभाल रखा है। कुछ गायक अपनी मण्डली लेकर आये हैं, तो कुछ अखाड़े की ही मण्डली से काम चला रहे हैं। कई गायकों का साथ तो स्वयं दूसरे गायक दे रहे हैं। गायकों के बीच ऐसा सद्भाव लोक गायकों म ही देखने को मिलता है।

आयोजन स्थल खचाखच भरा हुआ है। सभी बिरहा गायन का आनंद उठा रहे हैं। आसमान म बादल घिर रहे हैं, पर इसकी परवाह किसे हैं। बिरहा है तो बिरह के बादल बरसगे ही। बस, सब कुछ चल रहा है। न गायक-गायिकाय थमने का नाम ले रहे हैं और न ही श्रोता थकने का। हर गायक बिरहा के लटकों-झटकों के साथ गीत के तरह-तरह का रूप प्रस्तुत करके कभी कवित्त का कमान प्रस्तुत कर रहे हैं तो कभी गायकी का। कोई कान पर हाथ धर के गा रहा है तो कोई हाथों म बिरहा का पारम्परिक वाद्य करताल लेकर। अद्भुद नजारा है।

कपिलधारा म एक और आश्चर्य देखने को मिला। जिस मंदिर परिसर म यह बिरहा गायन का कार्यक्रम चल रहा है, उसके बाहर चारों तरफ मेले जैसा दृश्य है। तरह-तरह की दुकान सजी हुई हैं, झूले लगे हैं और खेल-खिलौनों का संसार उपस्थित किया गया है। लगभग एक किलोमीटर की गली व सड़क के रास्ते के दोनों तरफ चल रहा यह मेला लोगों की भीड़ के चलते एक अलग ही आभा दे रहा है। कबीर व तुलसी के बाद किसी कवि-गायक के दरबार के बाहर पहली बार इस तरह का मेला देखने को मिल रहा है। बिहारी गुरू के दरबार म मत्था टेकने वाले भी हैं और कपिलमुनि के मंदिर म भी। आध्यात्म और संगीत का यह अद्वितीय संगम देश-दुनिया म शायद ही कहीं देखने को मिले।

आखिर वही हुआ, जिसका डर था। गरजते-लरजते बादल अन्ततः बरस ही पड़े हैं। हल्की

फुहारों के साथ गायन जारी है। गायक मन्नालाल यादव माइक पर हैं। न गायक माइक से हट रहा है और न ही श्रोता अपनी जगह से टस से मस हो रहा है। यह अद्भुत दृश्य है। पानी तेजी से बरसने लगा है। कुछ श्रोता बरांड़ों म आ गये हैं, लेकिन गायक और ढेर सारे श्रोता अभी भी डटे हैं। आज बादल मेहरबान हैं सो बारिश और तेज हो गई है। इस बार रुकना असम्भव सा हो गया है, सो सभी भागकर बरांड़ो म आ गये।

थोड़ी ही देर म बादल छंट गये और बरसात थम गई। देखते ही देखते मंच, माइक और मनुष्य एक बार फिर मैदान म। गायन शुरू हो गया। और देर रात तक चलता रहा।

सांय साढ़े छह बजे मैं वरूणा नदी के तट पर रम्मन गुरू के अखाड़े से जुड़े कवियों और गायकों के कार्यक्रम म पहुंच गया। यहां का दृश्य भी लोक की लौकिकता म नहाया हुआ मिला। प्रख्यात व वरिष्ठ बिरहा गायक हीरा लाल यादव व कवि मंगल यादव के नेतृत्व म आयोजित इस कार्यक्रम का अपना ही अंदाज था। वरूणा नदी के तट पर जेल रोड के किनारे विशाल पीपल के पेड़ के नीचे रम्मन गुरू का मंदिर स्थापित है। मंदिर म हाथ म करताल लिए गुरू रम्मन यादव की प्रतिमा स्थापित है। यहां देर रात्रि तक चलने वाले बिरहा गायन के बाद दिव्य भण्डारे की भी व्यवस्था की गई है। सैंकड़ों की संख्या म श्रोता जुटे हैं और एक से बढ़कर एक बिरहा गीत सुनाये जा रहे हैं।

इसी तरह राम कटोरा म स्थित बल्लू यादव के अखाड़े म भी गुरू पूजा का आयोजन किया गया। यहां भी मैंने दस्तक दी और गायकों और श्रोताओं से बातचीत की। उल्लेखनीय है कि पूर्वांचल और बिहार म फैले बिरहा के हर अखाड़े से गुरू पूजा का पर्व मनाये जाने की सूचना मिली। हर जगह गायकों ने श्रोताओं की उपस्थिति म अपनी प्रस्तुति देकर अपने गुरूओं के प्रति सम्मान और श्रद्धा व्यक्त की।

लोकगीतों में गंगा : सहरसा के संदर्भ में

डॉ. कुमारी कंचन

स्नातकोत्तर संगीत विभाग

तिलका मांझी भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर

गंगा हिन्दू धर्म मानने वालों के लिए आस्था का एक मुख्य केन्द्र है। सनातन धर्म में गंगा का महत्व धार्मिक परंपराओं और मान्यताओं वाले त्यौहार के रूप में देखा जाता है साथ ही यह आर्थिक रूप से भी भारतवर्ष की जीवनरेखा मानी जाती है। सबसे पवित्र नदियों में एक माने जानेवाली 'गेगा' के निर्मल जल पर किये गये शोधों से विज्ञान भी मानता है कि गंगाजल में किटाणुओं को मारने की क्षमता होती है जिससे इसका जल हमेशा-पवित्र रहता है।

मोक्षदायिनी और पापमोचिनी गंगा को लोक-जीवन देनेवाली माता के रूप में देखती है। कोई भी पर्व-त्यौहार हो या पवित्र माह में लगनेवाले मेले, ग्रहणों से लेकर पूर्णिमा, अमावस्या और एकादशियों तक गंगा स्नान के बिना पूजा, व्रत या उपवास फल पूरा नहीं माना जाता है।

सभी वर्ग की स्त्रियाँ जागते-सोते गंगा माता को स्मरण कर गीत गुनगुनाती है। सुबह उठते ही गंगा से स म्बन्धित गीत पराती सुनने को मिलता है :-

''प्रातः दरसन दीए ए गंगा मईया, प्रातः दरसन दीय।'' लोक संस्कारों में जितनी गंगा धुली-मिली है, शायद ही कोई दूसरे देवता घुले-मिले हों। जन्म मुंडन, विवाह और मृत्यु जैसे चारों महत्वपूण र्ा संस्कारों में गंगा माता की महिमा गितों के द्वारा सुनने को मिलती है। जब बालक का जन्म होता है तो बरही के दिन भी गंगा की पूजा की जाती है। इसमें महिलाएँ बरही पूजते हुए यह गीत गाती है :-

''जइसे बढ़ेला तोर लहरिया, हाली-हाली उठेला हो,
ऐ गंगा मइया, ओइसे बढ़ों सबके बंश।''

मुंडन संस्कार में बालक का मुंडन बड़े विधि-विधान के साथ किया जाता है। मुंडन प्रायः तीर्थस्थान, देवालय या गंगा घाट पर होता है। इसमें स्त्रियाँ-समूहबद्ध होकर बालक को ले जाती है और नाई द्वारा विधि पूर्वक बालक का मुंडन कराती है। मुंडन का बाल शिव और गंगा, दो ही देवता को समर्पित किया जाता है।

विवाह के समय भी विवाह का पहला निमंत्रण गंगा को ही दिया जाता है। विवाह गीतों में महिलाएँ इस गीत को अवश्य गाती है :-

''पहले नवता पेठाई मइया गंगा,
छूसरे में शिव भगवान हो,
ज्इसे बहत ऽ रहे गंगा के धार,
ओइसे बढ़ले एहउवात हो।''

विवाह के कई अनुष्ठानिक कार्यों में गंगाजल का प्रयोग होता है और माता गंगा की पूजा तब तक होती रहती हे, जब तक कंकन न छूट जाए।

मृत्यु संस्कार में प्राणान्त के पहले तो गंगाजल दिया ही जाता है, मृत्यु के बाद किया जानेवाला श्राद्ध क्रम गंगा जल के सहारे ही होता है। अर्थी को उठाते ही 'गंगा मैया की जय' बोला जाता है। तिलांजलि और पिण्डदान भी गंगा जल से ही दिया जाता है। मरने के साल भर बाद की बरसी भी गंगा जल से ही होती है।

कोसी अंचल के सहरसा जिले में प्रचलित लोकगीतों और लोककथाओं में गंगा का मुक्ति प्रदान करनेवाला रूप उभर कर सामने आता है।

कजरी, चैती, होरी-जैसे मौसमी गीतों, जन्म, मुंडन, विवाह और मृत्यु से जुड़े संस्कार गीतों पराती, भजन-सभी में गंगा की मौजूदगी इसी रूप में देखी जा सकती है। दैनिक धार्मिक कृत्यों और पूजनोत्सवों के क्रम में विभिन्न समुदायों के लोग गंगा का आवाहन करते तथा उनके प्रति-कृतज्ञता का भाव व्यक्त करते हैं। प्रत्येक समुदाय के लोग अपने-अपने ढंग से उनकी पूजा-अर्चना करते हैं।

लोकगीत ग्रामीण अंचलों में फैला हुआ मानवीय उल्लास की चटक चाँदनी है। सहरसा के मैथिल भाषा से जुड़ा हुआ लोकभाषा लोकसंगीत का किल-कोल कर रही है जो निम्न भावों से स्पष्ट होता है। ग्राम्य जीवन मानता है कि गंगा बांझ औरत तक को वंश तक दे सकती हैं। एक लोकगीत में एक नारी गंगा के यहाँ जाकर रोती है। गंगा पूछती है कि तुम्हें कौन सा दुख है। वह कहती है कि मेरे सात लड़कों को भगवान ने मार दिया, आठवां गर्भ में है। वह बच ही जाएगा, मुझे विश्वास नहीं है। इस पर गंगा कहती है कि मैं अपने पुत्रों को मारकर तुम्हारे पुत्रों की रक्षा करूँगी। इस गीत में दूसरों ही भलाई के लिए अपने को लुटाने वाले के रूप में गंगा को किया गया है।:-

''गंगा माई के आंची अरखा, तिरिअवा एक रोबेली हो,
ए गंगा मईया अपनी लहरिया तूई देतू, त हम डुषि मरिति नुहो,
किया ..... जिआच्छ करबो हो।'

गंगा जल का प्रयोग तक हर एक पूजा-पाठ में होता ही है। प्रत्येक जातीय समुदाय में गंगा पूजन के विधि-विधान और गीत मौजूद हैं। मल्लाह कुजड़ा और दुसाध समुदाय में प्रचलित गंगा पूजन की परम्परा अन्य समुदायों से भिन्न है। सवर्णों में गंगा पूजन सिन्दूर, गुड़ और चुनरी से होता है। लेकिन दुसाधों की पूजा सामाजिक होती है। वह गाँव में घूमकर अपने यजमान से पिठार के लिए जो और कुछ पैसा लेता है। तब आकर गंगा दशहरा के दिन, गंगा की पूजाई करता है और अपने-अपने यजमान के घर करधनी, लौंग और सिन्दूर प्रसाद के रूप में देता है। दुसाधों में गंगा पूजन की परम्परा में एक बात ध्यान देने लायक है। यजमानों के लिए वही काम यहाँ शुद्ध करता था जो अन्य पूजन कर्मों में ब्राह्मण करते हैं। हालाकि अब यह प्रथा लोप की ओर है।

कुजड़ा जाति के लोग धर्म से मुसलमान होते हैं। लेकिन हिन्दू 'तुरहा' की तरह उसका कार्य में भी फल का व्यापार होता है। पहले व्यापार के लिए जलमार्ग का ही उपयोग किया जाता था। गंगा बड़ी नदी थी। अपशगुन न हो, उसके लिए कुजरा भी गंगा का पूजन करते। यह पूजा भादों के महीने में मघा नक्षत्र में होती है। इस पूजा के दौरान औरतें कागज की नाव बनाकर उसमें फल भर देती हैं और गंगा के गीत गाती है। वे खाद-खीह्त का स्मरण करते, गीत गाते हुए गंगा घाट पर या किसी तालाब पर जाती और उसी में फल से भरे नाव को छोड़ आती :-

मरे सौहर सलामत रहें, अम्मा तेरे हवाले पड़ा''

मल्लाह समुदाय के लोग गंगा के सुखदायिनी और दुखदायिनी दोनों रूपों की उपासना करते हैं। गंगा में जब कोई नाव दुर्घटना में मुत्यु के बाद प्रयश्चित की परम्परा इनमें प्रचलित रही है। वे महाहिन के साथ गाँव-गाँव में घुमते। मलाहिन के हाथों में खप्पड़ होता। मल्लाह कमर में ढोल बाँधकर गीत गाते हुए भीख माँगता। लोग यथाशक्ति कुछ न कुछ देते। वह उस अर्जित धन से गंगा की पूजा तो करता ही, नई नाव भी बनवाता। वह सिर्फ पाप से ही मुक्त नहीं होता, बेरोजगारी से भी मुक्त हो जाता। मल्लाह गंगा के साथ-साथ नाव का भी पूजन करता है। नाव पूजन के लिए वह मूज का बाधा, पीला वस्त्र, सिंदूर, चना, पान, फसइली, फूल, हल्दी, चावल का अयपन, घी, दशांग, गुड़, आय की लड़की का खूँटा और आम का पल्लव से पूजा करता है। यही समाग्री पाल चड़ाने समय भी लगती है। तनाव में गंगा को मंजु के बाध से नापना होता है, जो बीच में टूट जाता है। औरते

भी कहती है कि गंगा किसी को भी अपना पेट नापने नहीं देती हैं। सच पूछा जाए तो नाव पूजन भी गंगा पूजन ही होता है। नाव को रोजगार का साधन माना जाता है। गंगा से निवेदन किया जाता है कि हे गंगा मईया। मेरी नाव को बचाना। यह मेरी रोजी-रोटी का साधन है।। गंगा पूजन समय यह गीत गाया जाता है :-

मटिया का वेदिया बनावेनी
घाट बनावेनी हो....
धियवा लबंग अइसन हो।

श्रमिक समुदाय के गीतों में भी गंगास उसी महत्व के साथ विद्यमान हैं। एक श्रम गीत की इन पंक्तियों में गंगा को माँ के रूप में ही देखा गया है :-

गंगा हई मोरी माई चनरमा हमार भाई न एक राम।''

कल्यान करने वाली माता के रूप में गंगा की यह लोक व्याप्ति भारतीय संस्कृति की रीढ़ है। वह देवी और नदी दोनों रूपों में उद्धार करने वाली हैं। यहि कारण है कि लोकगीत, लोककथा, कहावत और पहेलियों-लोक साहित्य और संस्कृति के प्रत्येक आयाम में पूरी व्यापकता के साथ मौजूद हैं।

गंगा माता लावे खातिर भगीरथ बेहाल
कोई नीपे अगुआ तो काई पिछवार,
भगीरथ नीपे छयिन शिवजी के द्वार
कोई तोड़े छथिन शिवजी के ध्यान
कोई मांगे अन्न धन कोई धेनु गाय,
भगीरथ मांगे छथिन गंगाजी के धार
आगे-आगे भगीरथ भागल जाथिन,
पीछे-पीछे सुरसरि परसल जाय।

गंगाजी को धरती पर लाने के लिए भगीरथ बेचैन है। भगीरथ शिवजी के ध्यान को तोड़ने में लगे है। कोई अन्न-धन मांगता है, कोई दूध देने वाली गाय, लेकिन भगीरथ गंगा की धारा मांगता है। अन्त में गंगा जी स्वग्र से धरती पर आ ही जाती हैं। परिणामस्वरूप आगे-आगे भगीरथ दौड़ते जा रहे और पीछे-पीछे गंगा की धारा स्पर्श करती जा रही है।

हिन्दूओं के लिये गंगा का बहुत बड़ा आध्यात्मिक संबंध एवं सांस्कृतिक महत्व रहा है। अतएव गंगा के तटों पर हिन्दुओं के अनेक तीर्थस्थल बन गये है। जब कोई स्त्री गंगा स्नान के लिए जाती है तो उनकी यह हार्दिक कामना रहती है कि गंगा के पवित्र जल में स्नान कर वहाँ अवस्थित तीर्थों पर भक्ति एवं श्रद्धा के साथ मनोकामना का पुष्प चढ़ाये। नारी सन्तान प्राप्ति के लिए भी गंगा की अराधना करती है।

अतः गंगा उद्धार करनेवाली आवागमन के बंधनों से मुक्त करने पापमोचन वालों एवं पवित्र शक्ति सम्पनता नदी के रूप में जानी जाती है। हिन्दुओं में विश्वास इतना गहरा है कि वृद्धावस्था आने पर मृत्यु - पर्रून्त गंगा तट पर निवास करके, उसके जल का विभिन्न प्रकार से सेवन करके मृत्यु को प्राप्त करने की प्रथा सी चल पड़ी है। गंगाजल के अभाव में किसी भी देवता कीी पूजा श्राद्ध क्रम पूर्ण नहीं हो सकती। गंगा की पावन हिलोर गायिकाओं के ह्रदय में उतरकर भावनाओं का तरंग उत्पन्न करती है। गीतों के मोती उनके सरल मानस पटल पर जगमगाने लगते हैं -

चलु चलु दाय माय चलु गंगा नहाय
गंगा यमुना सरस्वती संगम पर,
नर पामर मन डुबकी लगाय। चलु-चलु...
जन्म-जन्म के मैली चादर
विषयन दगिया लियों छुड़ाय। चलु-चलु...
काम, क्रोध, मद, लोभा, मोह, तजु
प्रेम गंग मन दिया बहाय। चलु-चलु...

संदर्भ-सूची :

1. डॉ. किरण सिंह का शोध आलेख, पृ. 60-61.
2. डॉ. लक्ष्मीनारायण सुधांशु स्मृति

लोकगीतों की ऐतिहासिकता एवं भविष्य का अध्ययन

डॉ. पूनम तिवारी

सी.सी. कालेज, कैन्ट, फैजाबाद, अयोध्या

''भारतीय लोक गीत मंगलगान है, ये गीत, गीत नही अपितु अनुष्ठान है, जिनका इतिहास अति प्राचीन है। ये मानव जीवन के अभिन्न अंग के रूप मे अपना अस्तित्व रखती आ रही है''[1] अर्थात आज के ''ग्लोबलाइज्ड'' समय में प्राचीन और सांस्कृतिक परम्पराऐं यद्यपि धीरे-धीरे समाप्त होती चली जा रही हैं, फिर भी लोक-गीतों में सांस्कृतिक परम्पराऐं आज भी जीवित है क्योंकि लोकगीत लोगों की, जनसामान्य की गुनगुनाहट है, जो सुर और लय के माध्यम से गीतो का ''आकार'' ग्रहण करती है चाहे लोक गीत किसी व्यक्ति विशेष की रचना रही हो, किन्तु इन गीतों का स्वरूप सामूहिक और समवेत होता है, लोक-गीत अर्थात जो किसी व्यक्ति विशेष से न जुड़कर समाज के सभी लोगों के व्यक्तित्व, उनकी भावनाओं और सम्वेदनाओं को उजागर करें, वह लोगों का गीत, अर्थात ''लोकगीत'' कहलाता है। इन गीतों के बिना अधूरें समझे जाते है। यही कारण है, कि प्रत्येक देश, प्रत्येक प्रान्त और गाँव आदि के मांगलिक अवसरों पर इन गीतो का गायन ''मंन्त्रेच्चारण'' के समान आवश्यक माना जाता है, फिर ''शोडष-संस्कारों'' से भरे हुए ये भारतीय लोक-गीत तो एक प्रकार के ''अनुष्ठान'' है, धार्मिक कृत्य है, जिसके सहारे व्यक्ति के जन्म से लेकर मरण तक सभी कार्य सम्पादित किये जाते हैं।

आदि काल से संगीत कला का प्रचलन रहा है, श्नैः श्नैः संगीत को मूल रूप से मार्गी और देशी इन दो विद्याओं के अन्तर्गत रक्खा गया। मार्गी संगीत का स्वरूप इसलिए मार्गी है क्योंकि यह संगीत अनेक प्रयासों से अनेक अनुसंधानों से प्राप्त किया गया। 'मार्गी' शब्द ''मार्ग'' धातु से बना है, जिसका अर्थ है, खोजना अतएव मार्गी संगीत गवेष्णात्मक हुआ। वैदिक काल की ऋचाएं एवं मंत्रों का गायन करने वाले विशेष गायक तथा उद्गाता प्रस्तोता और प्रतिस्पर्धा थे। सम्भवतः यह उस समय का ब्सेंपबंस डनेपब था जिसका स्वरूप ''अपौरुषेय,, अपरिवर्तनीय और ब्रहम स्वरूप रहा। चूंकि यह संगीत अनेक मार्ग या अनुसंधान के द्व ारा प्राप्त होता था। इसीलिए यह मार्ग संगीत था। श्नैः श्नैः भरतकाल आया, उस समय में भी संगीत की दो धाराएं प्रचलित हुई 'गान्धर्व और गान'। गान्धर्व उस काल का शास्त्रीय संगीत, जिसका गायन 'गान्धर्व' नाम के गायक करते थे इसी कारण यह गान्धर्व कहलाया ''गान्र्धवाणाम प्रियः यः सः गान्धर्वम्'' गान उस समय का देशी संगीत रहा होगा। लेकिन भरतकालीन यह गान्धर्व साम संगीत यानी वैदिक संगीत की भांति नहीं था, यद्यपि इस संगीत का आधार वैदिक संगीत के मूल भूत सिद्ध ान्त थे किन्तु प्रो. ललित किशोर सिंह के मतानुसार संगीत शास्त्र के आदि आचार्य भरत ही रहे। इनका लक्ष्य लौकिक संगीत था। शिक्षाग्रन्थों की तरह वैदिक संगीत नही'' कालान्तर में यही गान्धर्व, आगे चलकर देशी संगीत के रूप में परिवर्तित हुआ और संगीत के दो स्वरूप सामने आए। शास्त्रीय संगीत और लोक संगीत, शास्त्रीय संगीत स्वर ताल श्रुति थाट राग आदि संगीत के व्याकरण से युक्त हुआ, जिसके साथ टप्पा-ठुमरी, गजल, सूफी संगीत के

रूप में सुगम संगीत रहा, जबकि लोक संगीत देश की विभिन्न संस्कृतियाँ, रीति रिवाजों से भरा हुआ वह संगीत रहा, जो मन-रंजन तो है ही साथ में देश की संस्कृति से भी जुड़ा हुआ है। बल्कि कहा जाना चाहिए कि यह संगीत घर आंगन का संगीत है। जिसका स्वाभाव संवेदनात्मक और भावनात्मक हैं। जितने भी प्रकार के धुन प्रधान लोक गीत हैं वे सभी इसके अन्तर्गत आते हैं। इन गीतों का भविष्य सदैव उज्ज्वल रहा है, और रहेगा क्योंकि डॉ श्रीधर शरतचन्द्र परांजपे के अनुसार ''चाहे शास्त्रीय संगीत हो, चाहे देशी संगीत, और चाहे पाश्चात्य संगीत प्रत्येक अपनी गेय सामग्री जन जीवन से प्राप्त करता है। अभिप्राय है, शास्त्रीय संगीत ;ब्सेंपबंस डनेपबद्ध का शास्त्र प्रचलित धुनों के आधार पर बना, और प्रचलित धुन ही वस्तुतः लोकगीत है, जो अपना वर्ण्य विषय जन-जीवन से चुनती है। प्राचीन समय में भी जिसे देशी संगीत कहा जाता था वे वस्तुतः लोक मे प्रचलित सरल संगीत था''[2]।

वैदिक काल में भी देशी संगीत का प्रचलन था। विद्वानों का मानना है कि उस समय की 'गाथाएं'' लोक गीतों का प्रतीक थी। वैदिक ग्रन्थ ''मैत्रयणी संहिता'' 3/7/3 पारस्कर ग्रहस्थ सूत्र (1 काण्ड 7 कंडिका) और आष्वालायन ग्रहय सूत्र आदि में विवाह आदि के अवसरों पर गाई जाने वाली गाथाओं के उल्लेख मिलते हैं। राम-जन्म, कृष्ण जन्म आदि के लिए वाल्मीकि रामायण, श्रीमद् भागवत जैसे ग्रन्थ इसके उदाहरण हैं। इसीलिए सम्भवतः 7वीं सदी के मतंग मुनि ने संगीत के दो स्वरूप का विवरण दिया। देशे देशे प्रवृत्तों डसौ ध्वनि निदे शांति संज्ञित अर्थात देश-देश की विभिन्न प्रवृत्तियाँ के अनुसार गाई गई ध्वनि या धुन को देशी कहा गया। इससे सिद्ध होता है कि प्रत्येक स्थान के वासियों के हृदय उदगार ही अन्ततः स्वर लय आदि के जो रूप में जन्में और यही फिर लोग संगीत या लोक गीत के रूप में प्रचलित हुआ। अतः लोक गीत तो कभी अपनी जतंबा से उतरेगा ही नहीं, इसीलिए, लोक गीतों का भविष्य सदैव चमकता रहेगा।

भारत के लोक गीतों या ग्रामीण गीतों का भविष्य इसलिए उज्ज्वल है क्योंकि हमारा देश तीज त्योहारो का देश है, जहाँ कदम कदम पर कोई न कोई पर्व इसलिए रक्खा गया है, जिससे यहाँ के लोग अपनी संस्कृति से जुड़े रहे।

''यदि हम भारत वर्ष को उत्सवों एवं त्योहारों का देश कहे, तो कोई अतिश्योक्ति नही होगी, विश्व के अन्य देशों में भी त्योहार मनाए जाते हैं, किन्तु वे प्रायः किसी महापुरुष के जन्म मृत्यु या मात्र उपासना पद्धतियों से जुडे रहते हैं हमारे यहाँ का कोई भी पर्व या त्योहार ऐसा नही है, जिसके पीछे कोई न कोई एतिहासिक या भौगोलिक कारण नही है''[3]। इसी कारण भारत के सभी धर्म सम्प्रदाय और पर्व त्योहारों की पृष्ठभूमि में वैज्ञानिकता है। प्रसिद्ध दार्शनिक कान्ट लिखता है। च्मतबमचजे पजी वनज बवदबमचजे तम इसपदक दक बवदबमचजे पजीवनज चमतबमचजे तम बवउचसलष अर्थात कोई भी भाव जब बुद्धि को साथ लेकर चलता है, तभी वह विशिष्ट होता है और हमारे हृदय के समस्त विकास विगलित हो जाते हैं, और भाव, विचार बुद्ध या वैशिकता का भाव मात्र अंधा होता है। कहने का अर्थ है कि हमारे यहाँ के सभी धार्मिक भाव विधान से प्रेरित है, परिणामतः उन भावों से बने हुए गीत हमें पूर्णतः बौद्धिक और वैज्ञानिक स्तर पर ले जाते हैं। इसी कारण लोक गीत दूर गामी है''[4]।

विज्ञान की दृष्टि से देखे तो 'संगीत'' अपने आप मे पूर्णतः ध्वनि विज्ञान है। श्री विजय शंकर मिश्र ने लिखा हैं ''यहॉ यह जान लेना भी उचित होगा कि आखिर गान्धर्व वेद है क्या? गान्धर्ववेद और कुछ नही ध्वनि का विधान है। इसे सामवेद का उपवेद भी कहा गया है। इसके अनुसार स्वर मस्तिष्क को, और मस्तिष्क पूरे शरीर को प्रभावित करता है, अर्थात् संगीत स्वंय में कला के साथ-साथ एक विज्ञान है जिसका आधार लेकर जो भी रचना की जाती है, वह न केवल भौतिक रूप से हमारी इन्द्रियों को भी सन्तुष्ट करती है, बल्कि इसके स्वर

हमारे अन्तर मन को भी सुकून देते हैं''[5]। लोक गीत तो अपने आप में इतने सरल और सहज हैं कि सभी लोग इन्हें गा सकते हैं, यदि शब्द नहीं आते तो उसकी धनु पर ही हाथ पैर थाप की देते हैं। यानी ये गीत रिदेमैटिक ;तैलमउमजपबद्ध होते हैं और ताल लय पर तो सारा शरीर लाभान्वित हो जाता है। इसीलिए शास्त्रीय संगीत की अपेक्षा लोक गीतों के विभिन्न प्रकारों का गायन हर स्थान, प्रान्त और नगर कस्बों मे किया जाता है।

लोक गीतों के भविष्य के सम्बन्ध में यदि तर्क किया जाए तो स्पष्ट है कि लोक गीत शब्द प्रधान होते है। इन गीतों के द्वारा लोगों पर चोट भी की जाती है, उनमें जागृति भी पैदा की जाती है, क्योकि शब्द की अपनी ताकत होती है। बहुत से विदेशी विद्वान आवाज यानी शब्द के विज्ञान को जीवन के प्रत्येक अवस्था में जरूरी विज्ञान मानते हैं हमारे पुराने मनीशियों ने इसी कारण नाद और शब्द दोनों को ब्रहम स्वरूप माना है। शब्दों की नींव पर ही सूफियॉ ने जिक्र का विज्ञान विकसित किया और हमारे ऋषि मुनियों ने मन्त्र का विज्ञान विकसित कियां लोक गीत भी शब्दों के गेय मन्त्र हैं, जिनके प्रभाव निरन्तर हमारे ऊपर पड़ता हैं।

लोक गीतों का प्रचलन के लिए ना तो अभी तक कोई वैज्ञानिक उपकरण बना ना ही कोई संविदा, ये गीत निरन्तर लोगों के कंठ से कंठ तक प्रसारित होते रहते हैं। कहने का अभिप्राय है कि ये गीत दिल की जुबान हैं जब तक मानव का अस्तित्व रहेगा, ये गीत मात्र कंठ से कंठ आगे बढते जायेगें। इनकी गत्यात्मकता विकसित होती रहेगी, संस्कार भारती का यह आलेख है ''कण्ठ से कण्ठ तक, समाज से समाज तक जीवन से जीवन तक निर्वाध, चिर पुरातन से नित नूतन प्रवाहित होती एक निर्झरणी है।'' अर्थात् इनके लिए किसी खास व्यवस्था की आवश्यकता नहीं, कोई प्रपंच नहीं, बनावटीपन नहीं अति मानवीयता नहीं, पूरी तौर पर नैसर्गिक जीवन के बोध को तंरगित करने वाले ये गीत होते हैं। बल्कि लोक गीत जीवन यर्थाथ भूमि का साहित्य है, जो दृश्य देख सुनकर स्वतः स्वर और लय के साथ उद्भूत हो जाते है। देखा जाए तो हमारे आपके बच्चों मे रामचरित्र, कृष्ण चरित्र तथा अन्यान्य देवताओं के चरित्र, पढ़ने की अपेक्षा, इन गीतों के निरन्तर गायन से समझ में आते हैं। तो भला, लोक गीत का भविष्य कैसे धूमिल पड़ सकता है।

विश्वविख्यात सितारवादक पंडित रविशंकर जी का कथन है कि भारत लोक गीतों की खान है। निःसंदेह हर मौके, हर उत्सव का लोक गीत यहां गाया जाता है। ऐसा लगता है कि वह पर्व बिना इन गीतों के सम्पन्न हो नहीं हो सकता। क्योंकि ये गीत किसी परम्परा को नहीं छूते, इनमें इतनी विविधता होती है जिसके लिए इन गीतों का गुरू मानवीय और प्रकृति जन्य जीवन ही इनका गुरू है।

आज जैसा जीवन दिखाई देता है उससे तो यही लगता है। कि सभी का लक्ष्य ''कमाओ और खाओ'' है, तनिक इसका चितंन करिये कि क्या केवल कमाने और कमाते हुए चले जाना ही जीवन नहीं है, बल्कि कमाए हुए को भोगना और बॉंटना ही जीवन है।

सन्दर्भ ग्रन्थ-

1. संगीत वाद्य, डॉ. श्रीधर शरतचन्द्र परांजपे, पृ.सं.-72
2. काष्ठि कलाप पत्रिका 1996 महावन से श्री मोहन भाटिया, पृ.सं.-68
3. संगीत पत्रिका, जून विशेषांक 2009, डॉ. देवदत्त शर्मा, पृ.सं.-19
4. लोकगीतों की वाचिक परम्परा का उल्लेख, डॉ. रश्मिशील, पृ.सं.-128
5. संगीत पत्रिका 1998 जनवरी विशेषांक द्वारा टीन शाई, पृ.सं.-12

लोक नाट्य का स्वरूप एवं विकास : एक विवेचन

साक्षी श्रीवास्तव

शोध छात्र

संगीत एवं कला संकाय, दिल्ली विश्वविद्यालय

जिस प्रकार भोजनादि से मनुष्य के शरीर को भरपूर पोषण मिलता है क्योंकि भोजन जितना सन्तुलित होगा उतना ही शरीर पोषित होकर बलवान और मजबूत बनेगा। ठीक उसी प्रकार स्वस्थ मनोरंजन आदि से मन को तोषण मिलता है। स्वस्थ मनोरंजन जितना सन्तुलित औश्र प्रभावित करने वाला होगा, मन के स्तर पर उतना ही सन्तुलित तोषण प्राप्त होगा, फलस्वरूप मनुष्य का तन-मन दोनों ही स्वस्थ होगा। यह तोषण मन में उत्पन्न विकारों को दूर करता है और नई ऊर्जा भरता है। मानसिक क्षुधा उतनी ही प्रबल होती है जितनी उदर क्षुधा। अतः लोकमानस मानसिक क्षुधा की पूर्ति हेतु सस्ते और सहज सुलभ साधनों का प्रयोग करता है, जिससे बिना किसी आडम्बर के सुलभ संसाधनों से मानसिक तोष हेतु स्वस्थ मनोरंजन उपलब्ध हो जाता है। इस सहज वृत्ति में लोकनाट्य की परम्परा चिरंतन काल से चली आ रही है। वैदिक काल से लेकर आचार्य भरत तक यह परम्परा निर्बाध रूप से चलती रही जो आज तक हमारे समक्ष है।

लोक नाट्य का स्वरूप-

लोकनाट्य को परिभाषित करते हुए इतना कहा जा सकता है कि लोकनाट्य लोक-मानस के जीवन में रचा बसा आडम्बर विहीन मनोरंजन का स्वस्थ साधन है, जिसमे कृत्रिमता का नितान्त अभाव है और जो सीधे जनमानस को उद्वेलित करता हुआ समयानुकूल समाजों को कुछ न कुछ शिक्षा देता है। इस प्रकार क्षेत्रिय और जनप्रिय नाट्य की शैलियों को लोक नाटक के नाम से जाना जाता है।

''लोक'' शब्द को परिभाषित करते हुए डॉ. सत्येन्द्र ने कहा है कि ''लोक मानव समाज का वह वर्ग है जो अभिजात्य संस्कार, शास्त्रीयता और पांडित्य के अहंकार से शून्य है और जो एक परम्परा के प्रवाह में जीवित रहता है।'' तथा ''नाट्य'' का अर्थ वृहत हिन्दी कोश में संक्षिप्त रूप में इस प्रकार बताया गया है कि ''नाट्य पुरुषवाचक संस्कृत शब्द है। यह नृत्य नाटकादि का अभिनय नृत्य कला, अभिनय कला, अभिनेता की वेशभूषा तथा अभिनेता अर्थ का द्योतक है।1

इस प्रकार नाट्य एक व्यापक शब्द है और लोक नाट्य को 'नाट्य' की इसी व्यापकता में लेते हुए इसके अर्न्तगत उनके वैविध्य एवं प्रयोगशीलता का सहज समावेश होता है। भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र को पंचम वेद के रूप में प्रतिष्ठित करते हुए भारतीय नाट्य प्रदर्शन का जो स्वरूप और साध्य निर्धारित किया था, उसके अनुसार कोई भी शास्त्र, धर्म शिल्प तथा क्रिया 'नाट्य' तभी कही जा सकती है, ज बवह लोक धर्मी हो।

यानि शास्त्राणि ये धर्मा यानि शिल्पानि या क्रियाः।
लोकधर्म प्रवृत्तानि तानि नाट्यं प्रकीर्तितम्।।2

अतः लोक के सुख-दुःख से समन्वित मनुष्य का स्वभाव आंगिक आदि अभिनयों से सम्पन्न होने पर 'नाटक' होता है -

याऽयं स्वभावो लोकस्य सुखदुःखसमन्वितः।
सोऽङ्गस्याभि नयोपेतः नाट्यमित्यभिधीयते।।
लोक सिद्धे भवेत् सिद्धं नाट्यं लोकस्वभावजम्।
तस्मान्नाट्य- प्रयोगे तु प्रमाणं लोक इष्यते।।

लोक से सिद्ध वस्तु स्वयं सिद्ध होती है। नाटक लोक के स्वभाव से उत्पन्न होता है इसलिए नाट्य प्रयोग में प्रमाणभूत यदि कोई वस्तु है तो वह लोक ही है, नाट्य का स्वभाव ही लोक चरित का अनुकरण है। 3

डॉ. नागेन्द्र लोकनाट्य की गरिमामयी आशा से आभासित होकर कहा है कि ''लोकनाट्य साहित्य इतना विशाल और महत्वपूर्ण है कि इसमें भारतीय संस्कृति का सहज रूप देखा जा सकता है। इसमें सहस्र वर्षों तक सहिष्णु बने रहने वाले कृषकों के जीवन दर्शन का पता लगाया जा सकता है। लोकनाट्यों में वे तत्व निहित हैं, जो समय-समय पर देशकाल के अनुरूप जीवन्त साहित्य प्रस्तुत करके लोकजीवन को रस-संयुक्त करते रहे।4 अतः यह सिद्ध होता है कि लोकनाट्य लोकजीवन में जीवतंता उड़ेलने में जितना सार्थक है, अन्य कोई भी उपादान इसकी समता नही कर सकता है।

डॉ. श्याम परमार ने लोक नाट्य को इस प्रकार परिभाषित किया है - '' लोकनाट्य से तात्पर्य नाटक के उस रूप से है जिसका सम्बन्ध विशिष्ट शिक्षित समाज से भिन्न सर्वसाधारण के जीवन से हो और परम्परा से अपने-अपने क्षेत्र के जन समुदाय के मनोरंजन का साधन रहा हो।''5

लोक -जीवन में नाट्य-विधा को लाने का कार्य ब्रह्मा जी ने आचार्य भरतमुनि को सौंपा, तो यह कला मृत्युलोक में प्रस्तुत हुई। यह नाट्य-कला समस्त शास्त्रों का सार मानी गई और तीनों 'लोकों' के भावों का अनुकरण करने का सामर्थ्य इसमें सन्निविष्ट हुआ।

''त्रौलोक्यस्यास्यसर्वस्य,
नाट्यं भावानुकीर्तनम्।।''6

लोकनाट्य कला के रूप में स्वीकार करने पर, यह कला दुखार्त, शोकग्रसत और संसार-तप्त व्यक्तियों को विश्राम देने वाली है। भरत मुनि ने नाट्य की उपयोगिता बताते हुए कहा है कि

''न तज्ज्ञानं, न तच्छिल्पं, न सा विद्या, न सा कला।
न स योगो न तत्कर्मं, नाट्येऽस्मिन यन्न दृश्यते।।''7

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट हुआ है कि लोक-नाट्यों से संस्कृत नाटक तथा संस्कृत नाटकों से हिन्दी नाटकों का विकास हुआ है। वेदों-पुराणों से लोकगीतों से तथा धार्मिक उत्सवों से प्रेरणा लेकर आधुनिक नाटक फला-फूला है। अतः लोक नाट्य वैदिक युग से ही इस पवित्र धरा पर विकसित हो चुके थे। इस लोक नाट्य की सफलता के लिए आचार्य भरत ने उसका लोकात्मक एवं लोक सिद्ध होना अनिवार्य माना है, क्योंकि इसकी पूर्ति लोक प्रमाण से ही होती है।

अतः लोकनाट्य लोकजीवन में जीवंतता उड़ेलने में इतना समर्थ है कि अन्य कोई भी उपादान इसकी समानता नही कर सकता, इसमें लोकगीत, लोकनृत्य, लोकसंगीत तथा लोककथाओं का ऐसा लटकेदार रसायन पगा होता है कि जसके स्वाद को बता पाना शब्दों के सामर्थ्य से बाहर है। यह उस गूंगे का मीठा रस होता है जो स्वाद को तो चखता है, परन्तु स्वाद बताने में असमर्थता प्रकट करता है। लोकनाट्य जीवन के अनेकों क्षणों में जैसे जन्म-मरण, शादी-विवाह, धार्मिक अनुष्ठान तथा अन्य मांगलिक अवसरों पर लोक-भाषा के माध्यम से लोकमंच पर अभिनीत होकर लोकनाट्य अनादिकाल से जनमानस को आन्दोलित और आनन्दोद्रेक से परिपूर्ण करता आ रहा है। लोकनाट्य के विषय में डॉ. तनेजा कहते हैं - ''वस्तुतः लोकनाट्य सामान्यजन द्वारा, सामान्यजन के लिए, अभिनय के माध्यम से प्रस्तुत सामान्य जीवन की सहज, स्वाभाविक, अनौपचारिक, नृत्य गीत, संगीतमय जीवंत एवं लोकरंजन अभिव्यक्ति का माध्यम है।8

यह लोकनाट्य जनमानस का द्विपक्षीय प्रेरणास्रोत भी है। जिसमें दर्शकों के साथ रंगकर्मी भी एक-दूसरे से जुड़ कर पूरक के रूप में कार्य करते हैं। ऐसे लोकनाट्यों की उत्पत्ति जनमानस

के सामूहिक प्रेरणाओं तथा आवश्कताओं के कारण होती है। ''लोकनाट्य सामूहिक आवश्कताओं और प्ररणाओं के कारण निर्मित होने से लोक कथानकों, लोक विश्वासों और लोक तत्वों को समेटे चलता है और लोकजीवन का प्रतिनिधित्व करता है।'' किन्तु यह केवल व्यवसायार्थ नहीं होता है। डॉ. सत्येन्द्र ने इस विषय पर लोकनाट्य को परिभाषित करते हुए अपना मत इस प्रकार प्रकट किया है - ''लोकरंगमंच लोक की अपनी वस्तु है, यह व्यवसायार्थ नहीं होता, इसके अखाड़े अवश्य होते हैं। ये अखाड़े समस्त रंगमंच के अनुष्ठान को गुरू-शिष्य परम्परा की गांठ में बांधकर खड़े होते हैं। प्रायः सभी में एक धार्मिक धुरी रहती है। कुछ विधि तथा निषेध रहते हैं। ये विधि-निषेध लोकमानस के तत्वों से युक्त होते हैं। 9

डॉ. महेन्द्र भनावत लोकनाट्य को परिभाषित करते हुए कहते हैं - ''लोकधर्मी रूढ़ियों की अनुकरणात्मक अभिव्यक्तियों का वह नाट्य रूप जो अपने-अपने क्षेत्र के लोक मानस को आल्हादित, उल्लासित एवं अनुप्राणित करता है, लोकनाट्य कहलाता है।'' 10 डॉ. जगदीशचन्द्र माथुर का कथन है कि '' रंगमंच लोक समाज की देह का अंग है, नागरिक या साहित्यिक रंगमंच उसका बाहरी आभूषण- लोक रंगमंच जीवन की उमंग की स्वाभाविक अनायास अभिव्यक्ति है। ''11

उपर्युक्त लोक नाट्य की भिन्न-भिन्न परिभाषाओं से यह स्पष्ट होता है कि लोक जीवन में लोक नाट्य का अर्थ ऐसे प्रकार के तप से लिया जाता है जो आनन्द और उल्लास के अवसरों पर सामूहिक अभिव्यक्ति का सहज साधन है तथा जो नाट्य सामूहिक आवश्कताओं और प्रेरणाओं से निर्मित होते है। भरत मुनि के अनुसार वही नाट्य लोकनाट्य कहलाता है जो लोक स्वभाव से उत्पन्न होकर लोक चित्त में रमता हुआ लोक धर्म के निर्वाह के साथ लोक सिद्धि को प्राप्त करता है। लोकनाट्य को परिभाषित करते हुए यह कहा जा सकता है कि लोकधर्मी रूढ़ियों की अनुकरणात्मक अभिव्यक्ति का वह नाट्य रूप जो अपने-अपने क्षेत्र के लोक मानस को आल्हादित, उल्लासित एवं अनुप्राणित करता है, लोक नाट्य कहलाता है।

लोक नाट्य का विकास -

नाट्य एक व्यापक शब्द है और नाटक इसका एक प्रकार मात्र है। जबकि लोकनाट्य को इसी व्यापकता में लेते हैं। किन्तु लोकनाट्य ही नहीं अपितु समस्त लोककला रूपों का अस्तित्व नाट्यशास्त्र से पूर्व रहा होगा, ऐसा अनुमान किया जा सकता है। यहां तक कि अन्य नाटककारों ने अपने नाटकों में मौलिकता तथा प्रभाव लाने के लिए क्षमता तथा कल्पनाशीलता लोकनाट्यों से ही प्राप्त की होगी। इस प्रकार मानव संस्कृति और समाज के विकासक्रम में लोकविधाओं के नैरन्तर्य ने ही शास्त्रों या अन्य व्यवस्थित कला विधाओं को निर्माण और विकास का आधार दिया है।

नाट्यशास्त्र की उत्पत्ति का अपना एक मिथक है जिसके अनुसार इसको पांचवां वेद माना गया है। यहां तक कि चारों वेदों की विशिष्टता और अनुकरणीयता का समावेश भी इसमें है। इस शास्त्र का उद्देश्य केवल 'नाट्य' का नियमन मात्र नही है अपितु व्यापक जीवन के आचार-विचार एवं सार का परिष्करण भी है। नाट्यशास्त्र के पूर्व नाट्य का क्या स्वरूप था इस पर मतैक्य नही है। ऋग्वेद के संवाद सूक्त में, महाभारत तथा रामायण आदि ग्रन्थों में लोकविधाओं का क्या स्वरूप रहा होगा यह जानना कठिन होगा क्योंकि लोकप्रचलित विधाएं बलिखित थी। यह लोकचित्त में सतत् प्रवाहमान होती हुई लोक परम्पराओं के द्वारा संकलित और रूपान्तरित होती। उस समय अभिजन समाज के द्व ारा यह स्वीकृत न हाने के बावजूद इनकी उत्कृष्ठता में कोई कमी न थी। आचार्य भरत जैसे रंगचिन्तक के सामने इस प्रकार की लोकविधाएं अपनी क्षमता और प्रभाव के साथ न विद्यमान रही हों, ऐसा सम्भव नही है। अतः नाट्यशास्त्र के आधारभूत तत्वों में लोकविधाओं का अनुमान किया जा सकता है। नाट्यशास्त्र में जनसामान्य के लिए आत्मिक और

भौतिक उन्नति सम्पन्न मानव समाज की रचना का मन्तव्य स्पष्ट देखा जा सकता है।

लोक नाट्यों ने नाट्य की नाट्यशास्त्रीय विधियों और रूढ़ियों को बड़ी सहजता से आत्मसात किया है। यहां तक कि लोकनाट्य अपनी अर्त्तवस्तु और शिल्प की सर्जनात्मकता में इन नाट्य रूढ़ियों को रूपान्तरित भी किया है। लोकनाट्यों की रंगयोजना, मंच परिकल्पना, अभिनय विधि, वेश सज्जा एवं गीत-संगीत प्रधानता आदि के भीतर नाट्यशास्त्र की समग्रता मूलक सर्जनात्मक रंग परिकल्पना के चिन्ह मिल जाते हैं। नाट्यशास्त्रीय निर्देशों का उपयोग लोकविधाओं में काफी हद तक देखने को मिल जाता है। 12

लोकनाट्यों का ज्ञात उभार दसवीं से तेरहवीं शताब्दी के बीच दिखाई देता है। यह समय संस्कृत नाटकों के लिए पराभव का था। इस समय संस्कृत भाषा क्षीण पड़ रही थी तथा समाज पर उसकी पकड़ कमजोर पड़ रही थी। जबकि लोकभाषाएं दृढ़ता के साथ विकसित हो रही थी तथा जनसामान्य के आचार-व्यवहार का माध्यम थी। इसी कारण तत्कालीन साहित्यिक रचनाओं में लोक भाषाओं की प्रतिष्ठा हो रही थी। इस समय अपभ्रंश भाषाओं का साहित्यिक भाषा के रूप में विकास हो रहा था। संस्कृत नाटकों के पराभव के बाद लोकनाट्यों ने अपने सतत् प्रवाही रूप में नाट्यशास्त्र और संस्कृत नाटक की रूढ़ियों को युगानुरूप रूपान्तरित भी किया। यह रूपान्तरण सर्जनात्मक तो था ही साथ ही इसमें भारतीय रंग परम्परा के चिन्ह भी मौजूद थे। लोकनाट्यों की लोकोन्मुखता अर्थात् लोक से गहरी और व्यापक सम्बद्धता के कारण शास्त्रों की जड़ता को सदैव लोकविधाओं की ओर से चनौती दी जाती थी।

इसी का एक उदाहरण यह है कि नाट्यशास्त्र के अनेक ऐतिहासिक कथाओं को कालान्तर में लोकनाट्यों में अनुष्ठानिक रूप से प्रस्तुत किया जाने लगा। जैसे - नाट्यशास्त्र में 'इन्द्रध्वज महोत्सव' के अवसर पर नाट्य प्रयोग में दैत्यों और दानवों उक्त प्रदर्शन में विघ्न उत्पन्न करने के प्रसंग में देवराज इन्द्र द्वारा विघ्नोपचार के लिए जर्जर नामक दिव्य अस्त्र के प्रदान का उल्लेख मिलता है। कालान्तर में यह जर्जर अनुष्ठानिक रूप में सम्पन्न होने वाले लोकनाट्यों में भी विघ्ननिवारक व्स्तु के रूप में प्रचलित हुआ। वर्तमान युग में भी आसाम, बिहार और दक्षिण भारत में अनेक नाट्य रूपो में जर्जर स्थापना एक अनुष्ठानपूर्वक सम्पन्न होने वाली क्रिया है तथा इसे लोकनाट्यों की प्रस्तुति के पूर्व सम्पन्न किया जाता है। इन्द्र का यह जर्जर अपने मिथकीय अभिप्राय में धूमिल भले ही हो गया हो, किन्तु लोक प्रचलित नाट्यों, उत्सवों, अनुष्ठानों आदि में इसकी व्यापक स्वीकृति बनी हुई है। यद्यपि इसकी स्थापना और प्रयोग की विधियां भिन्न-भिन्न हैं। यहां तक की विवाह के अवसर पर मण्डप के बीचोबीच गाड़ा जाने वाला बांस इसी जर्जर का ही एक रूप है। 13

इस प्रकार लोकनाट्यों में मूल अभिप्राय से अनजान रहते हुए भी अनेक रूढ़ियों को अपनाया है जिससें लोकनाट्यों के प्रभाव में वृद्धि हो सके। किन्तु इन सब के अलावा लोकनाट्यों में जिस ओर ज्यादा झुकाव होता है वह है - जातीय जीवन की सांस्कृतिक निजता। यद्यपि लोक नाट्यों में एक विशेष प्रकार की विलक्षण आन्तरिक एकता दिखाई देती है जो मुख्य रूप से उत्तर प्रदेश, बंगाल, आसाम, महाराष्ट्र, गुजरात तथा दक्षिण भारत के तमाम लोकनाट्य रूपों में पूर्वरंग, नृत्य संगीत प्रधानता, प्रसिद्ध आख्यानों पर निर्भर नाट्यवस्तु, विदूषक का उपयोग तथा रंगशिल्प के स्तर आदि पर है। जबकि भिन्नता का मुख्य कारण अपनी-अपनी जातीय निजता है। यह जातीय निजता शास्त्रीय नाट्य रूढ़ियों को भी अपने अनुरूप ढाल देती है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि नाट्यशास्त्र में निर्देश्ति पूर्वरंग विधि का पालन लोकनाट्य में किसी न किसी रूप में होता है। नाट्यशास्त्र में निर्देशित गीत-संगीत एवं राग राग प्रधानता का सर्वाधिक अनुपालन लोकनाट्यों में ही दिखाई देती है। नाट्यशास्त्र के पूर्वरंग का विधान मूलरूप से लोकनाट्यों में प्रयुक्त होता है।

नाट्यशास्त्र में होने वाले पूर्वरंग को विभिन्न प्रदेशों के लोकनाट्यों में अलग-अलग नामों से प्रस्तुत किया जाता है। जिसमें वे विभिन्न प्रकार से ईश्वर की अराधना करते हैं। उदाहराणार्थ - आसाम के 'अंकिया नाट' में प्रयुक्त विधान काफी हद तक नाट्यशास्त्र सम्मत रूप में दिखाई देता है। 'अंकियानाट' के पूर्वरंग को 'धेमाली' कहते हैं। यह उनकी विशेष प्रकार से अराधना करने की प्रक्रिया है जिसमें सामूहिक रूप से 'खोल' वादन करते हैं। इसी प्रकार महाराष्ट्र के तमाशा, गोधल आदि लोकनाट्य रूपों में पूर्वरंग 'गण गायन' के रूप में सम्पन्न होता है। लावणी गायन की परम्परा से विकसित 'तमाशा' के अर्न्तगत शिव-ब्रह्म के उपासक 'तुर्रे वाले' और शक्ति के उपासक 'कलंगी वाले' गण गायन के पश्चात् अपने-अपने देवों की उपासना करते हैं। इस प्रकार इन लोकनाट्यों की विषयवस्तु धार्मिक हो या पौराणिक 'गणगायन' के रूप में पूर्वरंग उनका अनिवार्य पक्ष है। ऐसे ही

मध्यप्रदेश के माच आदि लोकनाट्यों में भी 'पूर्वरंग' विधान किंचित् मिथ रूप में विद्यमान है जिसके अर्न्तगत नाट्य मंच को माच मण्डली मंत्र शक्ति से बांधने अर्थात् निर्विघ्न करने का काम करती है। इसके पश्चात् ईश्वर की अराधना की जाती है। 'बस्तर' मे प्रचलित 'भतरा नाट' में भी पूर्वरंग के अर्न्तगत गणेश वन्दना होती है। यह वन्दना भी नाट गुरू द्वारा प्रस्तुत होती है। छत्तीसगढ़ी 'नाचा' का पूर्वरंग भी प्रायः इसी विधि से सम्पन्न होता है। इसके अर्न्तगत गणपति वन्दना या भजन गायन आदि का विधान है। 14 गुजराती लोकनाट्य 'भवाई' के अर्न्तगत भी पूर्वरंग में सर्वप्रथम 'रंग स्थल' पर 'शक्ति' की स्थापना करके दीप जला दिया जाता है तथा सभी कलाकार यहां पूजा करते हैं। 'नौटंकी' में भी पूर्वरंग के रूप में मंगलाचरण का विधान है। इसके पश्चात् रंगा नौटंकी कथा के विषय में गाकर सूचित करता है। इस प्रकार सभी लोकनाट्य रूप नाट्यशास्त्र की पूर्वरंग विषयक रंगभूमिका का निर्वाह करते हैं।

इस प्रकार नाट्यशास्त्र के सुदूर रंग युक्तियों को सक्रिय सामूहिक जीवन की जीवन्तता से मांजकर निखारने का काम लोकनाट्य के द्वारा किया जाता है। अतः लोकनाट्य शास्त्र से लोक तक जिस सर्जनात्मक सेतु का निर्माण करते हैं, वह समकालीन रंगमंच के बहुत काम है।

संदर्भ

1 शर्मा डॉ. बिरेन्द्र कु., सांगीत के विविध आयाम, पृ. 18
2 भरत मुनि, नाट्यशास्त्र, श्लोक 26, पृ. 118
3 सेनी डॉ. राकेश, संगीत नाट्य परम्परा और बुन्देलखण्ड, पृ.132
4 डॉ. नगेन्द्र, हरिगंधा, सितम्बर-दिसबर, 1988
5 कु . विरेंन्द्र, सांगीत के विविध आयाम, पृ. 20
6 आचार्य भरत, नाट्यशास्त्र, 21ध्203
7 आचार्य भरत , नाट्य शास्त्रा, 1ध्110
8 प्रसाद चन्द्रशेखर, लोकनाट्य नायका सामाजिक (शोधग्रन्थ) , पृ. सन्दर्भ विश्लेषण
9 शर्मा विरेन्द्र कुमार, सांगीत के प्रणेता पं. नथाराम शर्मा गौड, पृ. 24-25ध्
10 विरही, डॉ. परशुराम शुक्ल, लोक संस्कृतिरू अवधारण ा, पृ. 9
11 प्रसाद चन्द्रशेखर, लोकनाट्य नायका सामाजिक (शोधग्रन्थ) , पृ. सन्दर्भ विश्लेषण
12 त्रिपाठी डॉ. वशिष्ठनारायण, नाट्य और लोकनाट्यः अंतर्क्रिया और विकास, पृ. 27-28
13 त्रिपाठी डॉ. वशिष्ठनारायण, नाट्य और लोकनाट्यः अंतर्क्रिया और विकास, पृ. 29
14 ओझा दशरथ एवं जगदीशचनद्र माथुर, प्राचीप भाषा नाटक, पृ. 37

शाश्वत

अभिनेता और प्राचीन ग्रन्थों में उनकी सामाजिक स्थिति (नाट्य एवं संगीत के संदर्भ में)

डॉ. नमिता यादव

एसोसिऐट प्रोफेसर, संगीत गायन

राजर्षि टण्डन महिला महाविद्यालय, इला. विश्वविद्यालय, इला.

अभिनय दर्पण में ऋग्वेद से पाठ्य, यजुर्वेद से अभिनय, सामवेद से गीत और अथर्ववेद से रस को ग्रहण कर भरत को अभिनय हेतु सामग्री दी है। हमारे प्राचीन ग्रन्थकारों ने भी वेदों को नाट्य उत्पत्ति से जोड़ा है। नाट्य कला के नेपथ्य में या सम्मुख से सहयोगी कलाओं का समावेश होता ही है। जिसमें गीत, वाद्य, नृत्य आदि सम्मिलित होते हैं। वेद कालीन संस्कृति में हमें इन कलाओं का उल्लेख स्पष्ट रूप से मिलता है। ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद में संगीत आदि के जो तथ्य हमें मिलते हैं, वह किसी रूप में नाट्य के सहयोगी रहे हैं। अभिनय कर्ताओं के सम्बन्ध में यजुर्वेद में सूत, शैलूष, करि, गन्धर्व, अप्सरा, चित्रकारिणी, बीणावादक, पाणिध्न, तूणवध्य तबल आदि का उल्लेख नाट्य के सहयोगी के रूप में मिलता है। नाट्य में संगीत तत्वों को जोड़ा जाये तो वे उस समय किसी न किसी रूप में नाट्य कला के लिए सहयोगी रहे होगें। तैत्तिरीय ब्राह्मण में आयोगू मागध (भाट) सूत (अभिनेता) शैलूष (गायक) का उल्लेख मिलता है।

नाट्यशास्त्रीय ग्रंथों में अभिनेताओं की विशेष योग्यता एवं विद्धता के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के उल्लेख देखने को मिलते हैं। इन अभिनेताओं में गन्धर्व, अप्सराऐं, नर्तक-नर्तकी, नट-नटी, सूत्रधार, विदूषक, विट, नायक, नायिका और गणिका आदि का नाम प्रमुख है। नाट्याचार्य रामचन्द्र गुणभद्र ने नाट्यदर्पण (श्लोक 1/4) में लिखा है कि जो (अभिनेता) गीत वाद्य तथा नृत्य को नहीं जानते और जो लोक व्यवहार में कुशल नहीं होते, वे नाटकों की रचना और अभिनय प्रयोग के अधिकारी नहीं हैं। अन्य अनेक ग्रंथों में उक्त अभिनेताओं के कार्य और कौशल के सम्बन्ध में अनेक तरह के उदाहरण देखने को मिलते हैं।

गन्धर्व - गन्धर्वों का स्थान सदैव स्तुति गायक के रूप में रहा है। गान्धर्व का व्यवसाय करने वाले लोग गन्धर्व तथा किन्नर है। हरिवंश पुराण में स्वारोचित मन्वन्तर और अरिष्टा के गर्भ से गन्धर्वों की उत्पत्ति बतायी गयी है। गन्धर्व एवं अप्सराओं की गणना देवयोनि में की गयी है। देवताओं की सभा में गान, वाद्य और नृत्य इनका प्रमुख कार्य है। गन्धर्वों की दो श्रेणियाँ है। दिव्य और मर्त्य। गन्धर्वों में यक्ष, राक्षस, पिशाच, सिद्ध चारण, नाग, किन्नर आदि की गणना की गयी है।

नारदीय शिक्षा के अनुसार - गन्धर्व भी दो प्रकार के माने गये हैं (1) मनुष्य गन्धर्व और देव गन्धर्व प्रमाण के लिए देखिए - तैत्तिरीयोपनिषत् द्वितीय अध्याय, अष्टम् अनुवाक् ''ते ये शत मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दाः, स एको देवगन्धर्वाणामानन्दः।

वेद में गन्धर्व वे थे जो द्युलोक में 'सोम' की रक्षा करते थे। इतिहास-पुराण में गन्धर्व देवताओं के गायक-वादक थे। मनुष्य-गन्धर्व वे थे जो भूलोक के गायक-वादक थे। नारदीय शिक्षा में कारू शब्द का प्रयोग गन्धर्व की नैरूक्तिक व्याख्या 1, 4.12

में किया गया है। कारू का अर्थ है 'करने वाला, बनाने वाला किन्तु ऋग्वेद और अथर्ववेद में यह शब्द स्तुति करनेवाला, 'गान' करने वालों के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। नारदीय शिक्षा में 'कलाकार' के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग हुआ है।

गन्धर्व अन्तरिक्ष के निवासी बतलाये गये हैं। ऋग्वेद 1, 22, 14 में गन्धर्वो का पद ध्रुव अर्थात् अविचल माना गया है। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार विश्वेदेव के अन्तर्गत देव, मनुष्य, गन्धर्व तथा अप्सरस का समावेश है। ऋग्वेद 3, 38, 6 में गन्धर्वो को सोमरक्षक तथा वायुकेश अर्थात् चंचलरश्मियों से युक्त माना गया है। यजु की तैत्तिरीय संहिता में गन्धर्व तथा अप्सराओं का एक साथ उल्लेख है। ऋग्वेद 1.86, 36 में दिव्य गन्धर्व का सोम के रूप में स्तवन किया गया है ऋ. 1, 16, 2, 2 में गन्धर्वो को सूर्य के अश्वों का प्रेरक माना गया है। ऋ. 1.8.12 के अनुसार गन्धर्व आदित्य स्वरूप है तथा स्वर्ग में उनका निवास स्थान है। ऋ. 9, 86, 36 तथा 10, 40, 4 के अनुसार गन्धर्वगण जल में निवास करने वाले व्यक्ति है जहाँ वे अपनी पत्नी अप्सरा के साथ रहते हैं। ऋ. 10, 11, 2 तथा 10, 166, 2 में गन्धर्व का सम्बन्ध नाद तथा वाणी के साथ दर्शित है। शब्द कल्पद्रुम में गन्धर्व शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए लिखा गया है कि गन्धर्व संगीत-वाद्यादि द्वारा मनोरंजन प्राप्त करने वाले स्वर्ग गायक है। भारतीय साहित्य में उनके इन सभी रूपों की विस्तार से चर्चाएँ देखने को मिलती हैं। पुराणों, रामायण, महाभारत और शास्त्रीय ग्रन्थों में गन्धर्वो को देव गायकों के रूप में वर्णित किया गया है। जैनों तथा बौद्धों के साहित्य और संस्कृत के परिवर्तीकाव्य नाटकों में गन्धर्वो को विद्याधरों तथा यक्षों के तुल्य के माना गया है।

अप्सरा - अप्सराओं को गन्धर्वो की पत्नियाँ कहा गया है। गन्धर्वो की ही भाँति वे भी नृत्य, गीत और संगीत की अधिष्ठान बतायी गयी हैं। वे केवल कल्पना मात्र नहीं हैं उनका अप्रतिम सौन्दर्य सार देव लोक में अनुपम माना गया है। वेदों, पुराणों, शास्त्रीय ग्रन्थों और परवर्ती काव्य नाटकों में सर्वत्र उनके अस्तित्व की सजीव चर्चाएँ देखने को मिलती हैं।

रामायण में गान्धर्व शब्द के साथ ही गन्धर्व तथा अप्सराओं का अनेक बार उल्लेख हुआ है। गन्धर्व तथा अप्सरा दोनों संगीत कला तथा रूप सौन्दर्य के लिए प्रतिमान रहे हैं। अप्सराओं का कार्य विशेषतः नृत्य प्रदर्शन करना था। भरद्वाज मुनि के आश्रम में भरत के स्वागतार्थ इन गन्धर्वो तथा अप्सराओं ने गीत नृत्य किया। गन्धर्व तथा अप्सरागण का उल्लेख रामायण में दिव्य तथा अपौरुषेय कलाकारों के रूप में हुआ है। रामजन्म व उनके विवाह के अवसर पर गन्धर्व तथा अप्सराओं के गान एवं नृत्य का उल्लेख है।

अभिनेताओं के सन्दर्भ में गन्धर्व एवं अप्सराओं का उल्लेख प्राचीन ग्रन्थों में किया गया है। नृत्य संगीत कलाओं के वे अधिष्ठाता हैं और लोक तथा शास्त्र में इन कलाओं की प्रतिष्ठा का बहुत श्रेय उन्हीं को है। कला का कोई भी अंग अछूता नहीं है जहाँ उनके अस्तित्व एवं व्यक्तित्व की सुरभि व्याप्त न हो। अतः हम कह सकते हैं कि अभिनय कला के अधिष्ठाता गन्धर्व अप्सराओं का अभिनेताओं में प्रथम स्थान है।

नट-नटी - अभिनेताओं और नटों की सामाजिक स्थिति के सम्बन्ध में प्राचीन ग्रन्थों में अनेक तरह के उल्लेख देखने को मिलते हैं। कुछ बातें उनकी लोकप्रियता की और कुछ उनकी अवमानना की सूचना देती है। हेम चन्द्राचार्य ने भी अपने अभिधानचिन्तामणि में 'भरत' शब्द को नट के अर्थ में लिखा है। अमरकोष ने भरत को नट का पर्यायवाची शब्द माना है -

शिलालिनस्तु शैलूजा जायाजीवः कृशाश्विनः
भरता इत्यपि नटाः चारणास्तु कुशीलवाः।

शिलाली, शैलूष, जायाजीव, कृशाश्वी, भरत, चारण और कुशीलव थोड़े से अन्तर के साथ 'नट' के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं।

नट अर्थात् अभिनय करने वाला। भरत शब्द नट के अथवा नाट्य के ज्ञाता के अर्थ में एक

जातिवाचक संज्ञा बन गया था। भरत के अनुसार कुशीलव अर्थात् नटों के लिये आतोद्य विधान एवं आतोध प्रयोग में कुशल होना आवश्यक है। भरत के अनुसार नट का कार्य ऐसे नाट्य का प्रयोग करना है जो चतुर्विध वाद्यों के सशस्त्र प्रयोग से मुक्त हो। नट का कार्य लोकवृत्तान्त का रसभावसम्बित अभिनय करना और इस कार्य के अंगभूत होने के नाते आतोद्य विधि का नाट्य में विशेष महत्व है। सूत्रधार की स्त्री को नटी कहा जाता है। अपने सर्वगुण सम्पन्न एवं विद्वान पति की भाँति वह भी अभिनय कला में कुशल होती थी।

रामायण में नट एवं नर्तकों का उल्लेख किया गया है। नट नर्तक संघाना गायकाना च गायताम। कुशीलव शब्द का भी उपयोग हुआ है। संगीत का व्यवसाय करने वाले लोगों में गायक, सूत, मागध, वन्दी तथा वारांगनाओं का समावेश था। रामायण में शैलूष, नट, नर्तक आदि का उल्लेख विभिन्न प्रसंगों पर किया गया है। नट तथा नटी दोनों के संघ विद्यामान थे जो विभिन्न प्रसंगों पर पुरातन कथाओं का अभिनय किया करते थे। रामचन्द्र के जन्मोत्सव पर अयोध्या के मार्ग पर नट नटों से संकुल हो गये थे। युद्ध के अभियान पर नट नर्तकों के समूह सेना के साथ रहते थे। यज्ञ समारोहों में अन्यान्य शिल्पियों के साथ नट नर्तकों का भी योगदान रहता था।

रामायण में कुशीलव एक महत्वपूर्ण शब्द है 'कुशीलव' स्तुतिगान करने वाले चारणों को कहते हैं। अमरकोश ने इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार की है। कुशीलमस्त्मेषां कुशीलं वान्तिवा। समाज में नट या चारण का स्थान बहुत ऊँचा नहीं माना जाता था। इसीलिऐ इस शब्द की प्रारम्भिक व्युत्पत्ति थी 'जिसमें कुशील हो या जो कुशील को प्राप्त होते हैं। कुशीलव लोग गान्धर्व तत्वज्ञ होते थे। नर्तक, गायक, नट शैलूष इत्यादि का समाज में यथेष्ट समादर था। व्यवसायी संगीतज्ञों का संघ भी बन चुका था।

महाभारत वन पर्व - 2, 29, 32 हरिवंश पर्व में वज्रनाथ नगरी में भी कृष्ण द्वारा यादवों को नट रूप में भद्र नट के साथ भेजने का उल्लेख मिलता है। उस नट मंडली में प्रद्युम्न गायक थे, साम्ब नामक यादव विदूषक था। कई यादवों ने नटी का रूप धारण किया और उपनगर सुपुर में रामायण नाटक किया।

महाभारत में अभिनयकर्ताओं के नाम विभिन्न पर्वों में निम्नवत् है :-

बहुरूपिया - पर्वकार अनुशासन पर्व - 909, कुशीलवः - अनुशासन पर्व - 90;10, शैलूषी - विराट पर्व-16-30, रंगस्त्री, शान्ती पर्व 36 25, नर्तन - उद्योग पर्व 94-38, नट - सभा पर्व 30-48, नर्तक - सभा पर्व - 50 - 48

कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अनुसार कथा कहानी कहने वाले वाग्जीव कहा जाता था। अभिनेता को नट, नर्तक, गायक वादक को कुशीलव, कूदफाँद करतब दिखाने वाले को प्लवक कहा जाता था। अभिनय करने वाली नटियों को गाना बजाना आदि कलाओं को सीखने-सिखाने की व्यवस्था राज्य की ओर से होने की पुष्टि होती है। ये दल एक जगह से दूसरी जगह मनोरंजन कार्यक्रम करते थे। वर्षा ऋतु में नट नर्तकों को एक ही स्थान पर रहने की बात कही गई है। नाट्यकला भी उस समय विभिन्न रूपों में विद्यमान थी नट की स्वतंत्र गणना की गई है एवं नटों की शिक्षा हेतु राज्य की ओर से व्यवस्था होती थी। रंगोपजीवनी कुमारियों को नाट्य की शिक्षा दी जाती थी। स्त्रियाँ रंगमंच पर आकर अभिनय करती थी।

महाभाष्य में नट शिक्षक होने का उल्लेख मिलता है। जिन्हें शौभिक कहा जाता थो। वे नटों को शिक्षा देते थे। अभिनेता के लिये नट शब्द तो प्रचलित था ही इसके साथ-साथ ही अभिनेत्रियों को नटी और उनकी सन्तान को नाटेर कहा जाता था। डॉ. प्रभूदयाल अग्निहोत्री ने लिखा है कि नटियों का स्तर समाज में ठीक नहीं था। कोई भी दर्शक नटियों से प्रेमालाप कर सकता था। डॉ. कीथ के अनुसार पंतजलि के काल में नट केवल नर्तक ही नहीं वरन वे संगीतज्ञ थे और संगीत तथा अभिनय द्वारा नाटकीय घटनाओं को प्रदर्शित करते थे।

महाभाष्य में नट के लिये शोभनिक शब्द का भी प्रयोग किया गया है।

कुषाण काल के एक शिलालेख में नट के लिये शैलालक शब्द प्रयुक्त किया गया है। नट अपनी वेशभूषा के अन्तर्गत नाना विधिक वेशभूषा करते थे। भूमिकाभिनय के सम्यक निर्वाह के लिये पात्रोचित रंग से मुखों को रंजित किया जाता था। नटों के साथ उनकी भार्याएिं रंगमन्च पर अभिनय करती थीं। सौभिक वर्ग का कार्य नटों को अभिनय शिक्षा देने का था। वात्सायन के कामसूत्र में नाट्य अभिनय का उल्लेख सीधे किसी नाटक के रूप में नहीं मिलता इसके संकेत मिलते हैं कि नट नर्तक अभिनय द्वारा दर्शकों का मनोरंजन करते थे और कथा कहानी का सहयोग भी लेते थे।

संगीत का संचालन प्रायः रंगोपजीवी नट के द्वारा किया जाता था। शिल्प तथा कलाओं का व्यवसाय करने वाले महिला वर्ग में शिल्पकारी का कला विद्ग्धा नटी अथवा नाटकीया स्त्रियों का अन्तर्भाव था।

बौद्ध युग में प्रमुख नट के लिए नटगामणि संज्ञा थी। नटवर्ग समाज के समक्ष रंगभूमि पर विविध अभिनयों से जनता का मनोरंजन करते थे। नाटक ग्रन्थों में तत्कालीन व्यवसायों की सूची उपलब्ध है जिसमें नट, नर्तक, गायक, भेरी वादक तथा नाटककार आदि वर्गों का समावेश है। इनके नगर में विभिन्न संघ हुआ करते थे इनके लिए नगर में स्वतन्त्र उपनिवेश की व्यवस्था थी। जातक युग में नटी को हेय दृष्टि से देखा जाता था।

भास के समय में नाटक अथवा प्रकरण का प्रारम्भ संगीत से होता था। प्रेक्षकों के प्रसादनार्थ नटी के द्वारा विशिष्ट ऋतु के अनुकूल गीत का गान किया जाता था। शूद्रक के समय नाटक की कथावस्तु का सूत्रपात ही संगीत से हुआ है। आरम्भिक संगीत का कार्यकुशल कुशीलवों के द्वारा अभीष्ट मानकर सूत्रधार संगीतशाला पर दृष्टिपात करता है। नटों के अनुपस्थित होने के कारण स्वयं पर्याप्त समय तक संगीत उपस्थित करता है।

हरिवंश के नाटकों में संगीत का प्रमुख स्थान होने के कारण नट, नटी आदि अभिनेताओं के लिए संगीत कौशल आवश्यक माना जाता था। निष्कर्ष हम कह सकते हैं कि नट एवं नटी का अभिनय क्षेत्र में विशेष स्थान था।

नर्तक-नर्तकी - अभिनेताओं में नर्तक नर्तकी एवं कार्यों का नाट्य प्रयोग के सन्दर्भ में यथास्थान उल्लेख किया जा चुका है। भास्कार पतंजलि के महाभाष्य के प्रसंगों में नर्तक-नर्तकी से नट-नटी की भिन्नता पर भी प्रकाश डाला जा चुका है। सामाजिक और धार्मिक जीवन में उनकी क्या लोकप्रियता एवं श्रेष्ठता रही है। इसका उल्लेख विविध ग्रन्थों में किया गया है। अभिनय दर्पण में नर्तक-नर्तकी की योग्यताओं या गुणों का वर्णन किया गया है।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र से विदित होता है। शिल्प सम्पन्न नर्तिकाऐं है। विशेष आदर का भाजन करती थी। नर्तक एवं नर्तकियों को व्यवसायी वर्ग में रखा जाता था। रामायण एवं महाभारत काल में भी कई प्रसंग प्राप्त होते हैं जहाँ नर्तक एवं नर्तकियों द्वारा विविध समारोहों में अपनी कला प्रदर्शन के उल्लेख है। नृत्य करने वाली स्त्रियों के लिए पतंजलि ने ''नर्तकिका'' शब्द का प्रयोग किया है।

कामसूत्र में समाजोत्सव मनाये जाने का भी उल्लेख भी मिलता है जो सरस्वती मंदिर में मनाया जाता था, नर्तकों को बाहर से बुलाया जाता था और संगीत नाट्य के कार्यक्रम होते थे।

बौद्ध साहित्य को अट्ठकथा में एक अभिनेता द्वारा पाँच सौ नर्तकियों के साथ नृत्य-नाट्य का अभिनय करने का भी उल्लेख मिलता है। जैन साहित्य से प्राप्त उल्लेख से विदित होता है कि मेघ कुमार नामक एक धनवान व्यक्ति को आठ नर्तकियों एवं बत्तसी नटों वाली नाट्य मण्डली दहेज में दी गई थी। हरिवंश पुराण के अनुसार नर्तकाऐं नृत्य के साथ-साथ अर्थानुकूल अभिनय से प्रेक्षकों को मुग्ध कर देती थी। हरिवंश काल में स्त्री तथा पुरुष दोनों मूकाभिनय किया करते थे।

सूत्रधार - सूत्रधार के लिए चतुतोद्यकुशल, स्वरवादित्रतत्सदि शास्त्रकर्म सुशिक्षित नाना गीत प्रचारज्ञ तथा नाट्य प्रयोग कुशल होना अनिवार्य है। सब अभिनेताओं के सूत्र उसके द्वारा संचालित

होने के कारण उसे सूत्रधार कहा गया है। यह नट समुदाय का मुखिया होता था। सूत्रधार को इसी अर्थ में नटगामिणी भी कहा गया है। वह मुख्य अभिनेता है संस्थापक है एवं रंगशाला का प्रमुख शिल्पी है। रंगशाला में अभिनेताओं को प्रशिक्षण देना भी सूत्रधार का ही काम है। इसके अतिरिक्त समस्त पात्रों की रूप सज्जा और उनके द्वारा रंगभूमि पर अभिनय कराना भी इसी का कार्य है। सूत्रधार समस्त कलाओं, शिल्पों एवं शास्त्रों के ज्ञाता होते थे। नाट्यशास्त्रीय एवं काव्यशास्त्रीय ग्रंथों से उनकी योग्यता का दिग्दर्शन हमें प्राप्त होते हैं। देशान्तरों और लोकाचारों की उन्हें पूर्ण जानकारी होती है। सूत्राधार के गुणों में व्यवहार कुशलता, धैर्यवान, संगीतज्ञ और चतुरता व्याप्त होती थी। नाट्याचार्य के अतिरिक्त अभिनय में उसे मुख्य भूमिका का भी निर्वाह करना होता है।

शूद्रक के काल में सूत्राधार के विषय में बतलाया गया है कि नाटक की कथावस्तु का सूत्रापात ही संगीत से हुआ है। आरम्भिक संगीत का कार्यकुशल कुशीलवों के द्वारा अभीष्ट मानकर सूत्राधार संगीतशाला पर दृष्टिपात करता है। नटों की अनुपस्थित होने के कारण स्वयं पर्याप्त समय तक संगीत उपस्थित करता है।

गणिका - गणिकाओं का अभिनय कला की उन्नति और ख्याति में महत्वपूर्ण योगदान रहा है। देवलोक एवं गन्धर्वलोक में जो स्थान अप्सराओं एवं विद्याधारियों का रहा है, वही स्थान गणिकाओं का मनुष्य लोक में रहा है। गणिकाओं ने अप्सराओं एवं विद्याधारियों द्वारा प्रवर्तित नृत्य संगीत परम्परा को अपनाकर उसे भूलोक पर उजागर किया। वे अप्सराओं के समान ही रूपवती होती थी। प्राचीन भारत के गणतन्त्रों में गण की सार्वजनिक सम्पत्ति होने के कारण उनको गणिका नाम दिया गया। समाज में उनका एक सभ्य सुशिक्षित एवं संस्कृत नारी के रूप सम्मान था। वे विदुषी थीं, संस्कृत नाटकों में अन्य नारी पात्रों को प्राकृत भाषा में, किन्तु गणिकाओं को संस्कृत में संवाद करते हुये दिखाया गया है। उनकी अपनी स्वतंत्र संस्थाएँ हुआ करती थीं। वे समस्त कलाओं की जानकार हुआ करती थीं। न केवल समाज में, अपितु साहित्य में भी उनके कला नैपुण्य के प्रचुर उदाहरण देखने को मिलते हैं।

महाभारत में महापुरुषों के आगमन के उपलक्ष में संगीत का आयोजन किया जाता था जिसमें गायन वर्ग के साथ गणिकायें भी योगदान प्रदान करती थीं। मौर्य काल में गणिका संस्था का एक विशिष्ट स्थान था। कामसूत्र के अनुसार गणिका वर्गों को संगीत की उच्च शिक्षा दी जाती थी। बौद्ध युग में गणिकाओं को विशेष स्थान प्राप्त था। ललित विस्तर में निम्न उक्ति से गणिका के शास्त्रज्ञ होने की बात परिलक्षित होती है। ''शास्त्रो विविज्ञ कुशला गणिका यथैव''।

आचार्य वात्स्यायन ने वेश्याओं की श्रेणियों का विभाजन करते हुए गणिका नामक वेश्या के सम्बन्ध में लिखा है कि वह नृत्य, संगीत आदिकलाओं में निपुण होती थी।

विट - नाट्यशास्त्र में विट को वेश्योपचार कुशल, मधुरभाषी, प्रवीण, काव्य कार्य में कुशल, तर्क-वितर्क में समक्ष, वाग्मी और चतुर बतलाया गया है। साहित्य दर्पण में विट उसको कहा गया है जो वैयक्ति सुख भोग के लिये अपनी धन-सम्पत्ति लुटा चुका हो, धूर्त हो, कतिपय कलाओं में निपुण हो, वेश्योपचार में चतुर हो, बातचीत करने में कुशल हो, स्वभाव से मधुर हो और सभा गोष्ठियों में जिसकी बड़ी पूछ हो।

वात्स्यायन के कामसूत्र में विट को रसिक नागरिक का सहचर कहा गया है। वह सम्पूर्ण विषय भोगों का उपभोक्ता, कलाविद् और गुण सम्पन्न होता है। वह सपत्नीक और सुव्यवस्थित गृहस्थ होता है। वेश्याओं और रसिक समाज में उसका बड़ा आदर सम्मान होता है और उन्हीं की सेवा-सुश्रूषा करके वह अपनी आजीविका चलाता है।

विदूषक - कामसूत्र के अनुसार, हास्यरस में कुशल होने के कारण उसको वैहासिक भी कहा जाता है। विदूषक को रसिक नागरक का सहचर कहा गया है। संगीत नृत्य आदि किसी एक कला

में वह निपुण होता है। कौतुक करने में वह सिद्ध हस्त होता है। वह सबका विश्वासपात्र, नायक नायिकाओं और वेश्या नागरकों के बीच सन्धि विग्रह कराने में कुशल होता है। उन्हीं पर आश्रित होकर उन्हीं के द्वारा अपनी आजीविका चलाता है। विदूषक श्रृंगारी नायक का सहायक होता है।

नाट्य शास्त्र (35/57) में उसे बौना, बड़े-बड़े दाँतों कला, कुबडा बहुभाषी, कुरूप, खल और पीतवर्ण आँखों वाला कहा गया है। विदूषक हँसने हँसाने में कुशल होता है।

नायक-नायिका - अभिनेताओं में नायक नायिका का विशेष महत्व माना गया है। आचार्य विश्वनाथ के साहित्य दर्पण (3/30) में नायक उसे कहा गया है जो सहृदय सामाजिक हो, नाटककार को आदर्शों की ओर ले जाने वाला हो, जो त्याग की भावना से भरपूर, महान कार्यों का कर्ता, बुद्धि वैभव से सम्पन्न, रूप यौवन से युक्त, सही कार्य सम्पादन करने वाला, जनता से स्नेह पानेवाला, तेजस्विता, चतुरता एवं सदाचार आदि सदगुणों से सम्पन्न हो।

आचार्य वात्स्यायन ने गुण दोषों के आधार पर नायक के उत्तम, मध्यम और अद्यम तीन प्रकार बताऐ हैं। रामचन्द्र गुणभद्र ने नाट्य दर्पण के नाट्य-निर्णय प्रकरण में लिखा है जो उत्तम और मध्यम प्रकृति के स्त्री पुरुष है। उन्हें ही कवि या नाटककार नायक नायिका के रूप में प्रधान नाटकीय चरित्र चित्रण का विषय बनाता है।

साहित्य दर्पण (3/56) में कहा गया है कि नायिका में नायक के उक्त त्याग आर्जव आदि सभी गुणों का समावेश होना चाहिये। वात्स्यायन ने अवस्था, आकृति, अनुराग और स्वभाव की दृष्टि से नायिकाओं के भिन्न-भिन्न वर्गों का विस्तार से विवेचन किया है।

List of Sugam Sangeet
Geet/Bhajan

1. रे मन कृष्ण नाम कहि लीजै। सूरदास, पं. प्रेम कुमार मलिक
2. तुम मेरी राखो लाज हरि, राखो लाज हरि। सूरदास, पं. प्रेम कुमार मलिक
3. ओजी हरि कित गये नेहा लगाए। मीराबाई उ. शमशाद अहमद
4. बीत गए दिन भजन बिना। कबीर, पं. प्रेम कुमार मलिक
5. मन लागो मेरो यार फकीरी में। कबीर, उ. शमशाद अहमद
6. मन राम सुमिर पछतायेगा। कबीर, पं. प्रेम कुमार मलिक
7. रघुवर तुमको मेरी लाज। तुलसीदास, पं. प्रेम कुमार मलिक
8. मैं तो लीन्हों गोविन्द मोल माई री मैं तो। मीराबाई, पं. प्रेम कुमार मलिक
9. चमन दर चमन बस तेरी बात होगी। रूपकुमार रूप, उ. शमशाद अहमद
10. सदियाँ गुजर चुकी हैं तेरे इंतजार में। रूपकुमार रूप, उ. शमशाद अहमद
11. टूटा आज सहारा मेरा टूट गया इक तारा। ब्रह्मानंद शुक्ला, उ. शमशाद अहमद
12. काहे को प्रीत लगाई सजना। शान्ती जैन, उ. शमशाद अहमद
13. न जा, न जा, पिया परदेस। रमाशंकर श्रीवास्तव, उ. शमशाद अहमद
14. फूलों में तुम्हारा इशारा तो नहीं है। सितेश आलोहक, उ. शमशाद अहमद
15. इतना क्यों घबराये मनवा कुछ धीरज से काम ले। ब्रह्मानंद शुक्ला, उ. शमशाद अहमद

List of Ragas for Hindustani Music

Category - Dhrupad - Dhamar

1. Mian ki Todi
2. Mulatni
3. Bihag
4. Vrindabani Sarang
5. Desi
6. Asavari
7. Bageshari
8. Bhimplasi

9. Mian Ki Malhar
10. Basant
11. Shree
12. Puriya Dhanashari
13. Shankara
14. Shuddha Kalyan
15. Yaman
16. Shyam Kalyan
17. Kedar
18. Megh Malhar
19. Jog
20. Ahir Bhairav
21. Des
22. Shuddha Sarang
23. Rageshari
24. Nand
25. Kalawati

संदर्भ

1. यजुर्वेद - 30, 6, 8, 10, 14, 20
2. तैत्तिरीय ब्राह्मण - 3, 4, 1-15
3. वाचस्पति गैरोला - भारतीय नाट्य परम्परा और अभिनय दर्पण, पृ0 104 (नाट्य परम्परा से) 2006 संस्करण
4. वही
5. शरद चन्द्र श्रीधर परांजपे - भारतीय संगीत का इतिहास - पुराण तथा तन्त्र ग्रन्थों में संगीत शिक्षा - पृ0 240, 241
6. वाचस्पति गैरोला - भारतीय नाट्य परम्परा और अभिन्य दर्पण - नाट्य परम्परा, पृ0 105
7. वही
8. शरद चन्द्र श्रीधर परांजपे - भारतीय संगीत का इतिहास - महाकाव्य काल के संगीत, पृ0 136
9. ठाकुर जयदेव - भारतीय संगीत का इतिहास (नाट्य शास्त्र) पृ0 289।
10. शरद चन्द्र श्रीधर परांजपे - भारतीय संगीत का इतिहास (भरतकालीन संगीत) पृ0 275।
11. उमेश शास्त्री - हिन्दी गद्य साहित्य का विकास क्रम, पृ0 90।
12. शरद चन्द्र श्रीधर परांजपे - भारतीय संगीत का इतिहास (महाकाव्य काल में संगीत) पृ0 141, 143, 144।
13. ठाकुर जयदेव - भारतीय संगीत का इतिहास (रामायण) पृ0 169।
14. वही पृ0 183।
15. दशरथ ओझा - हिन्दी नाटक उद्भव और विकास - पूर्वोक्तर 46।
16. अर्थशास्त्र कौटिल्य 1.7.113, 113.171, 479-42।
17. रामजी उपाध्याय - प्राचीन भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका पृ0 904।
18. प्रभुदयाल अग्निहोत्री - पंतजलिकालीन भारत - 1963 पृ0 498।
19. दशरथ ओझा - हिन्दी नाटक उद्भव और विकास - पूर्वोक्त, पृ0 46।
20. महाभाष्य-3-1-26।
21. द्र0 एपिग्राफिया इण्डिया भाग-1, पृ0 3907-18। द्र0 पतंजलि 4.2-66 शैलालिनोनटः।
22. डॉ0 राकेश सोनी, संगीत नाट्य परम्परा और बुन्देलखण्ड, पृ0 148।
23. तुलनार्थ द्र0 कौटिल्य अर्थशास्त्र।
24. शरदचन्द्र श्रीधर परांजपे, भारतीय संगीत का इतिहास, पृ0 269।
25. वाचस्पति गैरोला, भारतीय नाट्य परम्परा और अभिनय दर्पण, (नाट्य परम्परा), पृ0 106।
26. वही, पृ0 166।
27. कामसूत्र, 1.4.27।
28. अटूटकथा, पृ0 36।
29. आचार्य नंदीकेश्वर और उनका नाट्य साहित्य, पृ0 49।
30. शरदचन्द्र श्रीधर परांजपे, भारतीय संगीत का इतिहास, पृ0 269।
31. वाचस्पति गैरोला, भारतीय नाट्य परम्परा और अभिनय दर्पण, पृ0 108।
32. शरदचन्द्र श्रीधर परांजपे, भारतीय संगीत का इतिहास, पृ0 158।
33. वही, पृ0 250।
34. वाचस्पति गैरोला, भारतीय नाट्य परम्परा और अभिनय दर्पण, पृ0 106।
35. वाचस्पति गैरोला, भारतीय नाट्य परम्परा और अभिनय दर्पण, पृ0 106।
36. वही, पृ0 108।

शास्त्रीय संगीत का स्वरूप-विवेचन

डॉ. शिव नारायण मिश्र

संगीत शिक्षक

सूरज नारायण सिंह देवनारायण गुड़मैता

उच्च विद्यालय सह वाट्सन इन्टर महाविद्यालय, मधुबनी

वह संगीत जो शास्त्र के नियमों के अनुसार बना हो उसे हम शास्त्रीय संगीत कहते हैं। संगीत के अंतर्गत गायन-वादन एवं नृत्य का समावेश होता है। अर्थात गायन, वादन एवं नृत्य जो शास्त्र के नियमों पर पूर्णतः आधारित है। उसके स्वरूप का विवेचन कर रहे है। इसके स्वरूप विवेचन से पूर्व संगीत की एक कविता का उल्लेख कर रहा हूँ जिसमें संगीत क्या हैद्द इसका वर्णन है।

शांति की धारा है संगीत।
सुखों का सागर है संगीत।
मोक्ष का मार्ग है संगीत।
ईश्वर का दर्शन है संगीत।
सारे जग को जोड़ता है संगीत।
भावना की अभिव्यक्ति है संगीत।
सागरों की लहरों में है संगीत।
पशुओं की स्वरों में है संगीत।
जीवन यापन का साधन है संगीत।
जीवन सार्थक करने का माध्यम है संगीत।
विश्व में छा जाने का माध्यम है संगीत।
रोग से छुटकारा पाने का माध्यम है संगीत।
पहले भी था यह संगीत।
आज भी है यह संगीत।
कल भी रहेगा यह संगीत।
सबके जीवन में है यह संगीत।
सबके घर में है संगीत।
सबके शहर में है संगीत।
सबके देश में है संगीत।
सारे विश्व में है संगीत।

संगीत के स्वरूप को हम निम्न माध्यमों से समझ सकते हैं।

1. संगीत का स्वरूप वैज्ञानिक नियमों पर आध. ारित है।
2. संगीत का स्वरूप सामाजिक होता है।
3. संगीत का दार्शनिक स्वरूप।
4. संगीत का एक स्वरूप व्यवसायिक भी होता है।
5. संगीत का स्वरूप भावनात्मक होता है।
6. संगीत चिकित्सा भी करता है।
7. संगीत का स्वरूप आध्यात्मिक होता है।

1. संगीत का स्वरूप वैज्ञानिक नियमों पर आधारित है।

''संगीत कला के स्वरूप का संबंध विज्ञान से है। संगीत का मूलभूत आधार नाद है। किस प्रकार का तथा कितने आन्दोलन संख्या का नाद संगीतोपयोंगी होता है, यह हमें एकमात्र विज्ञान से ज्ञात होता है। विज्ञान के अंतर्गत गणित है। गणित के आधार पर मूलनाद से अनेक सहायक या स्वंयवश नाद उत्पन्न होते है। गणित के आधार पर ही 32 थाटों की रचना की गयी है। पंडित अहोबल, पंडित श्रीनिवास तथा पं. विष्णु नारायण भातख्रण्डे ने गणित के आधार पर ही वीणा के 36 लम्बें तारों पर शुद्ध एवं विकृत स्वरों की स्थापना की व्याख्या है। स्वरों

के श्रुत्यान्तर के बदल जाने पर स्वरों के शुद्ध और विकृतावस्था में अन्तर पड़ जाता है। अतः यह स्पष्ट रूप से सिद्ध होता है कि संगीत का विज्ञान के साथ घनिष्ठ संबंध रहा है।''

किसी गीत की संगति यदि तबला या पखावज पर होती है या नृत्य के साथ भी जब तबला की संगति होती है तब उसके साथ कोई न कोई ताल बजाया जाता है। सभी ताल गणित के नियमों पर आधारित होते हैं।

इनमें मात्र, ताली, खाली, विभाग आदि शास्त्रीय नियमों के अनुसार बने होते हैं। जैसे तीन ताल का सूत्र जब हम बोलते हैं उसमें मात्र-16, विभाग-4, ताली-3, खाली-01, एक, पाँच, तेरह मात्रे पर ताली तथा 09 मात्रे पर खाली इत्यादि बोलते हैं। और उसी के अनुसार इसका वादन भी होता है। जिस प्रकार समय को हम घंटा, मिनट, सेकेंड से नापते हैं उसी प्रकार संगीत में समय नापने कि लिए ताल का प्रयोग करते हैं। एक भी मात्र आगे पीछे होने पर सम नहीं मिलता है तो लोग टोक देते हैं कि एक मात्रा छूट गया या गलती हो गयी। अर्थात संगीत का स्वरूप वैधानिक नियमों पर ही आधारित है।

2. संगीत का स्वरूप सामाजिक होता है।

संगीत का स्वरूप सामाजिक होता है। संगीत का समाज से घनिष्ट संबंध होता है। व्यक्ति समाज की एक ईकाई है, यदि वह संगीत का सफल कलाकार होता है, तो उससे समाज स्वस्थ एवं सुदृढ़ होता है। संगीत द्वारा समाज का सुधार भी हुआ है। समाज में संगीत कला की उन्नति से सभ्य व्यक्तियों की संख्या में अभिवृद्धि होती है। सामाजिक प्राणियों में नैतिकता की भावना संगीत कला के विकास से उत्पन्न होती है।

संगीत सीखने से मनुष्य को शान्ति और सुख का अनुभव होता है। मनुष्य को अन्य भौतिक साधनों से मन की शान्ति नहीं मिलती है, जबकि संगीत सुनने या सीखने से मन को शान्ति प्राप्त होती है। अतः संगीत के अच्छे साधक संसार के सुख-साधनों को तुच्छ समझता है। इस प्रकार समाज में धीरे-धीरे नैतिकता का विकास होता है। संगीत द्वारा समाज का चारित्रिक उत्थान होता है।

मनुष्य जन्म से ही सामाजिक प्राणी है। मनुष्य के जन्म के समय सोहर गीत का गायन होता है, उसके बाद उसके जीवन के हर शुभ अवसर पर विभिन्न प्रकार के गीत का गायन होता है। अर्थात मनुष्य ने जन्म लिया तभी से संगीत उसके साथ जुड़ा हुआ है और मनुष्य की मृत्यु तक वह साथ देता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि जिस प्रकार संगीत से समाज की उन्नति हुई ठीक उसी प्रकार समाज से भी संगीत की उन्नति होती आयी है। दोनो ही एक दूसरे से अनुप्राणित रहे हैं। अर्थात संगीत का स्वरूप सामाजिक होता है।

3. संगीत का दार्शनिक स्वरूप।

ब्रह्मा, ईश्वर, जीव, जगत, माया के विषय में जो शास्त्र विचार करता है उसे दर्शनशास्त्र कहते हैं। भारतीय दर्शनशास्त्र का मुख्य विषय है चेतन तथा अचेतन जगत का निरूपण करना। भारतीय दर्शनों में न्याय, वैशषिक, मीमांसा, योग, संख्य तथा वेदान्त ये छः दर्शन मुख्य माने जाते हैं। न्याय और वैशषिक कार्य, कारण प्रधानशास्त्र हैं। मीमांसा में कर्मकाण्ड का निरूपण किया जाता है। संगीत कला का संबंध सभी भारतीय दर्शनों से है। संगीत में समस्त षटदर्शनों का समन्वय होता है। न्याय और वैशेषिक कार्य कारण सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है। इन दोनो दर्शनों के मत में बिना किसी कारण के कोई कार्य उत्पनन नहीं होता है। संगीत में कार्य कारण सिद्धान्त देखा जाता है। नाद से श्रुति, श्रुति से स्वर, स्वर से सप्तक, सप्तक से थाट, थाट से राग और राग से संगीत की सृष्टि होती है। ऐसी दशा में श्रुति स्वर सप्तक थाट राग और संगीत रूपी कार्यों के कारण क्रमशः नाद श्रुति, स्वर सप्तक, थाट और राग होते हैं।

वेदान्त दर्शन में ज्ञान तत्व का निरूपण किया गया है। वेदान्त के अनुसार श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन से साधन का अन्तःकरण पवित्र होता

है। अन्तकरण की पवित्रता से अज्ञान का आवरण नष्ट हो जाता है। ज्ञान का उदय होने से साधक मोक्ष प्राप्त कर लेता है। ठीक यही दशा संगीत की है। संगीत साधना से साधक का अन्तःकरण पवित्र हो जाता है। उसके अज्ञान का आवरण नष्ट हो जाता है। ज्ञान का उदय होने से पुरूष अपने स्वरूप में स्थित होकर संसार के कर्म बंधन से मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त कर लेता है इस आधार पर हम कह सकते हैं कि शास्त्रीय संगीत का स्वरूप दर्शनशास्त्र पर आधारित है।

4. संगीत का स्वरूप व्यवसायिक भी होता है।

संगीत के लिए एक पुरानी कहावत है कि यह या तो अमीरों के लिए है या फकीरों के लिए। इस कहावत पर गौर करने पर हम पाते हैं कि यह संगीत के आर्थिक पक्ष को रेखांकित करने का प्रयास करता है। चूँकि अमीरों का आर्थिक आधार सुदृढ़ होता है अतः वे संगीत का सुख ले सकते हैं। दूसरी ओर चुकि फकीरों को धन संपत्ति की लालसा नहीं होती है वे इसके प्रति उदासीन होते हैं अतः वे भी संगीत का आनंद ले सकते हैं।''

''सैकड़ों वर्षों से अनेक लोग संगीत द्वारा ही अपने लिए धनोपार्जन कर रहे हैं। प्राचीन काल में जब राजाओं द्वारा ब्राह्मणों के चरण स्पर्श किये जाते थे और वैदिक ऋचाओं का सस्वर गायन किया जाता था तब उनके साथ ब्राह्मणों का एक वर्ग होता था। जो ऋचा गायन के समय हाथ से ताली दिया करता था। ब्राह्मणों के इस वर्ग को ऋचा गायक ब्राह्मणों के समान ही पारिश्रमिक और सम्मान मिलता था। इसके बाद जब संगीत मंदिरों से निकलकर राजाओं, नबाबों के दरबार मे पहुँचा तब भी संगीतज्ञों को अपने आर्थिक पक्ष की चिंता नहीं हुई क्योंकि आश्रयदाता राजा, नबाब आश्रित कलाकारों को हर प्रकार की सुख सुविधा देना अपना कर्त्तव्य समझते थे। ऐसे ही एक दरबार में पं. विष्णु दिगंबर पलुस्कर प्रतिदिन एक हजार रूप्ये लेते थे, सिर्फ एक भजन गाने का।''

देश की आजादी के बाद संगीत जन साधारण से जुड़ा। आज के दौर में रंगमंच, आकाशवाणी, दूरदर्शन, आडियों, वीडियो डिस्क के माध्यम से कलाकारों का प्रदर्शन होता है और उन्हें अच्छी आमदनी हो जाती है। कलाकारों के उत्थान के लिए भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद, संगीत नाटक अकादमी, इत्यादि कई संस्थाओं का गठन किया गया है। शिक्षण संस्थाओं में भी संगीत को सम्मान मिला है। विभिन्न विभागों में संगीत पद पर लोग कार्य कर रहे हैं। बड़ी-बडी उत्पादक एवं व्यवसायिक कम्पनियों के द्वारा संगीत कार्यक्रम का आयोजन किया जा रहा है। आज के युग में संगीत का व्यवसायीकरण बढ़ा है।

पहले के कलाकार जहाँ लोगों द्वारा प्रदत्त पुरस्कारों पर आश्रित रहते थे। आधुनिक युग के कलाकारों ने स्वंय अपना परिश्रमिक तय करना शुरू कर दिया है और उन्हें मुँह मांगी रकम मिलने भी लगी है।

''आज के कई कलाकार 01 से 02 लाख रूपये प्रति कार्यक्रम परिश्रमिक लेते हैं। 40-50 हजार तो समान्य बात है। और, 10-15-20 हजार तक तो आम कलाकार मांग लेत हैं। 15 या 01 महीने की विदेश यात्र पर गया कलाकार वहाँ से लखपति होकर घर लौटता है।''

व्यवसायिकता और भौतिकता के इस युग में जब किसी से अकारण एक रूपया भी निकल पाना कठिन है तब हजारों लाखों का परिश्रमिक पाने हेतु परिश्रम भी करना पड़ता है। समय के साथ कदम मिलाकर चलना भी पड़ता है। दर्शकों और श्रोताओं की इच्छा अपेक्षाओं का ध्यान भी रखना पड़ता है। इतिहास गवाह है कि संगीत के क्षेत्र में रंक से राजा बनने वालों कि लम्बी सूची है। बहुत से ऐसे कलाकार हैं जो संघर्ष के काल में भूखे रहे हैं जबकि आज इनके पास धन संपदा की कोई कमी नहीं है।

ऊ. बिसमिल्लाह खाँ, पं. रविशंकर, ऊ. जाकिर हुसैन, अली अकबर खाँ, विलायत खाँ, गोपीकृष्ण, भीमसेन जोशी, बिरजू महाराज, लता मंगेशकर आदि

कई कलाकार हुए हैं जिन्होंने संगीत के इतिहास में स्वर्णिम अध्याय जोड़े हैं। इन कलाकारों ने अपने संगीत प्रतिभा के बल पर लाखों, करोड़ों रूपये अर्जित किये हैं।

आज के युग में साधारण कलाकार भी संगीत के क्षेत्र से जुड़कर व्यवसायिक हो गए हैं और आज के युग के संगीत का स्वरूप भी व्यवसायिक हो गया है।

5. संगीत का स्वरूप भावनात्मक होता है।

संगीत में यह गुण है कि वह इंसान की भावनाओं, मनोदशाओं को परिवर्तित कर सकता है। दुखी इंसान को श्रृंगारिक राग सुनाकर या आल्हादित व्यक्ति को करूण राग सुनाकर उसकी मानसिक दशा में सहज ही अपेक्षित परिवर्तन किया जा सकता है।

जब भाषा और लिपि का आविष्कार नहीं हुआ था तब व्यक्ति अपनी भावनाओं एवं अभिव्यक्तियों को ध्वनि के उतार-चढ़ाव एवं अपने हाव-भाव से ही लोगों को समझाता था। ''ध्वनि का उतार-चढ़ाव और आंगिक मुद्राओं का यही प्रदर्शन संगीत और नृत्य के अविष्कार का प्रथम चरण था। संगीम के 7 स्वरों की उत्पति अलग-अलग भाव, रस और भावनाओं की अभिव्यक्ति हेतु हुई है। संगीत रत्नाकार में इसका स्पष्ट उल्लेख है।

''स री वीरोऽद्भूते रौद्रे घो
बीभत्से भयानके।
कार्यों ग नी तु करूणे हास्य
श्रृंगारयों म पौ।''

इसे स्पष्ट करते हुए सिंह भूपाल ने अपनी सुधाकर टीका में लिखा है कि षड़ज (सा) और ऋषभ (रे) स्वर से वीर, अद्भुत और रौद्र रस (घ) धैवत से। वीभत्स और भयानक रस, गंधार (ग) से तथा निषाद (नि) से करूण रस और मध्यम (म) तथा पंचम (प) से हास्य और श्रृंगार रस की प्रभावोत्पति होती है।''

''अलग-अलग स्वर समूहों से निर्मित अलग-अलग राग भिन्न-भिन्न भावनाओं की प्रस्तुति करते हैं। इसी तरह अलग-अलग ध्वनि और मुद्राओं द्वारा भी अलग-अलग भावों को प्रस्तुत किये जाने की परम्परा आदिकाल से अबतक अनवरत रही है। दूर संचार माध्यमों एवं आधुनिक मशीनों के अविष्कार के पूर्व नगाड़ों पर अलग-अलग प्रकार की ध्वनियों का वादन कर दूर-दराज के जंगली और कबिलायी ईलाके में अपति-विपति की सूचना देने का काम तब किया जाता था। इसलीये तो अलग-अलग भावनाओं की अभिव्यक्ति हेतु अलग-अलग तालों की रचना की गयी है। समान मात्रओं के परस्पर दो तीन ताल बनायी गयी है जैसे-रूपक, तीवरा और पस्तो, झपताल और सूलताल, धमार, झूमरा, दीपचंदी, आड़ाचारताल एवं तीनताल, तिलवाड़ा, अद्धा और जतताल आदि की गति और प्रकृति अलग है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि अलग-अलग गीत एवं भाव के लिए अलग-अलग तालों का प्रयोग किया जाता है।''

दिनभर खेतों-खलियानों में कमर तोड़ मेहनत करने के बाद रात में चौपाल में बैठकर ढ़ोलक की थाप पर जब अपने कृषक भाई उल्लास के तराने छेड़ते हैं तो उनकी दिन भर की सारी थकान खत्म हो जाती है और वे थकान रहित निद्रा में सोते हैं।

''संगीत द्वारा व्यक्ति अपनी मानसिक उद्विग्नता को शांत कर सकता है। पाश्चात्य देशों में कई लोगों को बगैर बेहोश किये या शरीर का अंग विशेष सुन्य किये बिना उनका सफल ऑपरेशन करने में सफलता प्राप्त की गयी है, सिर्फ हेडफोन द्वारा उसे संगीत सुनाकर। है न आश्चर्य की बात। लेकिन जो लोग सांगीतिक क्षमताओं से परिचित हैं वे इसे बिल्कुल सामान्य रूप में लेते हैं। इतना ही नहीं संगीत सुनाकर खेतों की फसल और वृक्षों के फल देने की क्षमता का भी काफी विकास किया गया है। नियमित संगीत सुनने वाले जानवरों में दूध देने की क्षमता बढ़ जाती है।''

बोलचाल की भाषा भी न समझने वाला शिशु भी मधुर स्वर में लोरियां सुन अपना रूदन भूल

जाता है। गीत एवं तुक बंदियों के माध्यम से याद करायी जाने वाली पाठ्य सामग्री बच्चों को जल्द याद हो जाती है। युद्ध की विभीषिका में गायक गायिकाओं को सीमा पर भेजा जाता है जो जान हथेली पर लेकर देशहित में लड़ने वाले रणबाँकुरें के मनोबल को बढ़ाते हैं। जिससे स्पष्ट है कि संगीत का प्रभाव मन और मस्तिष्क दोनो पर समान रूप से होता है। ''मोटी-मोटी पुस्तकों के माध्यम से भावों का जो संप्रेषण करने में लोग असमर्थ रहते हैं, लच्छेदार भाषणों द्वारा भी जो बात आप दूसरों को समझाने में सक्षम नहीं साबित हो पाते, उसी बात को एक गायक अपनी दो तीन मिनटों की रचना में इस तरह से दूसरों तक पहुँचाता है कि वह व्यक्ति गायक के मानसिक और भावनात्मक धरातल पर आकर उसे स्वीकार करता है। किसी तेज फड़कती गीत पर तभी तो लोगों के पैर थिरकने लगते हैं, उनके चाल-ढाल में तेजी आ जाती है। सक्रियता बढ़ जाती है। जबकि, गम में डूबी हुई आवाज को सुनकर पावों में बोझिलता आ जाती है, वह सुस्त हो जाता है। ऐसा संगीत की जादू के कारण होता है, दुःखी गीत को सुनकर श्रोताओं की आँखों से आँसू प्रवाहित हो उठता है, और नाचते गाते कलाकारों को देखकर दर्शकों का भी उमंग के तरंग में आकर थिरक उठना अनहोनी नहीं बल्कि अत्यन्त समान्य बात है।''

इस तरह से स्पष्ट होता है कि संगीत का स्वरूप भावनात्मक होता है। और संगीत भावनाओं की अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम है।

6. संगीत चिकित्सा का भी एक माध्यम है।

आज जब चिकित्सा के क्षेत्र में हर क्षण नये और चमत्कारी खोज हो रहे हैं। ऐसे में यह कुछ लोगों को अविश्वसनीय प्रतीत हो तो कोई आश्चर्य नहीं, किंतु यह सत्य है कि अति प्राचीन काल से अब तक संगीत ने चिकित्सा के क्षेत्र में बहुत बड़ा योगदान दिया है। और आधुनिक युग के चिकित्सकों एवं वैाानिकों ने भी इसके महत्व को स्वीकारते हुए इस दिशा में कार्य शुरू कर दिये हैं और सफल हो रहे हैं।

''नाद बह्म का मानव जीवन में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। आत्मोकर्ष हेतु किये जाने वाले अनेकानेक उपक्रमों में से संगीत को सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। भारतीय मार्गी संगीत जिसे आज हम शास्त्रीय संगीत कह सकते है का स्वर्णिम इतिहास इसका गवाह है कि प्राचीन काल में वेद मंत्रें के सस्वर उच्चारण का प्रयोग स्वर विधा के रूप में होता था, जिसके शारीरिक एवं मानसिक व्याधियों को दूर करके इंसान के उत्कर्ष का मार्ग प्रशस्त किया जाता था। नाद योग के साधनों के द्वारा मानव सत्यम् शिवम् और सुन्दरम् को सहज ही प्राप्त कर लेता था और आज भी कर लेता है। तानसेन, वैजूबाबरा आदि कलाकारों द्वारा संगीत से पत्थर पिघलाने, दीपक जलाने और वर्षा कराने की घटना न तो सांगीतिक चमत्कार की कपोल कलपित कहानियाँ है और न तो जादू टोना। यह ध्वनि विज्ञान, नाद बह्म की करामात है।''

संगीत हमारे मन मस्तिष्क पर आशा और अपेक्षा से कहीं अधिक प्रभाव डालता है। चूँकि इंसान की 80 प्रतिशत से अधिक बिमारियों के मूल में मानसिक कारण ही होते हैं, और अब तो पाश्चात्य देशों के चिकित्सकों ने भी स्वीकार कर लिया है कि अधिकांश इंसानी बीमारियाँ मानसिक कारणों से होती हैं, भले ही वे बिमारी शारीरिक मात्र दिखाई देती हैं। चूकि संगीत की स्वर लहरियों में मानवीय भावनाओं को आंदोलित और अधिक तरंगित या शिथिल कर देने की आपार क्षमता है, संगीत द्वारा बिमारियों को नियंत्रित करने में लगातार जो सफलता पायी जा रही है, वह मात्र संयोग नहीं, नाद बह्म, ध्वनि विज्ञान का चमत्कार है। न केवल स्वर और राग, बल्कि तालों में भी यह सामर्थ्य है कि रोगों को नियंत्रित कर सकें। जिन मानसिक आघात् या भावनाओं के कारण बिमारियाँ होती है, उसके विपरीत प्रभात डालने वाले स्वरों या उन स्वरों से निर्मित रागों का गायन, वादन करके उन भावनाओं का शमन किया जा सकता है। यही है मूल मंत्र संगीत चिकित्सा का।

''डर, तनाव, आतंक एवं मानसिक दुर्बलता के निवारण हेतु तो संगीत बहुत बड़ी दवा है। महान संगीतज्ञ संगीत नायक स्व. दरगाही जी ने संगीत द्वारा कई रोगियों को स्वस्थ करने में सफलता पायी थी। संगीत मार्तड ओंमकारनाथ ठाकुर ने इटली के तत्कालीन शासक मुसोलिनी को अपने गायन द्वारा अनिद्रा की बीमारी से मुक्त कराया था। पाश्चात्य देशों में प्रायः सभी सांगितिक ध्वनियों का प्रयोग किया जाने लगा था। सुरीले संगीत द्वारा उनके मानसिक उन्माद को घटाकर उनकी स्थिति में सुधार किया जाता है।''

दरअसल विक्षिप्त और असाध्य मानसिक रोगी समझकर जिन व्यक्तियों को समाज से बहिष्कृत और निष्कासित कर दिया जाता है वास्तव में उन रोगियों का दिलों दिमाग बिलकुल बेकार नहीं हो जाता है। होता केवल यह है कि भावनाओं पर गहरा आघात लगने के कारण वे मात्र अपना संतुलन खो बैठते हैं। इन्हें असामाजिक मानने की नहीं, उनकी भावनाओं को जागृत और संतुलित करने की आवश्यकता होती है और ऐसे में संगीत महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

''अमेरिका के डा. एस. जे. लोडन संगीतज्ञों एवं संगीत प्रेमियों के स्वास्थय का परीक्षण करके इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि संगीत से जुड़े लोग औरों की अपेक्षा कम बिमार पड़ते हैं। न्यूयार्क के डॉ. एडवर्ड पोडोलास्की ने संगीत को सर्वोपयोगी व्यायाम के रूप में स्वीकारा है, जबकि जापानी संगीतकार शिनीची सुजुकी के अनुसार संगीत मनुष्य में भाव, संवेदना अनुशासन, सहिष्णुता और कोमलतम् भावों को जागृत करता है।

अमेरिका के प्रसिद्ध वैज्ञानिक ऑस्टिन एम.डे. लारियर्स ने व्हाट इज थेरेपी इन म्यूजिक थेरेपी में स्वीकारा है कि संगीत अपनी विशिष्ट और सूक्ष्म आंतरिक संरचना के माध्यम से उन महत्वपूर्ण तत्वों को उपस्थित करता है, जिन्हें मानसोपाचार के लिए किसी भी आधुनिक चिकित्सा पद्धति में आवश्यक माना जाता है।''

आयुर्वेद का सिद्धान्त है कि शरीर की प्रत्येक क्रिया प्रतिक्रिया पर तंत्रिका तंत्र एवं मस्तिष्क का नियंत्रण रहता है, अतः शरीर की क्रिया या प्रतिक्रिया में पैदा हुए व्यवधान जिसे रोग की संज्ञा दी जाती है, भी तंत्रिकाओं के स्पंदन को विभिन्न स्वर लहरियाँ अपने-अपने गुणों के अनुसार प्रभावित करती है। ध्वनि के प्रभाव से शारीरिक क्रिया-प्रतिक्रिया पर जो बदलाव आता है उसे ही संगीत चिकित्सा कहते हैं।

''आयुर्वेद में गांधर्व वेद की सहायता से स्वर चिकित्सा की प्रणाली काफी समय पूर्व प्रचलित थी। चरक ऋषि ने अपनी पुस्तक सिद्धि स्थान के छठे अध्याय में संगीत के चिकित्सीय प्रभाव का विस्तृत वर्णन किया है। आयुर्वेद के अनुसार दोष एवं धातु के असंतुलन से ही बिमारियों के जन्म होते हैं। शरीर और मस्मिष्क में इसका संतुलन बनाये रखना चिकित्सकों का कार्य होता है। सांगीतिक स्वर लहरियां इसका संतुलन करने में चूँकि पूरी तरह सक्षम है अतः संगीत द्वारा चिकित्सा भी होता है।

उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट है कि संगीत का स्वरूप चिकित्सा पर आधारित है और संगीत के माध्यम से मानवीय चिकित्सा संभव है।

7. संगीत का स्वरूप आध्यात्मिक होता है।

संगीत अनादि और अनंत है, इसके द्वारा परमानन्द की प्राप्ति होती है। संगीत स्वंय परमात्मा का स्वरूप है। मानव जीवन का परम लक्ष्य परमात्मा का साक्षात्कार माना गया है, और इस लक्ष्य की प्राप्ति का सर्वोत्तम साधन संगीत है।

एक ग्रंथ के अनुसार

''ज्ञानं कोटि गुणं ध्यानं, ध्यानं कोटी गुणं स्तोत्रं, स्तोत्र कोटि गुणं जपं, जपं कोटि गुणं गानम्''

अर्थात पूजा से करोड़ गुणा श्रेष्ठ ध्यान है और ध्यान से कोटि गुणा श्रेष्ठ स्तोत्र है, स्त्रेत से करोड़ गुणा श्रेष्ठ जप है, और जप से करोड़ गुणा श्रेष्ठ गान है। और यही कारण है कि भारतीय संगीत में आध्यात्मिक गुणों की प्रचुर मात्र दिखती है।

''विष्णु पुराण के अनुसार जिस प्रकार अग्नि के स्पर्श से स्वर्ण आदि धातुओं के मल का नाश हो जाता है। उसी प्रकार भक्तिपूर्वक किया हुआ भगवत कीर्तन सभी पापों के नाश का उत्तम साधन है।

''नाहं वसामि वैकुंठे, योगिनां हृदये न च, मद्भक्ता यंत्र गायंति, तत्र तिष्ठमि नारदः''

अर्थात हे नारद, मैं न तो स्वर्ग में रहता हूँ, न तो योगियों के हृदय में। मै तो वहाँ रहता हूँ जहाँ मेरे भक्त मेरा गायन करते हैं। भगवत गीता में ईश्वर और मोक्ष प्राप्ति का सर्वाधिक सरल उपाय कीर्तन और भक्ति को बताया गया ही। गरूड़ पुराण में आत्मज्ञान तथा आत्मज्ञान से परमपद पाने के लिए गोविन्द के कीर्त्तन का निर्देश दिया गया है। और साथ ही लिखा है कि

'विलज्जते उद्गायति नृत्यत्ते च
मदभक्तियुक्तो भुवनं पुनावि'

अर्थात लज्जा छोड़कर उच्च स्वरों में गान और नृत्य करने वाला भक्त समस्त लोक को पवित्र करता है।

''याज्ञवल्कय स्मृति में संगीत की महिमा इस प्रकार लिखा हैः-

वीणा वादन तत्वज्ञः श्रुतिजातिविशारदः
तालस श्चाप्रयासेन मोक्मार्गनिगच्छति''

मोक्ष का अर्थ होता है आत्मा और ईश्वर का ऐकीकरण अर्थत आत्मा ईश्वर को प्राप्त करता है और उसी में मिलकर एक हो जाता है। इससे स्पष्ट होता है कि संगीत ईश्वर प्राप्ति का सर्वश्रेष्ठ साधन है। आत्मनूभूति ही ईशदर्शन है।

जब आत्मा को अपने निर्मल स्वरूप का ज्ञान हो जाता है तो वह मुक्त हो जाता है और ईश्वर स्वरूप हो जाता है। जिस आत्मानुभूति के लिये योगी, मुनि जन्मजन्मान्तरों तक साधन करते रहे हैं। वही अनुभूति संगीत के द्वारा सहज ही प्राप्त हो जाती है। योगीजन अपनी साधना द्वारा स्वतः आत्मानूभूति या ईश दर्शन या ईश प्राप्त करते हैं। पर सच्चा संगीतज्ञ अपनी साधना द्वारा अपने साथ ही समस्त श्रोताओं को भी ध्यानस्थ कर आत्मानूभूति करा देता है।''

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि शास्त्रीय संगीत का स्वरूप आध्यात्मिक होता है।

मूल्यांकन

शास्त्रीय संगीत के स्वरूप के विवेचन के क्रम में हमने पाया कि संगीत का स्वरूप बहुत ही व्यापक है। इसमें वैज्ञानिकता के साथ-साथ सामाजिकता भी है। संगीत के माध्यम से जहाँ दर्शनशास्त्र के नियमों का दर्शन होता है, वही यह जीवन यापन का साधन भी है। इसके स्वरूप में सर्वेज्ञात्मक एवं भावनात्मक गुणों का भी समावेश होता है। संगीत के माध्सम से मानसिक रोगों की चिकित्सा भी संभव है तथा ईश्वर प्राप्त करने का अर्थात मोक्ष पाने का सबसे सरल मार्ग भी संगीत है। अर्थात संगीत का स्वरूप बहुत ही विशाल है।

संदर्भ-सूची

- यू.जी.सी. संगीत पृष्ठ-143 न लेखक-डॉ. निशा रावत
- तबला पुराण-पृष्ठ-184-187 लेखक-पं. विजय शंकर मिश्र
- तबला और संगीत पृष्ठ-01-07 लेखिका-शोभा नागर
- विभिन्न संगीत परम्पराओं के वाघ एवं वादक

सामायिकी

नारी अस्मिता का दर्प और रेणु की कहानियां

डॉ. शबनम तब्बसुम

डॉक्टरेट इन हिंदी

हिंदी विभाग, अलीगढ़ मुस्लिम विष्वविद्यालय, अलीगढ़, उ.प्र.

''नारी अब घर की चहारदीवारी में बंदी रहकर केवल बच्चे पैदा करने वाली मशीन ही नहीं कहलाना चाहती अपितु वह भी अपने हृदय में उठने वाली अभिलाषाओं और इच्छाओं को सच्चे रूप में प्रस्तुत करती है।''[1]

रेणु का यह वक्तव्य उस समय का है जब नारी अपने कर्त्तव्यों का निवर्हन परिवार की मर्यादाओं में ही रहकर करती थीं। रेणु के लगभग सम्पूर्ण कहानियों के नारी पात्र एक अलग एवं अमीट छाप छोड़ती हैं। नारी उनके कथा-संसार का विशिष्ट और महत्त्वपूर्ण हिस्सा है; उनके बिना रेणु साहित्य के बहुआयामी पक्षों का अध्ययन पूर्ण नहीं हो सकता। रेणु की कहानियों में समाज में होने वाले परिवर्तन की हल्की से हल्की आहट को भी महससू किया जा सकता है। रेणु की नारियां अन्तः एवं बाह्य दोनों ही परिस्थितियों में संघर्ष करती हैं। उनमें समाज से विद्रोह करने की झमता है, तो कुछ में अपनी कला तथा योग्यता से समाज को बदलने की आकांक्षा है; वहीं कुछ पारम्परिक रूढ़ियों, अंधविश्वासों, बाह्मडम्बरों और दारिद्रय की शिकार भी है; पर ये सभी नारियां कभी भी अपनी अस्मिता को लेकर पितृसत्तात्मक समाज के समक्ष घूटने नहीं टेकती हैं। रेणु की 'नारी' सिर्फ पुरुष की सम्पूर्ति नहीं है बल्कि उनमें 'नारी अस्मिता का दर्प' है।

नारी अस्मिता से अभिप्राय नारी के 'स्व' की पहचान या उसके 'अस्तित्व' से है। 'नारी अस्मिता' नारी की आत्मचेतन या अस्तित्व की तलाश है। ''को अहं अस्मिं? अर्थात् 'मैं कौन हूँ'[2] यह प्रश्न केवल दार्शनिक जगत की नहीं है बल्कि पारम्परिक भारतीय समाज से स्त्रियों द्वारा पूछा गया मूल प्रश्न है। ''अस्मि' अर्थात 'मैं हूँ' की भाववाचक संज्ञा ही 'अस्मिता' हैं। यह स्वत्व का बोध है, आत्मनिर्णय एवं आत्माभिव्यक्ति का प्रश्न है, जो किसी को व्यक्ति बनाता है।''[3] किसी भी परिवार या समाज में स्त्री हो या पुरुष दोनों ही अपने अनुसार अपनी पहचान बनाना चाहता है, पर हमारी सामाजिक संरचना ऐसी है कि पुरुषों को सर्वोच्च समझकर उसे अपने हिसाब से जीने का पूरा हक़ देती है, वहीं नारियों को दोयम दर्जे का मनुष्य समझ कर उसे मर्यादाशील, अनुगामिनी, आज्ञाकारिणी तथा आत्मसमर्पण की कीमत पर ही एक सामान्य जिंदगी जीने का हक़ देती है। संभवतः आजकल कुछ नारियाँ पढ़-लिखकर आत्मनिर्भर बनने की कोशिश कर रही है; कहने को तो वह आज़ाद है, आत्मनिर्भर है; पर उन्हें इस आज़ादी एवं आत्मनिर्भरता की कीमत भी चुकानी पड़ती हैं। नारी अस्मिता की रक्षा आत्म सजगता द्वारा ही संभव है, पर पितृसतात्मक सत्ता नारी अस्मिता की सजगता को कभी भी स्वीकार नहीं करेगा। नारी अस्मिता से हमारा तात्पर्य यह कतई नहीं है कि नारी अपने परिवार एवं समाज के नियमों से ऊपर है। किसी भी समाज में सकारात्मक बदलाव के लिए आवश्यक है कि नारी एवं पुरुष दोनों को समान महत्व दिया जाए। नारी को केवल स्वतंत्र

होकर निर्णय लेना या आर्थिक रूप से स्वालंबी होना मात्र नारी अस्मिता नहीं है। सही मायने में 'नारी अस्मिता' का तात्पर्य नारी के प्रति पितृसत्तात्मक समाज के दृष्टिकोण एवं मानसिकता में बदलाव लाना है, जिसमें नारी का दृष्टिकोण एवं विचार भी शामिल हो। समकालीन हिंदी कहानी लेखन में नारी की स्थितियां एवं उसके अस्तित्व की अवधारणा की उपस्थिति दर्ज होती नज़र आती हैं। स्वतंत्रता के बाद अस्मिता का संबंध केवल महानगरीय एवं उच्च शहरी नारियों तक ही सीमित नहीं रही बल्कि ग्रामीण जीवन में भी नारी अस्मिता का दर्प देखा गया। ऐसी परिस्थितियों में स्वातंत्र्योत्तर लेखकों ने नारी जीवन की आशाओं-आकांक्षाओं के मद्देनजर नारी अस्मिता की तलाश शुरू की। समकालीन युगबोध में नारी अस्मिता की तलाश कर सक्षम वाणी देने में रेणु का अविस्मरणीय योगदान है। रेणु के कथा-साहित्य में पुरुष-नारी संबंधों के कई ऐसे नवीन आयाम परिलक्षित हुए हैं जो पहले की कहानियों में अपवाद मात्र थे।

रेणु सदैव ही स्त्री-पुरुष समानता के पक्षधर रहें। उनके सम्पूर्ण कथा-साहित्य के नारी पात्र पुरुषसत्तात्मक समाज से संघर्ष करते हुए अपनी नयी पहचान बनाती है, जो वर्तमान परिपेक्ष्य में भी प्रासंगिक है। उनके कथा-साहित्य में नारी की सशक्त भूमिका होने के बावजूद नारी-अस्मिता या स्त्री-विमर्श की दृष्टि से मूल्यांकन कम ही हुआ हैं; संभवतः आंचलिक या ग्रामीण परिवेश में नारी जीवन का विश्लेषण अवश्य हुआ है। मेरे इस शोध पत्र का मुख्य उद्देश्य रेणु के कहानियों के माध्यम से नारी-अस्मिता का विस्तृत मूल्यांकन कर उसके विभिन्न पक्षों से दृष्टिगोचर होना है, ताकि नारी-अस्मिता को नया आयाम मिल सकें।

रेणु के कहानियों के विश्लेषण से स्पष्ट है कि उनके नारी पात्र दिखने में तो साधारण लगती हैं, पर वो विशिष्ट प्रतिभा की मालकिन है। जिस तरह हिरामन, पचकौरी मृदंगिया, लुट्टन पहलवान, सिरचन, रसूल मिस्तरी, गणपत, हरगोबिन इत्यादि पुरुष पात्र साधारण होते हुए भी असाधारण है; उसी तरह नैना जोगिन, बिरजू की माँ, लल्लू की माँ, हीराबाई, बड़ी बहुरिया, फूलपत्ती, मीताली-गीताली, अन्नपूर्णा-आभारानी, फातिमा दी, सरोज दी, मिस दूर्बादास, उषादेवी आदि ये सभी नारियां साधारण होते हुए भी अपने सशक्त किरदार के साथ हिंदी कथा साहित्य में एक अलग एवं विशिष्ट स्वरूप के साथ अवतरीत हुई हैं। उनकी नारियां न तो कोई आंदोलन करती है और न हीं जुलूस निकालती हैं, पर हक़ की लड़ाई के लिए जीवनपर्यंत संघर्षरत रहती हैं। रेणु के यहाँ अक्सर मौन संघर्ष देखने को मिलता है; पर यह संघर्ष इतना सशक्त एवं प्रेरेणादायी होता है कि आगे आनेवाली पीढ़ियों के लिए नवीन मार्ग बनाता है। रेणु के कहानियों की यह विशेषता है कि उनके यहां नारियों या किसानों का संघर्ष कहीं खुले तौर पर दिखता है तो कहीं क्रिया-प्रतिक्रिया एवं प्रतिरोध के रूप में आता हैं। 'संघर्ष' का अर्थ केवल युद्ध या स्थूल लड़ाई ही नहीं होती, बल्कि वह एक प्रकार से व्यक्तियों, समुदायों, संगठनों, वर्गों इत्यादि का आपसी प्रतिक्रिया एवं प्रतिरोध भी हो सकता है।

रेणु की कहानियों पर 'आंचलिक' एवं 'ग्रामीण' लेबल लगाकर उनके बहुआयामी पक्षों को नहीं समझा जा सकता है। उनकी कई ऐसी कालजयी कहानियाँ है, जिसके केन्द्र में 'नारी' है। रेणु ने ऐसे नारी चरित्र को गढ़ा है, जो पुरुषासत्तात्मक समाज से टक्कर लेते हुए नारी भावनाओं को न जीवित रखती हैं, वरन नारी अस्मिता की सशक्त हस्ताक्षर बनती हैं। भले ही वह सामाजिक स्तर पर आभाव भरी जिंदगी गुजारती हैं, पर इस आभाव में भी स्वाभिमान है। पति पर भी अपना अधिकार-भाव जताने में दर्प नहीं करतीं। दामपत्य जीवन में नोंक-झोंक चलती रहती है और यह भारतीय दामपत्य जीवन की एक विशेषता है। 'लालपान की बेगम' कहानी ग्रामीण समाज के स्त्री-पुरुष के परम्परागत संबंधों को दर्शाती है। बिरजु की माँ के रूप में ठेठ भारतीय नारी की एक विलक्षण तेवर

देखने को मिलता है। मखनी फुआ द्वारा पुछे जाने पर, ''क्यों बिरजू की माँ, नाच देखने नहीं जाएगी क्या?''[4] बैलगाड़ी के इंतजार में मन ही मन पति से कुढ़ती बिरजू की माँ जवाब देती हैं। ''बिरजू की माँ के आगे नाथ और पीछे पगहिया न हो तब न; फुआ।''[5] भारतीय ग्रामीण नारियों की एक विशेषता यह भी है कि वे अक्सर टोंट (व्यंग्य) में बातें करती हैं। मखनी फुआ को बिरजू की माँ की बातें बाण की तरह लगती है और ये बातें जल्द ही आग की तरह पूरे गाँव में फैल जाती है। जंगी की पुतोहू द्वारा किया गया तंज ''चल दिदिया, चल! इस मुहल्ले में 'लाल पान की बेगम' बसती है।''[6] इस कहानी का केंद्रीय बिंदू है। रेणु 'लाल पान की बेगम' कहानी के माध्यम से जहां एक तरफ स्त्री जीवन की बुर्जुआना व्यवहार को स्पष्ट करते हैं, वहीं दूसरी तरफ एक दयालू एवं संवेदनशील नारी का चित्रण भी करते हैं; जो मेला जाते समय अपने अहं भाव को भूलकर उन स्त्रियों को अपने साथ मेला ले जाना नहीं भूलती है, जिसने उसके ऊपर तंज कसा था। निम्न एवं निम्न मध्यवर्गीय नारियों को अपने आत्मसम्मान या अस्तित्व के लिए जद्दोजहद नहीं करनी पड़ती है, क्योंकि उनके यहाँ अहं भाव की भावना कम होती हैं। ऐसा नहीं है कि उनके यहाँ उत्पीड़न, शोषण, अत्याचार, बैर, जलन इत्यादि नहीं होता है; पर ये सारे उनके जीवन का स्वाभाविक हिस्सा होता है। आभावों में भी 'संतुष्टि की भावना' नीहित होती है और यही निम्नवर्गीय नारी-जीवन के प्रेम, सौदर्य एवं सौहार्द की परिसीमा है। यही कारण है कि उच्चवर्गीय साभ्रांत परिवारों के अपेक्षा निम्न मध्यवर्गीय परिवारों का दामपत्य जीवन अधिक सुखमय होता है। इस दृष्टि से 'लाल पान की बेगम' कहानी अपनी पूर्ण सार्थकता को स्थापित करती है। ''बिरजू की माँ बेगम है, लाल पान की बेगम! यह तो कोई बूरी बात नहीं। हॉ, वह सचमूच लालपान की बेगम है।''[7]

रेणु की नारियां निचले तबके के हाने के बावजूद भी आशा-निराशा, प्रेम-ईर्ष्या और सौंदर्य-सौहार्द के बीच समन्वय बनाएं रखती हैं। रेणु की कहानी 'नैना जोगिन' में 'नारी अस्मिता' का सशक्त रूप देखा जा सकता हैं। इस कहानी की केन्द्रीय पात्र 'रतनी' है, जो निम्न वर्ग की होते हुए भी अपने अधिकार के प्रति चैतन्य है। रेणु रतनी के माध्यम से इस पुरुषसत्तात्मक समाज के समक्ष कई प्रश्न खड़े करते हैं; ''मेरा क्या कसूर जो बारह साल से बनवास दिए हुए हैं आप लोग! इस बूढ़े को करनी का फल चखाया तो क्या बेजा किया? मैं उस समय उसकी पोती की उम्र की थी।...सो, आप लोगों ने खासकर आप दोनों भाइयों ने हमलोग को 'रंडी' से बद्तर कर दिया।...मैं जवान हुई, आप लोगों ने आँख उठाकर कभी देखा नहीं कि आखिर गाँव-घर की एक लड़की ऐसी जवान हो गई और शादी क्यों नहीं होती?...'[8] रतनी अपने इस प्रश्न द्वारा भारतीय समाज के दोगले रवैयों पर करारा तमाचा मारती है। एक तरफ जहाँ बड़े-बड़े दावे किए जाते हैं कि 'बेटियाँ पूरे देश की बेटियाँ होती है'। तब वह समाज कहाँ होता है, जब उन्हीं बेटियों का साथ दरिदंगी की सारे हदें पार कर दी जाती हैं। यह भी नहीं देखा जाता कि वह बच्ची है, जवान है या बूढी; वह भी किसी की माँ है, बहन है या बेटी। हमारे देश में हर रोज रिश्ते तार-तार होती हैं। यह कहानी 1965 में लिखी गई थी, पर उसकी प्रासंगिकता आज के समय में कहीं ज्यादा है। आज 'बलात्कार', 'सामुहिक बलात्कार' के रूप में चरमोत्कर्ष पर पहुँच चूका है। दुःख की बात यह है कि रतनी की तरह अपने हक़ की आवाज़ उठाने के लिए उन्हें अब जिंदा भी नहीं छोड़ा जाता है और यदि कोई बच भी जाए तो सालों-साल संघर्ष करने के बाद भी यह उम्मीद नहीं होती कि उसे पुरुषसत्तात्मक समाज द्वारा न्याय मिल जाए। मुआवज़े के नाम पर लाख-दो लाख रुपये देकर उनका मूहँ बंद कर दिया जाता है और वह दरिंदा छूट्टे सांढ़ की तरह आज़ाद घूमता रहता है। रेणु नारी-संघर्ष को कुंठित नहीं करते है, बल्कि उसकी त्रसदी को मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उसका प्रेषण

भी करते हैं। रतनी उसके लिए अश्लील गालियों का सहारा लेती है। उसके लिए अपना 'अस्तित्व' सर्वोपरि है। उसमें नारी अस्मिता का दर्प है। माधो बाबू जब कहते है; ''ऐसे गाँव में अब कोई भला आदमी कैसे रह सकता है? तब वह भला आदमी पर कटाक्ष करते हुए कहती है; ''भला आदमी? भला आदमी? भला आदमी को 'पूछ-सिंग' होता है?''[9] रतनी अपने अधिकर के प्रति जागरूक है, इसलिए उसमें उग्रता है। वह यह भी प्रश्न करती है कि आपको यह अधिकार किसने दिया, जो मेरा नाम 'रतनी' से 'नैना जोगिन' रख दिया। नैना जोगिन एक विद्रोही, बोल्ड (साहसी) एवं स्वाभिमानी नारी का प्रतीक है। आज भी लड़कियाँ माँ-बाप एवं स्वयं के बदनामी के डर से इन बलात्कारियों के खिलाफ आवाज़ नहीं उठा पाती हैं, पर रेणु आज से लगभग 50 साल से पहले रतनी जैसे सशक्त नारी का चित्रण करते हैं, जो अपने नारी होने का अधिकार मांगती है।

आर्थिक स्वालम्बन के आर में होने वाली नारी शोषण का चित्रण भी रेणु अपनी कहानियों में करते हैं। 'तीसरी कसम' एक कालजयी रचना है, जो कहानी-जगत में अपना नया मुकाम दर्ज़ करवाती है। रेणु 'तीसरी कसम' कहानी में हीराबाई के रूप में एक ऐसी नारी का चित्रण करते हैं जो अपने नृत्यकला के द्वारा आत्मनिर्भर बनने की कोशिश करती हैं, पर हमारा उपभोक्तावादी समाज एवं पुरुषवादी वर्चस्व हीराबाई को सिर्फ 'देह मात्र' ही समझते हैं और उसकी कला को मनोरंजन का साधन। हमारा समाज उसकी कला का सम्मान न देकर 'वेश्या', 'पतुरिया', 'रण्डी' इत्यादि शब्दों से संबोधित करती है। इसका अर्थ यह हुआ कि नारियों का स्वालंबन एवं आत्मनिर्भरता हमारे समाज को स्वीकार्य नहीं। इस विषय में ऋतु भनोट का मानना है; ''स्त्री के अस्तित्व को मात्र देह में रिड्यूस कर पुरुष सदियों से उसका परमेश्वर बना बैठा है। शिक्षा व आत्मनिर्भरता के बल पर स्त्री ने जैसे ही दासत्व के बंधन को काटने का आरम्भ किए तो उसे 'मुक्त देह' के छल छद्म में लपेट पितृसत्ता ने फिर से देह के पायदान पर लाकर पटक दिया।''[10] 'तीसरी कसम' में हीराबाई एक ऐसी नारी के रूप पर अभिव्यक्त हुई है जो आधुनिक समाज में एक स्वछंद जीवन तो व्यतीत करती है, पर वह सामंती- पूंजीवादी व्यवस्था के बंधन में इस तरह से जकड़ी हुई है, जहां से निकलना असम्भव नहीं तो इतना आसान भी नहीं है; जिसे रेणु ने 'महुआ घटवारिन' की कथा द्वारा नारी जीवन में व्यवसायिक दबाव की भयावहता को रेखांकित किया है। हीराबाई हिरामन के निश्च्छल प्यार एवं अपने प्रति आकर्षण को देखते हुए जब वह कहती है; ''महुआ घटवारिन को सौदागर ने खरीद लिया है गुरुजी।''[11] नारी शोषण के सारे मर्म को व्यक्त कर देती है। यह जीवन हीराबाई अपनी स्वेच्छा से चुनती है या किसी विवशता के कारण, यह व्यक्त नहीं हो पाता है; पर, यह कहानी आधुनिक समाज में 'नारी अस्मिता' के नाम पर होने वाले नारी-शोषण का पर्दाफाश अवश्य करती हैं। टी. वी., सिनेमा, थियेटर, विज्ञापन जगत, बड़ी-बड़ी कम्पनियां, पत्र-पत्रिकाएं या 'बाजारू सौन्दर्य' की वस्तु के रूप में नारियों का खरीद-फरोख्त होता है अर्थात् उनका व्यवसाय किया जाता है। उनकी समझ से वे आज़ाद हैं और अपने अस्तित्व एवं अस्मिता के साथ जी रही हैं; पर यह एक छलावा मात्र है। ठीक उसी तरह हीराबाई भी स्वयं को बेच देने के बाद भी 'नारी अस्मिता' का दर्प रखती है। वह जानती है, कि उसकी जैसी नारियां सिर्फ बहु या बीवी के रूप में जीवन व्यतीत नहीं कर सकती हैं; तभी तो रेणु उपभोक्तावादी समाज पर कटाक्ष करते हुए हिरामन द्वारा 'तीसरी कसम' खिलवाते हैं- ''कम्पनी की औरत की लदनी न करने की''।[12] कुछ लोग 'तीसरी कसम' को 'प्रेम कथा' की संज्ञा देते हैं, पर निश्चय ही यह कहानी 'उपभोक्तावादी जीवन में 'नारी- शोषण' की कहानी है। प्राकृतिक रूप से प्रेम का चित्रण अवश्य हुआ है, पर रेणु हीराबाई का चित्रण यथार्थ की कसौटी पर करते

हैं। वे जानते हैं कि हीराबाई जैसी सामर्थ्य नारी हिरामन जैसे साधारण गाड़ीवान के साथ जीवन व्यतीत नहीं कर सकती है। रेणु अपनी इस रचना में बहुत ही तार्किक एवं यथार्थपरक रहे हैं।

हिंदी कहानियों में जब नारी अस्मिता की तलाश करते हैं तो इस दृष्टि से रेणु की कहानी 'भित्तिचित्र की मयूरी' लाजवाब है। इस कहानी में फूलपत्ती और उसकी माँ के रूप में एक ऐसी नारी का चित्रण हुआ हैं जो गरीब तो है, पर भित्तिचित्र लोककला से परिपूर्ण है। उसकी कला का सनातन जैसे शहरी दलालों द्वारा व्यवसायीकरण की योजना बनती है तो रेणु फूलपत्ती के माध्यम से कड़ा विरोध करवाते हैं। रेणु लोककला के परखी थे। उन्हें पता था कि आधुनिकीकरण के दौर में इस लोककला की मौलिकता खत्म हो जाएंगी और यह सिर्फ व्यापार एवं सौदर्य का साधन मात्र रह जाएगा। इसीलिए फूलपत्ती अपनी एवं अपनी कला का सौदा करने से इंकार करती है; ''आप क्या हमको- हमलोगों को तस्वीर ही समझते हैं?'' 'क्या मतलब'? ''आप समझते हैं कि आप सब कुछ खरीद सकते हैं!''[13] फुलपत्ति एक जागरूक नारी है। उसे अस्मिता की पहचान है; इसीलिए वह दया नहीं बल्कि अपना हक़ चाहती है; यही कारण है कि सनातन द्वारा दिए गए प्रस्ताव को ठूकरा कर इसी गाँव में 'मधुबनी आर्ट सेंटर' खोलने के प्रस्ताव रखती है। रेणु की दूर-दृष्टि इस तथ्यों से भलिभांति परिचित थी कि पूंजीवादी सत्ता न सिर्फ इनकी कला का व्यवसाय करेंगे बल्कि इन कलाकारों का शारीरिक-मानसिक शोषण भी करेंगे।

हमारे भारतीय समाज में पुरुष के बिना स्त्री का कोई अस्तित्व नहीं होता। जब किसी परिवार में किसी स्त्री के पति की मृत्यु हो जाती है तो ऐसा लगता है कि उस स्त्री का कोई अस्तित्व ही नहीं है। 'संवदिया' कहानी की 'बड़ी बहुरिया' के साथ कुछ ऐसा ही होता है, पर वह एक ऐसी नारी की मिसाल है जो सम्पूर्ण आभावों से गुजरते हुए भी अपनी अस्मिता को बनाए रखती है। परिस्थितिवश जब कष्ट असहनीय हो जाता है तब उसमें भी मोहभंग एवं असंतोष की भावना जागृत होती है, पर वह क्षणिक होती है। अपने मायके संवाद भेजती है कि अब यह त्रसदी नहीं झेली जा रही है; उसे आ कर ले जाएं। संवाद भेज तो देती है पर बाद में उसे पछतावा होता है। वह अपने पति के गाँव एवं घर को छोड़ नहीं सकती। वह चाहती तो शादी कर सकती थी पर भारतीय स्त्री के लिए पति के प्रति प्रेम एवं आसक्ति सिर्फ जीवन में ही नहीं, मरणोपरांत उतनी ही बनी रहती है; जो उसके अस्तित्व से जुड़ा होता है। रेणु के कथा साहित्य में नारी अस्मिता का रूप अप्रतिभ है।

अगर नारी सशक्त होती है तो उसका परम्परा का नाम पर प्रतिरोध होता है, अगर अशक्त होती है तो उसका शोषण होता है। 'तीन बिंदिया', 'रसप्रिया', 'कस्बे की एक लड़की' ऐसी ही कहानी है जो पुरुषासत्तात्मक समाज की खोखली मानसिकता की पोल खोलती है। 'तीन बिंदिया' की मीताली-गीताली लोक गायिका है। मीताली की प्रसिद्धि जब उसके पति को बर्दाश्त नहीं होती है तो वह उस पर विशुद्धता का लेबल लगाकर उसकी ख्याति को मिट्टी में मिला देता है और मीताली सिर्फ बाथरूम सिंगर बन कर रह जाती है। गीताली अपनी बहन की अस्मिता को बचाए रखने के लिए प्रतिज्ञा लेती है; ''सरल-सुगम-सहज संगीत को स्वतंत्र मर्यादा दिलाएगी। मीताली दी की परित्यक्ता रागनियों को उदारपूर्वक आश्रय दिया उसने।''[14] 'रसप्रिया' कहानी में रमपतिया के साथ प्रेम के नाम पर यौन-शोषण होता है। पचकौरी गर्भवती कर उसे छोड़कर भाग जाता है और उसी को चरित्रहीन का घिनौना लांछन लगाकर छोड़ देता है। नारी अबला हो या सबला, पर अपने ऊपर लगे लांछन को बर्दाश्त नहीं कर पाती है। अहंवादी पुरुष 'प्रेम' के नाम पर 'स्त्री देह' का उपभोक्ता होता है जबकि स्त्री के लिए 'प्रेम' उसका 'सर्वस्व' होता हैं। रमपतिया का आत्मसम्मान आक्रोश के रूप में फूट पड़ता है; ''चौप! रसपिरिया का नाम मत ले।''[15]

पुरुषसत्तात्मक समाज नारी की स्थितियों में सुधार लाने के लिए बड़े-बड़े दावे अवश्य कर ले या फिर स्त्री विमर्श या स्त्री अस्मिता पर बड़ी-बड़ी बहस कर ले, फिर भी नारियों का शोषण होता रहेगा और हो रहा है, क्यांकि दाने या बड़ी-बड़ी बातें करने से कुछ नहीं होता, जब तक उनकी मानसिकता में बदलाव नहीं आता। आज देश में नारियों की जो स्थितियां है, वह हैवानियत की सारी हदें पार कर चूकी हैं। पुरुषों को लगता है आज की नारियां आज़ाद है और उन्हें समानता का अधिकार मिल गया है। शिक्षित एवं आत्मनिर्भर तो अवश्य हो गई है, पर क्या वह शोषण मुक्त हो गई हैं? रेणु होते तो 'सामूहिक बलात्कार' और उसके बाद दिए जाने वाले 'दर्दनाक मौत' जैसी क्रूर हैवानियत पर न सिर्फ आहत होते बल्कि खून के आँसू रोते क्योंकि रेणु जिस शोषण-रहित समाज की कल्पना किए थे; वह अपनी जड़तावादी प्रवृत्ति के कारण छिन्न-भिन्न हो गई है; लेकिन वो यह भी जानते थे कि हमारे पितृसत्तात्मक समाज में मानवरूपी भेड़िया सदियों से विराजमान है और आगे भी रहेंगे, जो मासूम भेड़ों से अपनी भूख मिटाने की कोशिश करते रहेंगे; पर यह भूख इतनी अतृप्त है कि वह कभी नहीं मिटेगी। 'न मिटने वाली भूख' कहानी में रेणु इन्हीं काम पिपासुओं द्वारा बालात्कार-पीड़ित महिलाओं की मनोदशाओं का बड़ा ही मार्मिक चित्रण करते हैं। इस कहानी के माध्यम से यह बताना चाहते हैं कि कामपिपासु राक्षसी प्रवृति वाले पुरुषों की भूख इतनी तीव्र होती है कि वह कभी मिटती नहीं है। मृणाल, गुंगी पगली, डांसर अंगुरीबाई जैसी हजारों-लाखों नारियां हैं जो उनकी तृष्णा का दंश न सिर्फ शारीरिक रूप से बल्कि मानसिक रूप से भी झेलती हैं। कहानी की नायिका श्रीमति उषा देवी की तरह न जाने कितनी नारियां मानसिक प्रातड़ना की शिकार होकर आत्महत्या कर लेती हैं। आज भी नारियां इस अमानवीय भूख एवं संकीर्ण मानसिकता के कारण अक्रांत एवं आहत हैं। 'कस्बे की एक लड़की' कहानी में सरोज एक शिक्षिक एवं शारीरिक विकृति वाली लड़की है, पर वह अस्वाभिमानी हैं। उसे दुःख इस बात का है कि क्या लड़कियों का अकेले का कोई अस्तित्व नहीं हैं? हमारा समाज एक विकलांग लड़की के साथ शादी नहीं कर सकता, पर अपनी हवश की भूख मिटाने के लिए सदैव तत्पर रहता हैं। कोई 'कालोजाम' तो कोई 'कामहंसिनी' कहता है। रामभाई जिस पर सरोज दी को बहुत विश्वास है, पर वह भी...? सरोज दी कहती है; ''रामभाई ने कहा है, व्यक्तित्व के बिना... रामभाई को कालाजाम प्रिय है... रामभाई कहते है कि तुम्हारा तन...।''[16]

हमारी सामाजिक संरचना ने जड़वादी नियम तय कर दिया है कि समाज में नारी का स्थान हमेशा नीचे या दोयम दर्जे का है। पुरुषों के ऊपर स्त्रियों का होना बर्दाश्त नहीं। चाहे वह ग्रामीण समाज हो या नगरीय! रेणु 'टेबूल' कहानी में पुरुषों के इसी जड़तावादी प्रकृति को उजागर करते हैं। कहानी में मिस दुर्बादास पुरुषों के नकारात्मक रवैयों को अस्वीकार करती है। वह एक कर्मठ व्यक्तित्व की प्रगतिशील नारी है। वह अपनी मेहनत एवं लगातार प्रयास से एक डिस्पेच क्लर्क से प्रोन्नति कर असिस्टेंट ब्रांच मैनेजर बन जाती है; पर वह चाहती है कि उसी टेबुल पर काम करे, जिस पर वह इतने सालों से कार्य कर रही है। ऑफिस वालों को इसे उनके पद पर होने का घमंड समझते हैं। मिस दुर्बादास की जगह नया हेड क्लर्क अनुरंजन गुप्ता आते हैं जो मि. दुर्बादास के सहपाठी रह चुके है और उन्हें दुर्बादास का यह अनुरोध स्वीकार नहीं होता है। उन्हें लगता है अपनी सहपाठी रह चूकी नारी के नियत्रंण में कार्य करना पड़ेगा इसलिए उसके पुरुषवादी अहं की ठेस लगती है और वह त्यागपत्र दे देता है। ऑफिस के अन्य पुरुषों को भी नारी वर्चस्व बर्दाश्त नहीं होता। पर्चेज सेक्शन कहता; ''ई जुल्मे है कि जनाना जात राज करे और मरद जात... हमारे यहाँ एक कहनी है कि- जे घर मौगी कैल घरबार-से घर बूझू बंटाढ़ार।''[17] आधुनिक काल की नारियां जानती है कि उसे अपने अस्तित्व

एवं अस्मिता को बनाए रखने के लिए कई मोर्चों पर संघर्ष करना पड़ेगा। तभी तो महादेवी वर्मा को 'दीपशिखा' की भूमिका में कहना पड़ा; ''समाज में वह अपनी स्थिति के प्रति सजग और सतर्क हो चुकी है। उसकी सजीवता का परिचय समाज को मिल चुका है। वह उपेक्षणीय नहीं बल्कि आज संपूर्ण शक्ति के साथ जाग उठी है।''[18]

रेणु महिलाओं के प्रति उदार प्रवृत्ति रखते थे। उनका मानना था कि नारी हमारे समाज की मेरूदंड है। उदारवादी प्रवृत्ति से कतई यह अर्थ नहीं है कि उनके प्रति दयाभाव है। उदार प्रवृत्ति से तात्पर्य नारी पात्रें के साथ हर मोर्चे एवं संघषों में पूर्ण रूप से साथ देना है। फलस्वरूप उनमें अधिकार चेतना दिखती है। उनकी कहानियों में नारी-अस्मिता का दर्प है तो वहीं नारी-मन में प्रफुल्लित होने वाले कोमल भाव भी हैं। 'जलवा' कहानी की 'फातिमा दी' ऐसी ही चरित्र है जो राजनैतिक ताक़तों से हार कर भी अपने नैतिक मूल्यों की रक्षा के लिए अपने ऊपर विश्वास को बनाए रखती हैं। आज़ादी से पहले स्वतंत्रता संग्राम में पुरुषों के साथ कंधे से कंधे मिलाकर लड़ने वाली नारी आज़ादी के बाद साम्प्रदायिक एवं संकीर्ण राजनीतिक ताक़तों के साथ लगातार संघर्ष करती है। फातिमा दी एक विद्रोही नारी है जो राजनीतिक कठपुतली बन कर जीना नहीं चाहती है; इसीलिए वह राजनीतिक तुष्टीकरण का शिकार होती है। ''कौन है यह औरत?... कोई हिन्दू...? अरे पहचानते नहीं। यह वही कुतिया है।... फातिमा? साली फिर कहाँ से आ गई? कुत्ती।''[19] रेणु हमारे समाज के समक्ष फातिमा दी के माध्यम से बहुत बड़ा प्रश्न छोड़ जाते हैं। क्या 'नारी' होना; विशेष रूप से 'फातिमा' होना; हमारे देश के लिए कलंक है। ध्यातव्य है कि जब-जब आवाज़े दबाई गई है; आक्रोश एवं विद्रोह का स्वर और भी आक्रमक हुआ है।

रेणु के कहानियों के नारी पात्र ग्रामीण भी है; शहरी भी; उच्च, मध्यम एवं निम्न वर्ग की भी हैं। रेणु इन सभी नारियों के जीवनमूल्यों, स्थितियों एवं विभिन्न पहलुओं को एक साथ उजागर करने का प्रयास करते हैं। उन्होंने नारी हृदय की पीड़ा, संघर्ष, संवेदना, करूणा इत्यादि को इस गहराई के साथ चित्रित करते है कि नारी जीवन की समस्त परिस्थितियों का आंकलन हो जाता है। बिरजू की माँ, नैना जोगिन, हीराबाई, रामपतिया, फूलपत्ती, बड़ी-बहुरिया, मीताली-गीताली, ऊषा देवी, मिस दुर्बादास, सरोज दी, फातिमा दी ये वो नारियां है जो न सिर्फ पुरुषसत्तात्मक समाज से संघर्ष करना जानती है, बल्कि अपनी उत्तरदायित्वों का निवर्हण करते हुए नये भारत लिखने के लिए तत्पर भी हैं। यही कारण है कि रेणु की नारियाँ हिंदी कथा साहित्य में महत्वपूर्ण एवं अविस्मरणीय है। वर्तमान संदर्भों में रेणु की कहानियाँ पूर्णतः प्रासंगिक है, क्योंकि आज नारी शोषण अपनी पूर्ण परकाष्ठा पर है। जितना जयादा नारी-विमर्श, नारी मुक्ति, नारी अस्मिता इत्यादि के लिए आवाज़ उठाई जा रही है; उतने ही जोर व शोर से नारियों का मानसिक व शारीरिक शोषण हो रहा है। नारी की न तो कोई जाति होती है, न धर्म, न ही कोई रिश्ते होते हैं और न ही कोई अवस्था; वह तो 'देहमात्र' है जिसका सिर्फ भोग होता हैं। नारियों के हक़ के लिए आवाज़ उठाने वाले भीड़ में न जाने कितने ही भेड़िये छूपे रहते हैं, जो एक तरफ स्त्रियों का शिकार करते हैं और फिर भीड़ में शामिल होकर नारियों का हितदायी बन जाते हैं; फिर न्याय दिलवाने के नाम पर राजनीतिकरण कर उसका जनाजा निकाल देते है।

सही मायने में पूरी ईमानदारी के साथ पुरुषसत्तात्मक समाज की मानसिकता में बदलाव नहीं आएगा तब तक नारियों की स्थितियों में कोई सुधार नहीं आने वाला। आज की नारियों को अपने अधिकार, अपनी सुरक्षा, अपनी आज़ादी और सबसे बढ़कर अपने अस्तित्व की लड़ाई स्वयं लड़नी होंगी। उसकी शुरुआत सबसे पहले अपने घर-परिवार से ही करनी होंगी, फिर समाज से; तब कहीं जाकर देश में बदलाव की की कुछ किरणें

देखने योग्य मिल सके।

''माना अभी समय बूरा है
पर हमें भी जीना है
अपने बलबूते ही सही
अपना अस्तित्व बनाना है!''

संदर्भ

1. उमा शुक्ला; 'भारतीय नारी : अस्मिता की पहचान', संस्करण 1996, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ.सं. 41 से उद्धृत।
2. प्रो. संजय एल. मदार; 'अस्मिता विमर्श', संस्करण 2019, तक्षशिला प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ.सं. 132
3. वहीं, पृ. 132
4. भारत यायावर; 'रेणु रचनावली-1', संस्करण 2012 (चौथी आवृति), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 164
5. वही, पृ. 164
6. वही, पृ. 165
7. वही, पृ. 174
8. वही, पृ. 429
9. वही, पृ. 429
10. https://bizooka2009.blogspot.in/2018/5/blog-post-94.htm.
11. भारत यायावर; रेणु रचनावली-1, पृ. 162
12. वही, पृ. 163
13. वही, पृ. 576
14. वही, पृ. 188
15. वही, पृ. 135
16. वही, पृ. 282
17. वही, पृ. 260-261
18. आजकल पत्रिका; फरहत परवीन (संपा.), मार्च 2014, वर्ष 69, अंक 11, पृ. 59
19. भारत यायावर; रेणु रचनावली-1, पृ. 467

साहित्य और संस्कृति की समकालीन चुनौतिया

डॉ. नवाब सिंह

हिन्दी विभाग, रामानुजन महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

साहित्य और संस्कृति की सांगठनिक पृष्ठ भूमिका :

साहित्य और संस्कृति में पारस्परिक गहरा सम्बन्ध है। वे परस्पर अन्योन्याश्रित है। आपस में गुँथे हुए हैं। दोनों ही देशकाल की सीमा का अतिक्रमण कर वैश्विक भूमण्डलीय यात्रा करते हैं। दोनों ही बाहरी नहीं बल्कि मनुष्य के अंतर्मन की भीतरी और गहरी दीर्घकालीन यात्रा करते हुए जीवित रहते हैं। दोनों ही शुद्धतावादी संकीर्ण धारणा की चौहद्दी को तोड़ते रहते हैं। दोनों में एकरूपता का नहीं बल्कि बहुरूपता का गुण होता है। अर्थात विभिन्नता और विविधता दोनों की ही आंतरिक और प्राकृतिक विशेषता है। दोनों का ही विकास सामूहिक रूप से नहीं बल्कि भिन्न भिन्न साहित्यों और संस्कृतियों के परस्पर संतरण (सम्मिश्रण अथवा अंतर्विलय) से होता है। और परस्पर सम्पर्क और संघर्ष से ये कालजयी साहित्य और वृहतर संस्कृति को विकसित करते हैं। दोनों ही विराट मानवता का प्रसार करते हुए रूढ़ि, पाखण्ड और हिंसा का प्रतिरोध करते हैं। दोनों का ही मूल संदेश 'जोड़ना' है 'तोड़ना' नहीं। इसलिए ये दोनों 'मैं और अन्य' के भेद की बातें न करके 'हम' की बात करती हैं। दोनों का ही मूल लक्ष्य मानवीय समाज की चेतना का उन्नयन और समृद्धि करना है। इसी विराट चेतना से ये दोनों अमरत्व की शक्तियां पाते हैं। और उज्ज्वल मानवता का पथ आलोकित करते हुए इस धरती को इस लोक को सुंदर बनाने में सतत संलग्न रहते हैं।

अध्ययन के लक्षित आधारबिन्दु :

साहित्य और संस्कृति एक व्यापक अवधारणा है। साहित्य-संस्कृति का रूप-स्वरूप बहुआयामी होने के साथ साथ ही विभिन्नतामयी और विविधतामयी भी है। वैसे तो साहित्य संस्कृति का एकमहत्त्वपूर्ण अभिन्न अंग है। फिर भी साहित्य और संस्कृति परस्पर एक दूसरे को सक्रिय और जीवंत बनाए रखते हैं। दोनों ही एक दूसरे की ऊर्जा के स्रोत हैं। दोनों ही एक दूसरे को निरंतर परिष्कृत करते हुए शक्तिवान बनाते चलते हैं। सृजनशील साहित्य और संस्कृति के सम्मुख हर देशकाल में चुनौतियां रही हैं। दोनों ही अपने समकालीन संकटों और चुनौतियों से संघर्ष करते हुए समाज-चेतना को परिष्कृत करते हुए गुणात्मक रूप से गतिशील और उन्नतशील करते रहे हैं। समकालीन साहित्य और संस्कृति के सामने आज अनेक दोषपूर्ण सांस्कृतिक विकृतियां और चुनौतियां हैं जो समाज की समृद्धि और उन्नति के लिए घातक और बाधक हैं। समकालीन लोकतांत्रिक समाज व्यवस्था की विराट मानवतावादी सांस्कृतिक चेतना के सामने जो अनेक घातक चुनौतियां हैं वे इस प्रकार हैं - जातिवाद, वर्णव्यवस्था, लिंगभेद, साम्प्रदायिकता, आर्थिक गैरबराबरी, धार्मिक वैमनस्यता, असहिष्णुता, अशिक्षा, क्षेत्रवाद, मशीनीकरण, बाजारवादी भोगविलासिता, अंधविश्वास- पाखण्ड, श्रेष्ठतावाद, रक्तशुद्धतावाद, भाषाई वर्चस्ववादी मानसिकता आदि। इन चुनौतियों में से कुछ बिन्दुओं को ही यहां अध्ययन के केन्द्र में रखा जाएगा।

साहित्य और संस्कृति के विभिन्न समकालीन संकटों और चुनौतियों की चर्चा और विश्लेषण करने से पहले जरूरी है संस्कृति की प्रकृति को जानना और समझना।

संस्कृति की जननी प्रकृति :

संस्कृति और प्रकृति में गहरा सम्बन्ध है क्योंकि संस्कृति का जन्म प्रकृति से हुआ है। प्रकृति संस्कृति का ओरिजिन रूप है वही उसकी वास्तविक जननी है। प्रकृति भी एक व्यापक अवधारणा है। जिसमें समस्त ब्रह्माण्ड का चर-अचर व्याप्त है। प्रकृति का अर्थ है - भौतिक पदार्थों का वह सहज स्वाभाविक रूप-स्वरूप जो सहज रूप में प्राकृतिक है। इस प्राकृतिक रूप को जब परिष्कृत कर सजा संवारकर व निखारकर एक बेहतर रूप दिया जाता है तब वह संस्कृति हो जाता है। प्रकृति अथवा प्रकृत से ही प्राकृत भाषा का भी सम्बन्ध है। प्राकृत का अर्थ है भाषा का आरंभिक प्राकृतिक रूप। प्रकृत चीजों को ही सुसंस्कृत किया जाता है। अर्थात संस्कारित करना किसी प्राकृतिक, पूर्व या आरंभिक वस्तु का ही होता है। प्राकृत भाषा को ही परिष्कृत कर संस्कृत किया गया। संस्कृत शब्द से ही 'संस्कृति' शब्द बना है। संस्कृत शब्द का शाब्दिक अर्थ ही है संस्कार अथवा संस्कारित करना। परिष्कृत करना, सजाना-संवारना और सुरूचिकर होना ही संस्कृत होना है। इस प्रकार संस्कृत का पूर्व रूप ही प्रकृत अथवा प्राकृत है।

मानव संस्कृति वह है जो मानव प्रकृति का परिष्कृत रूप है या सजा-संवरा रूप है अर्थात् मानव निर्मित है। अतः जो कुछ भी प्रकृति में मानव निर्मित रूप है वह संस्कृति है। प्राकृतिक पदार्थों से निर्मित वस्तुएँ मनुष्य की आवश्यक और इच्छित वस्तुएँ होती है। जिस प्रकार मनुष्य अपने जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वस्तुओं को निर्मित करता है उसी प्रकार समाज में रहने लायक मनुष्य का निर्माण करने के लिए आचार-विचार और व्यवहार का निर्माण करता है। अर्थात् समाज में सुचारू रूप से रहने के लिए रीति-रिवाज, नीति-मूल्य, प्रथाओं-संस्थाओं, गीत-संगीत, कला-साहित्य का सृजन करता है।

रामधारी सिंह दिनकर की पुस्तक ''संस्कृति के चार अध्याय'' की भूमिका लिखते हुए पंडित जवाहरलाल नेहरू 'संस्कृति' शब्द को परिभाषित करते हुए लिखते हैं कि, ''संस्कृति क्या है? शब्दकोश पलटने पर इसकी अनेक परिभाषाएं मिलती हैं। एक बड़े लेखक का कहना है कि ''संसार भर में जो भी सर्वोत्तम बातें जानी या कही गई हैं, उनसे अपने को परिचित कराना संस्कृति है।'' एक दूसरी परिभाषा में कहा गया है कि संस्कृति शारीरिक या मानसिक शक्तियों का प्रशिक्षण, दृढ़िकरण या विकास अथवा उससे उत्पन्न अवस्था है। यह मन, आचार अथवा रूचियों की परिष्कृति या शुद्धि है। यह सभ्यता के भीतर से प्रकाशित हो उठना है।'' मानव द्वारा सृजित सर्वोत्तम वस्तुएं, विचार, आचार, कला और मूल्य ही संस्कृति है।

संस्कृति के मूल में उन्नतशील जीवन और कर्म है। जिस प्रकार जीवन एक क्रिया है उसी प्रकार संस्कृति भी एक क्रिया है लेकिन वह सकर्मक क्रिया है। यह क्रियात्मक संस्कृति ही नामवर सिंह के शब्दों में, ''यह अनेक क्रियाओं का समुच्चय है। यह धर्म की तरह जीवन-मोक्ष का एक मार्ग नहीं है और न तो जीवन-यापन की कोई एक विधि। समस्त मानव कृति का संस्कार और परिष्कार करके जिन कृतियों का निर्माण होता है उनके सामूहिक प्रयास को ही हम संस्कृति के रूप में ग्रहण करते हैं। इसलिए संस्कृति का निर्माण क्षण क्षण होता रहता है, परन्तु उसका चाक्षुष प्रत्यक्ष कुछ दशकों तक रहता है। मानव की कोई क्रिया नष्ट नहीं होती, उसका तिरोधान होता है और प्रत्येक क्रिया के सार और श्रेष्ठतम अंश से एक श्रेष्ठतर क्रिया उत्पन्न होती है। इस प्रकार इस क्षणभंगुर जीवन में भी कुछ स्थायी कृतियों का निर्माण हो जाता है जो संस्कृति का प्रतीक बन जाती है। मानव का सब कुछ नष्ट हो जाने पर यही बस रहता है। साहित्य और कला ऐसी ही कृति है। संस्कृति केवल कला

नहीं है, संस्कृति केवल साहित्य नहीं है। संस्कृति केवल दर्शन नहीं है, संस्कृति इन सब का समुच्चय भी नहीं है। अवयई अपने अवयवों के समुच्चय से बड़ा होता है। स्वतंत्र सापेक्ष सत्ता रखनेवाली इन परिष्कृत मानव साधनाओं के उन्मुक्त विकास में ही हमें संस्कृति के स्वरूप का बोध होता है। इस प्रकार जीवन से साहित्य तथा कला का सृजन और फिर उस साहित्य और कला के साँचे में जीवन को ढालना ही संस्कृति है। यही संस्कृति का विकास है।''(प्रारंभिक रचनाएं, पृ. 76) संस्कृति निरंतर सवंर्द्धित ऊर्ध्वोन्मुख सृजनशील क्रियाओं का समुच्चय है।

साहित्य और संस्कृति की चुनौतिपूर्ण समकालदृष्टि :

ऐतिहासिक सामाजिक दृष्टि से देखें तो साहित्य और संस्कृति जीवन-जगत का केवल आईना ही नहीं है वह उसकी दिशा और दृष्टि भी रही है। संस्कृति को साहित्य के आईने में देखने पर जहां उसके कई उदात्त, उदार पक्ष व स्तर दिखाई देते हैं वहीं उसके अनेक घृणित दाग़-धब्बे भी दिखाई देते हैं। संस्कृति की जड़ में अगर सत्यम शिवम और सुन्दरम आदि शुभ तत्वों का समावेश है तो अनेक विकृतियाँ और दोषपूर्ण व्याधियाँ जैसे अशुभ तत्व भी व्याप्त हैं। इस प्रकार संस्कृति में विरूद्धों का सामंजस्य होता है। संस्कृति में निरंतर संग्रह और त्याग की प्रक्रिया जारी रहती है। इसी प्रक्रिया में संस्कृति नवनवोन्मेषशालिनी होती रहती है। समकालीन साहित्य और संस्कृति के सामने आज अनेक दोषपूर्ण विकृतियां, व्याधियां और घृणित दाग धब्बे सबसे बड़ी चुनौतियां बनकर खड़ी हैं। स्वस्थ समाज की स्वस्थ संस्कृति की विराट मानवतावादी चेतना के सामने जो घातक चुनौतियां हैं वे हैं - जातिवाद, वर्णव्यवस्था, लिंगभेद, साम्प्रदायिकता, आर्थिक गैरबराबरी, धार्मिक वैमनस्यता, असहिष्णुता, अशिक्षा, मशीनीकरण, बाजारवादी भोगविलासिता, क्षेत्रवाद श्रेष्ठतावाद, रक्तशुद्धतावाद, अंधविश्वास-पाखण्ड और भाषाई वर्चस्ववादी मानसिकता आदि। ये भारतीय संस्कृति के सबसे विकृत और घातक पक्ष हैं।

साहित्य और संस्कृति सिद्धांत या शास्त्र से पैदा नहीं होती, वह उत्पन्न होती है जीवन से। जीवन गतिशील, परिवर्तनशील और विकासशील है। उसी के साथ मानव संस्कृति भी गतिशील, परिवर्तनशील और विकासशील है। जीवन संस्कृति के समान ही कला भी परिवर्तनशील और विकासशील है। हमारे लिए कला का रूप कैसा हो ? इसके जवाब में प्रेमचंद ने कला की जरूरत और उसके आधार तत्वों की बात करते हुए लिखा है कि, ''हमें उस कला की आवश्यकता है, जिसमें कर्म का संदर्भ हो।'' इस कला के तीन महत्वपूर्ण तत्व हैं 1. सौंदर्यवृति की पुष्टि 2. आध्यात्मिक आनंद और 3. उपयोगिता। वे साहित्य को मन को गुदगुदाने और विलासिता की वस्तु न मानकर उसे जीवन की नीति और मूल्यगत गंभीर चिंताओं से जोड़ते हैं, ''हम साहित्य को केवल मनोरंजन और विलासिता की वस्तु नहीं समझते। हमारी कसौटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा जिसमें उच्च चिंतन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौंदर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो, जीवन की सच्चाईयों का प्रकाश हो, जो हम में गति और बेचैनी पैदा करे—सुलाए नहीं, क्योंकि अब और ज्यादा सोना मृत्यु का लक्षण है।'' लेखक यर्थाथ का दृष्टा और सृष्टा होता है। अपने समय की चिंताओं, समस्याओं और सवालों से टकराते हुए वह सामाजिक यथार्थ का पुनर्सजन करता है। भविष्य के सुंदर जीवन और समाज का स्वप्न जगाता है। लेकिन जब अतीतप्रेमी, पश्चगामी शक्तियां जीवन को यथास्थितिवादी जंजीरों में बांधने का प्रयत्न करती हैं तो वहीं एक बंधे-ठहरे हुए समाज में अनेक प्रकार की विकृतियां और व्याधियां पैदा होने लगती है।

साहित्य और संस्कृति की समकालीन चुनौतियां :

साहित्य अपने अतीत, वर्तमान और भविष्य की संस्कृति की केवल भावपूर्ण कथावाचक ही नहीं होती है। वह एक तरफ जहां इतिहास की संस्कृति के उज्ज्वल और उदार रूपों को व्यक्त करती है वहीं

उसके घृणित और बर्बर रूपों को भी प्रस्तुत करती है। दूसरी ओर अपने समकालीन संस्कृति की अगर वह कटु आलोचक होती है तो भविष्य की संस्कृति की दृष्टि-निर्माता और दिशानिर्देशक-सृजनकर्ता भी होती है। वह संस्कृति के पारंपरिक तत्वों के त्याज्य और ग्राह्य का विवेक भी पैदा करती है। यह वस्तुनिष्ठ विवेक बनाना ही आज के साहित्य-संस्कृति की सबसे बड़ी चुनौती है। अतः जो चुनौतियां समकाल जीवन और समाज की होती हैं वही चुनौतियां संस्कृति की होती है और वही चुनौतियां साहित्य की भी होती है।

भारतीय समाज की सबसे बड़ी समस्या शिक्षा है। शिक्षा वह सबसे शक्तिशाली हथियार है जिसका इस्तेमाल भारत की इन चुनौतियों को बदलने में कर सकते हैं। समाज को शिक्षित और विवेकशील बनाने में सबसे बड़ी रूकावट यहां के रूढ़िपसंद कटटरपंथियों ने ही नहीं पैदा की है बल्कि औपनिवेशिक शासकों ने भी बाधाएं बनाई थी। मैकाले ने 2 फरवरी 1935 को ब्रिटिश संसद में अपना योजना प्रस्ताव पेश करते हुए कहा था कि, ''मैं भारत के कोने-कोने में घूमा हूं और मुझे एक भी व्यक्ति ऐसा दिखाई नहीं दिया, जो भिखारी हो, चोर हो। इस देश में मैंने इतनी धन-दौलत देखी है, इतने ऊंचें चारित्रिक आदर्श और इतने गुणवान मनुष्य देखे हैं कि मैं नहीं समझता कि हम कभी इस देश को जीत पाएंगे, जब तक कि उसकी रीढ़ की हडडी को नहीं तोड़ देते, जो है इसकी आध्यात्मिक और सांस्कृतिक विरासत। इसलिए मैं प्रस्ताव रखता हूं कि हम इसकी पुरातन शिक्षा व्यवस्था, उसकी संस्कृति को बदल डालें, क्योंकि यदि भारतीय सोचने लगे कि जो भी विदेशी है और अंग्रेजी हैं, वह अच्छा है और उनकी अपनी चीजों से बेहतर है, तो वे अपने आत्मगौरव और अपनी ही संस्कृति को भुलाने लगेंगे और वैसे ही बन जाएंगे जैसे हम चाहते हैं-एक पूरी तरह से दमित देश।'' इस प्रकार भारतीय साहित्य और संस्कृति के सामने ऐसे वैज्ञानिक दृष्टिकोण, तार्किक बौद्धिकता, कारण-कार्य दृष्टि, धर्मनिरपेक्षता, मानवतावादी और आध्यात्मिक चेतना की विवेकवान दृष्टि को पुनः निर्मित करना आज एक बहुत बड़ी चुनौती बनी हुई है। यह तभी संभव है जब ऐसी शिक्षा व्यवस्था हो जो मनुष्य में संदेह करना और सवाल करना सिखाती हो।

संस्कृति का प्राकृतिक स्वभाव मैत्री और प्रेमभाव का है। वह अन्य संस्कृतियों से दूरियां और भेदभाव नहीं बढ़ाती बल्कि उनको प्रेम और सम्मान से गले लगाकर अपने में समा लेती है। संस्कृति की इस प्राकृतिक उदार विशिष्टता को उजागर करते हुए जवाहरलाल नेहरू 'हिन्दुस्तान की कहानी' में लिखते हैं कि, ''गुजरे जमाने में हिन्दुस्तान दूसरी संस्कृतियों का स्वागत करता था और अपने में खपा लेता था। आज इस बात की और भी ज्यादा जरूरत है। वजह यह कि हम उस 'एक दुनिया' की तरफ बढ़ रहे हैं, जहां मानव जाति की अंतर्राष्ट्रीय संस्कृति में सारी राष्ट्रीय संस्कृतियों घुल मिल जाएंगी। इसलिए हमको जहां कहीं भी ज्ञान, विज्ञान, मित्रता और सहयोग या इनमें से एक भी चीज मिलेगी, हम उसको अपनायेंगे और साथ ही हम दूसरों के साथ मिलकर ऐसे कामों को करेंगे, जिनसे सबका हित हो। इस तरह हम सच्चे हिंदुस्तानी और एशियाई होंगे और साथ ही हम भले अंतर्राष्ट्रीयतावादी होंगे और दुनिया के नागरिक होंगे।'' नेहरू अपने समय की जिस विनाशकारी संस्कृति के वर्चस्व को उभरते देख रहे थे उसे बहुत दुखी थे। उनका स्वप्न था कि संस्कृति की बुराईयों को दूरकर उसे उदार और सहिष्णु बनाकर विभिन्न संस्कृतियों से मेलजोल बढ़ाकर एक व्यापक एशियाई संस्कृति का गठन किया जाए। जिसमें व्यापक मानवतावादी मूल्यों और आदर्शों की भावना हो। नेहरूजी संस्कृति को समता, न्याय, बंधुत्व और वसुधैव कुटुम्बकम की वैश्विक विभूति के वैशिष्टय से व्यापक और समृद्ध करना चाहते थे।

स्वाधीनता आंदोलन के दौर में भारतीय संस्कृति में साम्प्रदायिकता का ज़हर घुलने लगा

था। समाज में मानवीय प्रेम, भाईचारा और धार्मिक सदभाव की दीवारे गिराई जाने लगी थी। धार्मिक दंगे और हिंसा का बोलबाला होने लगा है। मनुष्यता तार तार हो रही थी। समाज और राष्ट्र की गतिशील कदमों में नफरत की बेड़ियां डाली जा रही थी। हिन्दू मुस्लिमों को परस्पर लड़ाया जा रहा था। ''साम्प्रदायिक दंगे और उनका इलाज'' नामक अपने लेख में भगत सिंह ने ''साम्प्रदायिकता को एक दिमागी कीड़ा'' माना है। यह दिमागी कीड़ा एक खास मनोवृति वाले समुदाय में होता है जो अपनी संकीर्ण और प्रतिगामी सोच से अशिक्षित और अंधविश्वासी जनता में ईर्ष्या-द्वेष और हिंसात्मक नफरत के बीज बोते हैं। और जिसका उद्देश्य केवल लोगों को आपस में लड़ाना ही नहीं है अपितु समाज को बांटना और तोड़ना भी है। साम्प्रदायिकता का गहरा सम्बंध धर्म से है। जब तक धर्म रहेगा तब तक साम्प्रदायिकता और कट्टरतावाद भी बना रहेगा। वही उसका उत्स है। साम्प्रदायिक कट्टरता का जन्म धर्म से ही होता है। भगतसिंह ने 1924 में यह जान लिया था कि साम्प्रदायिक दंगों को फैलाने के पीछे साम्प्रदायिक नेताओं और अखबारों का ही विशेष हाथ होता है। वे कहते हैं कि, ''दूसरे सज्जन जो साम्प्रदायिक दंगों को भड़काने में विशेष हिस्सा लेते रहे हैं, वे अखबार वाले हैं। पत्रकारिता का व्यवसाय, जो किसी समय बहुत ऊँचा समझा जाता था, आज बहुत की गंदा हो गया है। यह लोग एक-दूसरे के विरूद्ध बड़े मोटे-मोटे शीर्षक देकर लोगों की भावनाएँ भड़काते हैं और परस्पर सिर-फुटौव्वल करवाते हैं। एक दो जगह ही नहीं, कितनी ही जगहों पर इसलिए दंगें हुए हैं कि स्थानीय अखबारों ने बड़े उत्तेजनापूर्ण लेख लिखे हैं। ऐसे लेखक, जिनका दिल व दिमाग ऐसे दिनों में भी शांत रहा हो, बहुत कम है।'' आगे वे फिर लिखते हैं कि, ''अखबारों का असली कर्तव्य शिक्षा देना, लोगों से संकीर्णता निकालना, साम्प्रदायिक भावनाएँ हटाना, परस्पर मेल-मिलाप बढ़ाना और भारत की साझी राष्ट्रीयता बनाना था; लेकिन इन्होंने अपना मुख्य कर्तव्य अज्ञान फैलाना, संकीर्णता का प्रचार करना, साम्प्रदायिक बनाना, लड़ाई-झगड़े करवाना और भारत की साझी राष्ट्रीयता को नष्ट करना बना लिया है। यही कारण है कि भारतवर्ष की वर्तमान दशा पर विचार कर आँखों से रक्त के आँसू बहने लगते हैं और दिल में सवाल उठता है कि ''भारत का बनेगा क्या?'' नब्बे साल पहले अखबारों के बारे में भगत सिंह की यह टिप्पणी आज के अखबारों के चरित्र और नीतियों पर भी एकदम सही साबित होती है।

''हिन्द स्वराज'' के 'हिन्दुस्तान की दशा-3' में महात्मा गांधी ने माना है कि साम्प्रदायिक कट्टरता जैसे विचार स्वार्थी धर्मशिक्षकों, शास्त्रियों और मुल्लाओं ने हमें दिये हैं और इसमें जो कमी रह गयी थी, वह अंग्रेजों ने पूरा किया है। हिन्दू मुसलमानों के बीच के सतही और कहावती विरोधों को किनारे करते हुए गांधी जी ने उनकी राष्ट्रीयता पर जोर दिया है और गाय के प्रति अपने प्रेम को प्रकट करते हुए भी गोवध निषेध को मुसलमानों पर थोपने की कोशिश को गलत करार दिया है। बुनियादी तौर पर उन्होंने दोनों को भाइयों के रूप में संकल्पित करते हुए, हिन्दुओं को बड़े भाई जैसा व्यवहार करने की प्रेरणा दी है। हर व्यक्ति की धर्म की अपनी-अपनी धारणा होती है, इस तथ्य पर जोर देते हुए उन्होंने कहा है कि हिन्दू-मुसलमान अगर शास्त्रियों और मुल्लाओं को अपने बीच में न आने दें, तो उनके बीच झगड़े का मुंह हमेशा काला ही रहेगा। साथ ही गांधीजी ने मुसलमानों के हिंसक और हिन्दुओं के अहिंसक होने के मिथ का भी जोरदार खण्डन किया है।

भारतीय समाज में फैले साम्प्रदायिकता के रोग को देखकर प्रेमचंद बहुत दुःखी चिंतित थे। संस्कृति की कलई खोलते हुए प्रेमचंद 1934 में 'साम्प्रदायिकता और संस्कृति' लेख में लिखते हैं कि, ''साम्प्रदायिकता सदैव संस्कृति की दुहाई दिया करती है। उसे अपने असली रूप में निकलने में शायद लज्जा आती है, इसलिए वह उस गधे की

भांति जो सिंह की खाल ओढ़कर जंगल में जानवरों पर रोब जमाता फिरता था, संस्कृति का खोल ओढ़कर आती है।'' वे आगे कहते हैं, ''हमारी समझ में नहीं आता कि वह कौन सी संस्कृति है, जिसकी रक्षा के लिए साम्प्रदायिकता इतना जोर बांध रही है। वास्तव में संस्कृति की पुकार केवल ढोंग है, निरा पाखण्ड। शीतल छाया में बैठे विहार करते हैं। यह सीधे-सादे आदमियों को साम्प्रदायिकता की ओर घसीट लाने का केवल एक मन्त्र है और कुछ नही। हिन्दू और मुस्लिम संस्कृति के रक्षक वही महानुभाव और वही समुदाय हैं, जिनको अपने ऊपर, अपने देशवासियों के ऊपर और सत्य के ऊपर कोई भरोसा नहीं, इसलिए अनंत तक एक ऐसी शक्ति की जरूरत समझते हैं जो उनके झगड़ों में सरपंच का काम करती रहे।' अपने समय की गंभीर मानवीय जरूरतों को बताते हुए प्रेमचंद कहते हैं कि, ''यह जमाना साम्प्रदायिक अभ्युदय का नहीं है। यह आर्थिक युग है और आज वही नीति सफल होगी जिससे जनता अपनी आर्थिक समस्याओं को हल कर सके जिससे यह अंधविश्वास, यह धर्म के नाम पर किया गया पाखण्ड, यह नीति के नाम पर गरीबों को दुहने की कृपा मिटाई जा सके। जनता को आज संस्कृतियों की रक्षा करने का न अवकाश है न जरूरत। 'संस्कृति' अमीरों, पेटभरों का बेफिक्रों का व्यसन है। दरिद्रों के लिए प्राणरक्षा ही सबसे बड़ी समस्या है।''

जातिवाद और वर्णव्यवस्था भारतीय संस्कृति का सबसे बड़ा रोग है। जातिवाद और वर्णव्यवस्था के हथियार से सवर्ण उच्च वर्ग ने हजारों वर्षों से समाज के बहुसंख्यक आबादी के साथ बर्बर अमानवीय अत्याचार और उत्पीड़न का व्यवहार करता रहा है। इस भयंकर रोग से मुक्ति के लिए अनेक भारतीय चिंतक प्रयास भी कर रहे थे। बुद्ध, कबीर, रैदास, फूले, अम्बेडकर, परियार, गांधी और अनेक समाज सुधारक इस रोग के उन्मूलन में लगे हुए थे। प्रेमचंद भी इस सांस्कृतिक रोग से दुखी थे। प्रेमचंद के मन में राष्ट्रीय संस्कृति का स्वप्न एक व्यापक मानवीय संवेदनाओं और समतावादी सामाजिक संस्कृति की चेतना से निर्मित थी। वे लिखते हैं, ''राष्ट्रीयता की पहली शर्त वर्ण-व्यवस्था, ऊँच-नीच के भेद और धार्मिक पाखंड की जड़ खोदना है।'' प्रेमचंद ऐसे राष्ट्र की कल्पना कर रहे थे जिसके केंद्र में किसान और मजदूर थे :''हम जिस राष्ट्रीयता का स्वप्न देख रहे हैं उसमें जन्मगत वर्णों की तो गंध तक न होगी, वह हमारे श्रमिकों और किसानों का साम्राज्य होगा, जिसमें न कोई ब्राह्मण होगा, न हरिजन, न कायस्थ, न क्षत्रिय। उसमें सभी भारतवासी होंगे, सभी ब्राह्मण होंगे या सभी हरिजन।'' अपने 'स्वराज' को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि, ''हमारा स्वराज केवल विदेशी जुए से अपने को मुक्त करना नहीं है, बल्कि सामाजिक जुए से भी, इस पाखंडी जुए से भी, जो विदेशी शासन से कहीं अधिक घातक है।''

सामाजिक-सांस्कृतिक रूढ़ियों की बेड़ियों को तोड़कर ही मानव समाज उन्नति और समृद्धि प्राप्त कर सकता है। रूढ़ियों की मानसिक दासता स्वस्थ लोकतांत्रिक समाज के लिए सबसे बड़ी बाधा और रूकावट है। राहुल सांस्कृत्यायन कहते हैं, 'हमें अपनी मानसिक दासता की बेड़ी की एक-एक कड़ी को बेदर्दी के साथ तोड़कर फेंकने के लिए तैयार रहना चाहिए। बाहरी क्रांति से कहीं ज्यादा जरूरत मानसिक क्रांति की है। हमें आगे पीछे दाहिने बायें दोनों हाथों से नंगी तलवारे नचाते हुए अपनी सभी रूढ़ियों को काटकर आगे बढ़ना चाहिए।' जातिभेद जैसे कोढ़ से संस्कृति मृतप्रायः हो जाती है। राहुल जी कहते हैं 'जाति-भेद न केवल लोगों को टुकड़े-टुकड़े में बांट देता है, बल्कि साथ ही यह सबके मन में ऊंच नीच का भाव पैदा करता है। हमारे पराभव का सारा इतिहास बतलाता है कि हम इसी जातिभेद के कारण इस अवस्था तक पहुंचे। ये सारी गंदगियां उन्हीं लोगों की तरफ से फैलाई गयी हैं जो धनी हैं या धनी होना चाहते हैं। सबके पीछे ख्याल है धन बटोरकर रख देने या उसकी रक्षा का। गरीबों और अपनी मेहनत की कमाई खाने वालों को ही सबसे ज्यादा नुकसान है, लेकिन सहस्राब्दियों से जात पांत के

प्रति जनता के अंदर जो ख्याल पैदा किये गये हैं, वे उन्हें अपनी वास्तविक स्थिति की ओर नजर दौड़ाने नहीं देते। स्वार्थी नेता खुद इसमें सबसे बड़े बाधक हैं।'' इसी प्रकार धर्म की राजनीति भारतीय संस्कृति का सबसे ज्यादा नुकसान पहुंचा रही है। यह समकालीन साहित्य और संस्कृति की सबसे बड़ी चुनौती है। राहुलजी के शब्दों में, ''धर्म आज भी वैसा ही हजारों मूढ़ विश्वासों का पोषक और मनुष्य की मानसिक दासता का समर्थक है जैसा पांच हजार वर्ष पूर्व था। सभी धर्म दया का दावा करते हैं लेकिन हिन्दुस्तान के इन धार्मिक झगड़ों को देखिये तो मनुष्यता पनाह मांग रही है।'' जातिभेद के कारण जो समाज हाशिये पर चला गया है और भारतीय संस्कृति से बहिष्कृत उपेक्षित रहे वह स्वस्थ लोकतांत्रिक संस्कृति के लिए शुभकर नहीं है।

प्रतिस्पर्धा का खेल पूंजीवाद का एक नया हथियार है जो समाजवाद के लक्ष्य को क्षति पहुंचाता है। अल्बर्ट आइन्स्टाइन ने 1949 में लिखे अपने लेख 'समाजवाद क्यों ?' में लिखते हैं, ''अनंत प्रतिस्पर्धा श्रम की भारी बर्बादी करती है और व्यक्तियों की सामाजिक चेतना को अपंग बना देती है। मैं मानता हूं हमारी पूरी शिक्षा व्यवस्था इसी बुराई से पीड़ित है। छात्रों में एक अतिश्योक्तिपूर्ण प्रतिस्पर्धा मनोवृति पर दी जाती है, और उन्हें ज्यादा से ज्यादा चीजों पर काबिज होने को ही भावी कैरियर की सफलता का पैमाना मानने के लिए प्रशिक्षित किया जाता है। मैं पूरी तरह आश्वस्त हूं कि इन बुराईयों को समाप्त करने का सिर्फ एक रास्ता है समाजवादी अर्थव्यवस्था की स्थापना और ऐसी शिक्षा व्यवस्था जो सामाजिक लक्ष्यों की ओर प्रेरित होगी।'' शिक्षा का बाजारीकरण, निजीकरण और मशीनीकरण से श्रम की बर्बादी चेतना को अपंग बनाने की पूंजीवादी साजिश है। इस दुष्प्रवृति ने साहित्य और संस्कृति में वैयक्तिकता, निजता, भोगवादी प्रवृति, कामकुंठा, आडम्बर, अकेलापन, परायापन अथवा आत्मनिर्वासन की कुंठाओं को व्यापक रूप से जन्म दिया है।

आजादी के बाद समकालीन दौर में भारतीय संस्कृति की पारंपरिक चुनौतियों का समाधान कर संवैधानिक मूल्यों के आधार पर एक स्वस्थ लोकतांत्रिक संस्कृति नयी परंपरा की नींव डाली जा रही है। भारतीय संविधान भारत के भविष्य की स्वस्थ लोकतांत्रिक संस्कृति के सार्वभौमिक मूल्यों समता, न्याय, बंधुत्व, स्वतन्त्रता और सम्मान जैसे मूल्यों और विचारों से सम्पन्न संस्कृति का स्वप्न को पूरा करने का प्रयत्न कर रही है।

Sanctity of Languages and Sanity of Socio-linguistics

Dr. Manisha Patil

Asst. Professor (English)

Gurunanak College of Arts, Science and Commerce, GTB Nagar, Mumbai

Abstract:

Language is not merely a means of communication but a vehicle of cultural politics. Especially in a country like India where one finds the bewildering multiplicity of castes, classes, races, religions and languages, the game of socio-economic and political domination is played under the guise of culture and in the currency of purity and sanctity of languages. Unfortunately, it creates a tactic hierarchy among the languages whereby some languages are termed as superior and promoted by the state and society while others are termed as inferior and forced into extinction. The case studies of Gunadhya and Sir William Jones illuminate how a language can be a tool of domination and how multilingualism can subvert the linguistic power politics. The sanity of socio-linguistics advocates the constant adaptation, updation and modernization of languages for better communication within and across the linguistic communities building the bridges of understanding.

Key words: cultural politics, hierarchy, hegemony, subversion, socio-linguistics

Sanctity of Languages and Sanity of Socio-linguistics

Language is not merely a means of communication but a vehicle of cultural politics. Especially in a country like India where one finds the bewildering multiplicity of castes, classes, races, religions and languages, the game of socio-economic and political domination is played under the guise of culture and in the currency of purity and sanctity of languages. Since the ancient times, a tactic hierarchy is created among Indian languages, whereby Sanskrit at the top is equated with Sanskriti (culture) while indigenous tribal languages are treated as inferior and barbarian. Between these two extremes, lie the so-called regional languages which are both dominant and dominated simultaneously. Interestingly, all the Indian languages are threatened by the alien invasion of English, "swept with confused alarms of struggle and flight/ where ignorant armies clash by night" (Mathew Arnold: Dover Beach). So, let's analyze this cultural politics

of languages with reference to two legendary figures—Gunadhya and Sir William Jones.

Gunadhya

Once upon a time (approximately 5th century AD, during the reign of Satavahanas), there lived a scholar called Gunadhya. As his name suggests he had many qualities to be proud of. He was a polyglot and an expert Sanskrit scholar. He was a trusted advisor of king in the court of Satavahanas.

One day in the summer, the king and the queen were enjoying water-sport in the palace swimming pool. When the king splashed water on the queen, she said in Sanskrit, "Modakam (Ma Udakam) Kship" meaning "please, do not splash the water". However, not knowing Sanskrit, the king (mis) interpreted it in Prakrit as "splash Modakas" and ordered the maid servant to bring Modakas. After the queen explained him what she meant, the king felt humiliated and decided to learn Sanskrit. Gunadhya told him that he would require at least twelve years to learn Sanskrit which depressed his enthusiasm. But a rival scholar offered to teach him Sanskrit in much lesser time. Gunadhya disagreed and as a bet offered to renounce all the known languages if the king learnt Sanskrit in less than twelve years. In the due course of time, with his heightened motivation, the king mastered Sanskrit much faster and Gunadhya lost the bet. Renouncing all the known languages meant completely giving up communication as well as thinking in any known language, which made Gunadhya unfit to live in a society. So he retired into a deep jungle to lead a solitary existence. After living in such a state for some days and wandering aimlessly in jungle, he came across some tribal people whose language he didn't know previously. Soon he mastered that language called Paishachi and also composed a literary work in it named Brihat-Katha. He sent a tribal boy with its manuscript to the king but as nobody could understand its language, the king didn't patronage it. Feeling disappointed by this rejection, Gunadhya lit a bonfire and one by one started burning the leaves of the manuscript after reading from them. The sound of his verses was so mesmerizing that all the animals and birds in the jungle gave up their routine activities and gathered around Gunadhya to listen to his tales. Several days passed. Gradually king came to know about this unusual event as the meat of wild game became tasteless due to starvation. Thus, king realized his mistake and approached Gunadhya to plead him not to burn his work and accompany him back to the palace. Gunadhya refused to return to court but agreed to hand over his work to the king. However, by this time only 10000 verses out of approximately 700000 verses were left. King made another scholar learn Paishachi to translate Brihat-Katha into Sanskrit which was later told and retold several times. Today two versions of Brihat-Katha exist—Kath-Sarit-Sagar by Somadeva and Brihat-Katha-Manjiri by Kshemendra. Even from the fragmentary text of Brihat-Katha, the great stature of Gunadhya can be ascertained and one can easily

contemplate the immense loss of the whole text.

Sir William Jones

The renowned linguist, polyglot, jurist and Orientalist scholar Sir William Jones was appointed as the judge in the Supreme Court of Judicature at Calcutta in 1783. As a judge, he needed to consult authoritative texts on Hindu law which were written in Sanskrit. At that time English translations of Sanskrit texts were available through the mediation of Persian but Jones was not satisfied with them. He had serious doubts about their purity and faithfulness as they were twice removed from the originals. He wished for a direct translation from the original, pure Sanskrit texts and for this purpose he needed to learn Sanskrit. Yet due to pressure of work he kept on procrastinating it. Finally, he decided to learn Sanskrit language and translate its texts into English himself as the finest method of what Edward Said called "to domesticate the Orient and thereby turn it into a province of European learning." (Said 78) Accordingly, he founded the Asiatic Society of Bengal (1784) and the first text that he translated was Manusmruti, the oldest available Hindu code. As a part of his project to study India through ancient, secular historical texts, he came across Kalidasa's Abhignanshakuntalam and he translated it into English as Sakontala or The Fatal Ring (1789). This translation did not serve any particular administrative purpose but rather created an idyllic, pastoral image of India which fired enormous interest all over the Europe. It made the play so popular in the West that each and every writer had to say something about it. While Goethe was enchanted with it, James Mill evaluated it negatively; but definitely nobody could ignore it. It demonstrated that apart from religious texts, Sanskrit also contained excellent literary texts. According to G. N. Devy, "Jones was the first British scholar to perceive India in terms of a literary culture and his discovery of India as a nation with a literature, and a literature extending to remote antiquity, enthused his readers in Britain to look to India for literary inspiration." (Devy 78) In India too the play became a premium cultural text defining Indian ethos and pathos not only for the Europeans but also for Indians with around a dozen translations in various Indian languages in 19th century itself. Thus, ignoring the contemporary Indian languages and literatures, on the basis of ancient outdated texts, Jones constructed an a-temporal, irrational Indian subject against the rational and historical Oriental scholar.

Language as a Tool of Domination

Separated by more than twelve centuries, Gunadhya and Jones represent two aspects of cultural politics related to language. Gunadhya, a Sanskrit scholar, renounced it and learnt Paishachi out of necessity (as he lost his privileged court position due to a bet) while Jones, an Orientalist and a jurist learnt Sanskrit out of curiosity, as a tool to understand and rule over India. In both the cases language is an essential instrument

of domination. Embedded in the case of Gunadhya is the linguistic politics whereby privileged positioning of Sanskrit in relation with Prakrit makes even a king feel inferior and offers his court scholar a power over the king himself. In case of Jones, it is precisely to avoid this kind of power of a Sanskrit scholar over an English administrator that Jones opts to learn Sanskrit with the proud intention of "to know India better than any other European ever knew it." (Qt. Jones, Said 78)

Gunadhya too was proud of his expertise in Sanskrit which made him bet something which actually nobody had asked for. When he lost the bet, along with it he also lost his privileged position and in the hierarchical structure of languages in India was displaced from the centre and thrown on its periphery. Interestingly, it is the same scholar and the same king but their relation with each other changes drastically with the change in language. In case of Sanskrit, the king feels ashamed of his ignorance, reveres the scholar and puts in extra efforts to learn it in a short span of time. But in case of Paishachi, the same king shames the same scholar by out rightly rejecting his work, considering it inferior as it is written in a lesser (?) language. Here the response of the king is utterly prejudiced based on the stereotypical hierarchical listing of languages irrespective of their merits and demerits based on their scientific study. Even when he acknowledges the worth of Brihat-Katha, he merely assigns a single scholar to learn Paishachi and translate the tale into Sanskrit instead of conserving and promoting Paishachi as a respectful language, thereby keeping the tactic hierarchy of languages in India intact.

Indeed, this tactic hierarchy remained unchanged for the next 1200 years, wiping out hundreds of lesser (?) languages like Paishachi, neglecting mass regional languages like Prakrit and focusing exclusively on Sanskrit as the true (?) representative language of Indian culture even by an expert Orientalist like Jones. With the capture of political power in India, British set out to 'rule' India through the 'discovery' of India using Sanskrit-to-English translation as an administrative and political tool.

During the early period of British colonial rule in India, the greatest achievement of Orientalist scholars was the discovery of Sanskrit. It provided academic impetus to the study of Indology and gave birth to new disciplines such as philology/ linguistics, translation studies, comparative mythology and anthropology. Sanskrit as the Ur-sprache dominated the field of translations to the extent of complete exclusion of other contemporary Indian languages and literatures. This created an imbalance of representation whereby the past was glorified at the expense of the present. The entire British Orientalism in India (1772 to 1840), of which Jones was the chief spokesperson, was an enterprise based on the famous maxim of Foucault called 'knowledge is power'. The construction of knowledge about India was essential for the subjugation of India. Through a series of English

translations of ancient Sanskrit texts, British created an 'authentic' account of India whereby India had rich ancient cultural heritage but had fallen from that grace to the present chaos. To rejuvenation India, her ancient language and literature must be studied and propagated under the able British rule as Indians themselves were incapable to do so. This theory served the purpose of validating British rule in India. Edward Said writes,

> Language and race seemed inextricably tied and the "good" Orient was invariably a classical period somewhere in a long-gone India, whereas the "bad" Orient lingered in present day Asia, parts of North Africa and Islam everywhere. "Aryans" were confined to Europe and the ancient Orient… the Aryan myth dominated historical and cultural anthropology at the expense of "lesser" peoples. (Said 99)

With Macaulay's Minutes (1835), English was introduced in India as a language of administration and education. Interestingly, reversing the Sanskrit-English hierarchy, Macaulay's policy focused on the study of arts, humanities and English literature excluding science and technology. The hidden agenda was to keep Indians away from modern science and technology which leads to strategic advantage in warfare and business on one hand and on the other to make Indians realize the superiority of British and thereby make them accept the British Raj. English education too was to be given to a very small group of people who would work as the mediators between the British administrators and Indian subjects. As a result, English language was taught through translation and one's proficiency in it was also measured through how well one can translate from English to Indian languages and vice versa without any scope for expressing one's own ideas in one's own words. Thus, the overall scope of this English education was very limited—giving limited education to limited people which created a new socio-economic-political hierarchy among Indians.

The displacement of Sanskrit by English as a vehicle of socio-economic-political privilege in colonial and post colonial India is highly controversial. This Sanskrit verses English debate is charted on the ideological dichotomy of spiritualism verses materialism. The masses of India are suspended between the two and so are their languages. Though Hindi as the most widely spoken language in India is made the Official Language after independence, it has actually opened the Pandora's Box. When Hindi was made the Official Language on the basis of the majority of speakers (approximately 41%), two crucial facts were neglected. First this majority was of not of Hindi alone but of 'Hindi and its dialects' whereby many separate languages such as Awadhi, Bhojpuri, Bagheli, Braj Bhasa, Bundeli, Garhwali, Haryanvi, Maithili, Magahi,

Sadri etc. were denied the independent language status and subordinated to Hindi as its dialects thereby creating linguistic hegemony of Hindi. Secondly, even with the majority speakers, Hindi was incomprehensible to almost 59% people, especially in the eastern and southern parts of India. Because a language is a not just a means of communication but the carrier of one's culture and identity, people in the South perceived the imposition of Hindi as the Hindi imperialism and strongly protested against it. The widespread anti-Hindi riots in Tamil Nadu forced the Indian Government to continue with English as the Official Language along with Hindi. Similarly, the death of senior Gandhian leader Potti Sreeramulu in hunger-strike for the demand of a separate Telugu speaking state paved way for the linguistic reorganization of states. However, once again it created more problems than it solved. For instance, border dispute among the neighboring states such as Maharashtra and Karnataka. Weirdly, in this whole linguistic politics, the various tribal languages were grossly left out. When officially, India adopted the Three Language Policy, it neglected the crucial fact that for many tribal people, all the three languages (English, Hindi and the state language) were alien languages and their first language was totally missing from the policy. As a result, according to UNESCO report, at present total 196 minor languages in India such as Kurmali, Dhimal, Toto, Asur etc. are endangered languages as their speakers are forced to speak the dominant languages for their survival. The linguistic shift from tribal languages to regional languages and from regional languages to English corresponds with the so-called social upliftment (?) and in the process becomes instrumental in the extinction of languages like Paishachi. In contrast, preserving a language and especially a tribal language by exclusively attaching it with one's identity and culture can alienate an ethnic group from the larger society. Thus, one finds that language issue in India is really a tricky one like caught between the devil and the deep sea.

Socio-linguistics as the Tool of Preserving Languages

The above discussion brings to one's notice the key fact that when one learns a language, one also learns the cultural politics of that language. But when s/he masters that language, makes it one's own and uses it the way s/he desires, s/he appropriates the power of that language. Now s/he becomes free to subvert the socio-cultural hierarchy of that language and the larger society. Sir William Jones did it with Sanskrit and we Indians need to do it with English. Therefore, the sanity of socio-linguistics advocates that multilingualism is an asset rather than a liability unless and until people adapt their language according to their needs and nobody is shamed for his/her language.

So, one must strive continuously to modernize and update one's language by adapting it to the changing scenario

especially science and technology. At the same time, government and society at large should treat all languages equally without discriminating among them. Finally, one and all must understand that languages and culture are like flowing rivers—to be alive they must flow through time and space. If they stop changing spatially and temporarily, they soon become dead (either totally wiped out like Paishachi or mummified like Sanskrit). So, the sanity of socio-linguistics tells us that there is no other sanctity of languages apart from successful communication. A language must facilitate communication and not hamper it. Plus, communication across the languages should accordingly be the two-way process enriching both the languages by building the bridges of understanding.

References:

- Arnold, Mathew. "Dover Beach" (1867). Poetry and Criticism of Mathew Arnold. Dwight Culler (Ed). Boston: Houghton Mifflin Company. 1961.
- Devy, G.N. Of Many Heroes: An Indian Essay in Literary Historiography. Mumbai: Orient Longman, 1998.
- Kothari, Rita. Translating India: The Cultural Politics of English. New York: Routledge. 2003.
- Macaulay's Minutes (1835) www.columbia.edu/itc/mealac/pritchett/00generallinks/macaula/txt_minute_education_1835.html
- Said, Edward. Orientalism: Western Concepts of the Orient. Pantheon Books, 1978.
- Somadeva. Katha-Sarit-Sagar. Pandit Durgadas and Kashinath Pandurang Parab (Ed). Mumbai: Nirnay Sagar Press. 1930.

कोरोना काल म भारतीय संगीत : दशा और दिशा

शिव शम्भू कपूर

शोधार्थी-महात्मा गांधी चित्रकूट ग्रामोदय
विश्वविद्यालय, चित्रकूट, सतना, मध्य प्रदेश

वर्तमान समय म भारत कोरोना (कोविड-19) वैश्विक महामारी के संकट से गुजर रहा हैं। कोरोना वैश्विक महामारी के कारण भारत की आर्थिक, समाजिक, व्यवसायिक, सांस्कृतिक, शिक्षा तथा कला इत्यादि समस्त इकाई इस संकट काल के दुष्परिणामों स संघर्ष कर रही हैं। कोरोना महामारी ने भारतीय संगीत की समस्त ईकाईयों जैसे - संगीत शिक्षण , संगीत-कार्यक्रम , संगीत- व्यवसाय, कलाकार आदि सभी को भी व्यापक रूप से प्रभावित किया है। जैसा कि हम जानते हैं कि वैदिक काल से वर्तमान काल तक संगीत-शिक्षण की विभिन पद्धतियाँ देखने को मिलती है जो समय, काल, परिस्थिति के अनुसार बदलती गयी।

भारत म वैदिक काल से ही संगीत शिक्षा गुरूमुख से दी जाती थी। वैदिक कालीन संगीत शिक्षा हैतु मूल रूप से 'गुरू-शिष्य परम्परा' का ही प्रावधान था। शिष्य अपने गुरू से अन्य विधाओं की ही भांति संगीत विद्या को सीखकर उसका आगे हस्तान्तरण करते हुए अपने गुरूजनों के ज्ञान का संवर्धन करते थे। साधारण रूप से वैदिक साहित्य म साम प्रशिक्षण के तीन रूप प्रचलित होने का संकेत मिलता है-1. पिता-पुत्र के रूप म, 2. गुरू-शिष्य के रूप म तथा 3. गुरूकुल म जाकर शिक्षा ग्रहण करना। वैदिक काल की यही 'गुरू-शिष्य परम्परा' मध्य काल(आते-आते) म 'घरानेदार' परम्परा के रूप म पारिवर्तित हो गई। भारत एक प्रफुल्लित और अमीर देश होने के कारण "आठवीं सदी से मुसलमानों के आक्रमण भारत पर होना चालू हुए और धीरे-धीरे करके शासक बनने के कारण शुद्ध रूप से हिन्दुस्तानी कलाओं पर यवन संस्कृति का प्रभाव पड़ना प्रारम्भ हो गया।" हर्षवर्धन के पश्चात का समय यवन काल कहलाता था। इस समय सम्पूर्ण भारत छोटे-छोटे भागों म विभाजित हो गया था तथा सदा ये स्वतंत्र खण्ड रियासत आपस म युद्ध के लिए तत्पर रहते थे। ऐसी स्थिति म संगीत भी कई वर्गों म विभक्त हुआ तथा सभी संगीत का विकास अपने-अपने दृष्टिकोण से करने लगे। इस प्रकार संगीत की कई शैलियां विकसित हो गई जिन्ह आगे जाकर 'घराना' की संज्ञा दी जाने लगी। 'घराना शिक्षण पद्धति' म शिष्यों की तालीम तो अति उम्दा ढंग से दी जाती थी परन्तु उस्ताद एवं गुरूजन अपने वंशजों व निकट सम्बन्धियों तथा मुख्य-मुख्य शिष्यों को प्रशिक्षण देने म अधिक उदारता का प्रमाण देते थे। इसके परिणामस्वरूप संगीत कला म कुछ संकीर्णता आ गयी। परन्तु कुछ भी कहा जाए, इन घरानों के उद्भव से उस समय की राजनैतिक आपा-धापी के वातावरण म भी संगीत सुरक्षित रह पाया।

"उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध म तथा बीसवीं शताब्दी के आरम्भ म अंग्रेजों की सत्ता के कारण, पाश्चात्यों के रीति-रिवाजों, आचार-विचार, उनकी शिक्षा पद्धति और अन्य बातों का प्रभाव भारतीय

जन मानस पर पड़ने लगा था। इन सबके परिण ाम से भारतीय संगीत म भी नई शिक्षा पद्धति का विचार होने लगा। पाश्चात्यों की 'स्कूली शिक्षा' की चौखट म संगीत को भी बांधने का प्रयास किया जाने लगा। भिन्न-भिन्न संगीत शिक्षा संस्थाएं विद्यालय के रूप म उभरने लगी।" स्वाधीनता उपरान्त संगीत संस्थानों का व्यापक विकास हुआ और शास्त्रीय संगीत के प्रचार प्रसार म मार्ग खुले। इन संगीत संस्थानों एवं शिक्षण संस्थानों से सम्बन्धित प्राचीन इतिहास पर यदि हम दृष्टिपात कर तो यह पूर्ण रूपेण स्पष्ट हो जाता है कि आधुनिक युग म प्रचलित, संगीत की "संस्थागत शिक्षण प्रणाली", जो पाश्चात् शिक्षण प्रणाली के प्रभाव म विकसित हुई, का मूल स्वरूप गुरू-शिष्य परम्परा और गुरूमुख तालीम से पल्लवित एवं परितोषित गुरूकुल पद्धति की राह है। संगीत विषय म इस प्रकार की शालाएं शिक्षण का प्रचलन वैदिक काल से ही यत्र-तत्र देखने म आता है। "इसी काल म स्व. पं. विष्णु दिगम्बर पलुस्कर जी ने तथा स्व. पं. विष्णु नारायण भातखण्डे जी ने सारे भारतवर्ष म यात्राकार, विभिन्न मतों के संगीतकारों से मिलकर, विचारकर, संगीत सम्मेलनों का आयोजन कर, इस मत का प्रतिपादन किया कि संगीत शिक्षा सर्व सुलभ होनी चाहिये। इन दोनों विभूतियों को कई कठिनाईयों का सामना करना पड़ा। उनके मत के प्रस्तुतिकरण तथा उनके विद्वत्ता के कारण कुछ समाज सेवियों ने इस मत को स्वीकार किया तथा कुछ ने नहीं। समाज म संगीत के संदर्भ म फैली गलत धारणा के आधार के कारण सामाजिक कार्यकर्ता या कलाकार आगे आकर इस कार्य को रोकने का साहस नहीं कर पाये तथापि कई संगीत शस्त्रियों ने यह इन दोनों का साथ देने का वायदा किया। इस संगीत कलाकारों म बालकृष्ण बुआ, इचलकरंजीकर, रामकृष्ण वझे, राजा भैया पूछवाले, राजा नवावअली आदि प्रमुख थे। दत्तात्रय विष्णु पलुस्कर का भी सहयोग प्राप्त था।"

वैदिक काल म 'गुरूकुल शिक्षण प्रणाली', मध्य काल म 'घराना पद्धति' तथा आधुनिक काल म 'संस्थागत शिक्षण प्रणाली' के माध्यम से संगीत शिक्षण का प्रावधान गुरू के सम्मुख बैठ कर, गुरू-शिष्य परम्परा द्वारा ही किया जाता था। चूँकि संगीत एक प्रयोगात्मक कला है और किसी भी प्रयोगात्मक कला का शिक्षण कार्य गुरू के सम्मुख रहकर ही सुचारू रूप से किया जा सकता है। परन्तु वर्तमान समय म कोरोना महामारी के बचाव के लिये डब्लू . एच. ओ. के दिशा निर्देशानुसार समस्त भारत म लॉकडाउन के कारण समस्त सरकारी व गैर सरकारी तथा कोचिंग(ट्यूशन) व सभी शैक्षिक संस्थाएँ बन्द हैं जिस कारण संगीत का शिक्षण कार्य भी मुख्य रूप से प्रभावित हो रहा हैं। संगीत के शिक्षण कार्य को पुनः चलाने के लिये वर्तमान समय म विश्वविद्यालयों , संगीत संस्थाओं तथा संगीत शिक्षण से जुड़े लोगों ने वर्तमान स्थिति कि दशा को देखते हुए 'ऑनलाइन शिक्षण प्रणाली' को एक उपयुक्त विकल्प के रूप म चुना हैं। इस कोरोना जैसी वैश्विक महामारी ने संगीत शिक्षण की एक नयी प्रणाली को जन्म दिया ,जो 'ऑनलाइन शिक्षण प्रणाली' के रूप म हमारे सामने आयी। वैसे अगर शिक्षण की 'ऑनलाइन शिक्षण प्रणाली' की बात करे तो यह काफी समय से प्रचलन म है ,परन्तु संगीत शिक्षण की ऑनलाइन शिक्षण प्रणाली का युद्ध स्तर पर प्रयोग हम वर्तमान समय म कोरोना जैसी महामारी के फलस्वरूप देखने को मिलता है।

'ऑनलाइन शिक्षण प्रणाली' का व्यवहारिक रूप से प्रचलन ना होने के कारण विद्यार्थी एवं गुरू दोनो को शिक्षा के आदान -प्रदान करते समय अनेको चुनौतियों का सामना करना पड़ रहा है। विद्यार्थी एवं गुरू दोनो म अधिकांश वर्ग ऐसा है जिनके पास ऑनलाइन शिक्षा के आदान -प्रदान के लिए आवश्यक उपकरणों जैसे-स्मार्ट फोन, कम्प्यूटर, इण्टरनेट , वाई-फाई कनेक्शन, हैडफोन आदि का आभाव है जिस कारण ऐसे विद्यार्थी एवं गुरूओं

को संगीत शिक्षण के आदान-प्रदान की चुनौती का सामना करना पड़ रहा है। वर्तमान समय मे संगीत के अधिकांश ऐसे विद्याथी एवं शिक्षक वर्ग है जिन्ह ऑनलाइन शिक्षण की तकनीकि का पूर्णरुप से ज्ञान नहीं है। यदि देखा जाये तो संगीत के क्षेत्र म अधिकांश गुरु ऐसे है जो एक अच्छे गुरू एवं उच्चकोटि के कलाकार तो है परंतु वे वर्तमान तकनीक से भलीभाँती परिचित नहीं है, क्योंकि न तो उन्होंने कभी ऑनलाइन सम्बन्धी तकनीकि का उपयोग किया और न ही उनको इसकी कभी आवश्यकता पड़ी। विद्याथी वर्ग म भी यदि हम देखते है तो अधिकांश वर्ग ऐसा है जिसके पास स्मार्ट फोन, कम्प्यूटर आदि न होने के कारण वह इस तकनीक से परिचित नहीं है। अतः ऑनलाइन शिक्षण म तकनीकि सम्बन्धी समस्या भी एक बड़ी चुनौती के रूप म सामने आ रही है। ऑनलाइन शिक्षण म नेटवर्क सम्बन्धी समस्या भी एक बहुत बड़ी चुनौती है। भारत म यदि देखा जाये जितने भी टेलिकॉम कम्पनीयाँ है सभी का नेटवर्क पूर्णरूप से सभी स्थानों पर एक जैसा नहीं है यदि एक स्थान पर एक कम्पनी का नेटवर्क सही है तो जरूरी नहीं की दूसरे स्थान पर नेटवर्क सही हो। और यदि व्यक्ति का घर गली के अन्दर हो तब तो किसी भी कम्पनी का नेटवर्क सही आता ही नहीं है इसी स्थति म किस प्रकार ऑनलाइन शिक्षण किया जाये ये एक बहुत बड़ी चुनौती है। इंटेरनेट की स्पीड की यदि हम बात करे तो जब नेटवर्क ही सही नहीं आयेगा तो इंटरनेट की स्पीड अपने आप कम रहैगी, ग्रामीण क्षेत्रों म इंटरनेट स्पीड की हालत और बुरी है। भारत की अधिकांश मोबाइल कंपनियां दिन म 1 से 2 जीबी डाटा उपयोग के लिए दे रही हैं जोकि हर दिशा से देखने पर कम दिखाई देता है। वीडियो क्लासेज लेते समय इंटरनेट स्पीड का कम ज्यादा होना समस्या पैदा करता है। इंटरनेट स्पीड कम होने से वीडियो एवं आवाज स्पष्ट नहीं आती जिससे ये नहीं पता चल पता की सामने वाला क्या कहना चाहता है। प्रायः ये देखा जा रहा है की ऑनलाइन शिक्षण के समय कुछ ही समय म स्मार्ट फोन, कम्प्यूटर आदि उपकरण बहुत ज्यादा गरम हो रहै है जिससे स्मार्ट फोन, कम्प्यूटर

आदि या तो खराब हो जा रहै है और या फिर वह सही से कार्य करना बंद कर रहै है इस प्रकार व्यक्ति के सामने यह सबसे बड़ी चुनौती है कि वह किस प्रकार से अपने उपकरणों का सही तरह से उपयोग करे जिससे उसके शिक्षण कार्य म बाधा उत्पन्न न हो तथा उसका स्मार्ट फोन, कम्प्यूटर अदि भी खराब न हो। अधिक समय तक स्मार्ट फोन, कम्प्यूटर आदि का उपयोग करने से उनसे निकलने वाली किरणे हमारे आँख, कान, नाक तथा मस्तिष्क पर बुरा प्रभाव डालती है जिस कारण अधिक देर तक स्मार्ट फोन, कम्प्यूटर आदि माध्यमों का उपयोग स्वास्थ्य सम्बन्धी खतरा उत्पन्न कर सकता है अतः स्वास्थ्य के दृष्टिकोण से अधिक देर तक ऑनलाइन शिक्षण कार्य करना उपयुक्त नहीं है।

प्रायः वर्तमान समय म विश्वविद्यालयों द्वारा ऑनलाइन माध्यम से संगीत से सम्बंधित अनेक विषयों पर वेबिनारो तथा कार्यशालाओ का आयोजन निरूशुल्क किया जा रहा है। प्रारंभ म इन वेबिनारो तथा कार्यशालाओ म आयोजको एवं प्रतिभागीयो को अनेको चुनोतियों का सामना करना पड़ा। इन वेबिनारो तथा कार्यशालाओ म अधिकांश संख्या म प्रतिभागी अपना पंजीकरण तो करा रहै है परन्तु ये वेबिनार अधिकांशतरू जूम एप द्वारा संचालित किये जाने के कारण 100 प्रतिभागीयों से अधिक लोग इस वेबिनार का लाभ नहीं उठा पाते। कुछ विश्वविद्यालयों ने अब इस समस्या के कारण फेसबूक लिंक के द्वारा भी वेबिनारों तथा कार्यशालाओं का आयोजन करना प्रारंभ कर दिया है जिससे अब अधिकांश प्रतिभागी इसका लाभ प्राप्त कर रहै है। संगीत जगत से जुड़े अनेक प्रतिष्ठित कलाकार भी वर्तमान समय म ऑनलाइन के माध्यम से भिक्षण कार्यकर रह हैं। संगीत शिक्षण

की ऑनलाइन प्रणाली म एक सबसे बड़ी चुनौती संगीत के प्रोगात्मक पक्ष जैसे - स्वरों ,बोलो आदि के निकास सम्बंधित तंत्र को सिखने व सिखाने म आती है , क्योकि स्वरों एवं बोलो आदि को सही तरीके से गाना या वाद्य पर निकलना यह सभी प्रत्यक्ष रूप से गुरू के समुख बैठकर ही सिखा जा सकता है। इस दिशा म ऑनलाइन संगीत शिक्षण को और अधिक प्रभावशाली बनाने के लिये हम भारत म ऑनलाइन तकनीक का विकास करना होगा जिससे ऑनलाइन संगीत शिक्षण म आने वाली चुनौतियों को कम किया जा सके क्योकि वर्तमान दशा को देखकर ऐसा लगता है कि भविष्य म संगीत की ऑनलाइन शिक्षण प्रणाली संगीत शिक्षण का एक आवश्यक अंग होगी।

कोरोना काल म यादि हम 'संगीत व्यवसाय' की बात कर तो संगीत व्यवसाय की दशा अंधकार म हैं। संगीत व्यवसाय के यादि हम शिक्षण पक्ष कि बात करे तो वर्तमान समय म जितनी भी प्राइवेट (व्यक्तिगत) संस्थाये या कोचिंग हैं जिनका सम्पूर्ण व्यवसायिक ढाँचा संगीत शिक्षण के व्यवसाय पर आधारित हैं उनका भाविष्य अन्धकार म दिखाई दे रहा हैं। लॉकडाउन होने के कारण सरकार के आदेशानुसार गैरसरकारीए, प्राइवेट (व्यक्तिगत) संस्थाये व कोचिंग इत्यादि समस्त संगीत शिक्षण संस्थाए बन्द हैं तथा प्रत्यक्ष रूप से शिक्षण कार्य न होने के कारण इन प्राइवेट (व्यक्तिगत) संस्थाये या कोचिंग म प्रवेश की प्रक्रिया पूर्ण रूप से बन्द हैं। प्रतिमाह आने वाला वाली फीस के द्वारा ही ये संगीत संस्थाए अस्तित्व म थी परन्तु वर्तमान समय म इनका व्यवसाय पूर्ण रूप से बन्द हैं। कुछ संगीत प्राइवेट (व्यक्तिगत) संस्थाये या कोचिंग ऐसी हैं जिन्होंने किराये पर स्थान लेके संगीत शिक्षण का व्यवसाय स्थापित किया हैं जिनका किराया अधिक होने के कारण वह बन्द भी हो गई हैं। संगीत के शिक्षण व्यवसाय के अन्तर्गत अनेक लोग ऐसे हैं जो घर- घर जा के संगीत का शिक्षण कार्य करते हैं। लॉकडाउन होने के कारण घर -घर जा कर संगीत शिक्षण कार्य करने वाला संगीत व्यवसाय भी पूर्ण रूप से बन्द हैं। कोरोना काल ने संगीत वाद्य यन्त्रों के मरम्मत कार्य एवं वाद्य यन्त्रों के क्रय-विक्रय से जुड़ व्यवसाय को भी प्रभावित किया है।

कोरोना महामारी के कारण देश भर म सोशल डिस्टेस के कारण समस्त सरकारी एवं गैर सरकारी सांस्कृतिक कार्यक्रमों पर प्रतिबन्ध हैं जिस कारण देश म सभी संगीत के कार्यक्रम पूर्ण रूप से बन्द हैं। वर्तमान समय की दशा को देखकर अनेक संगीत संस्थाओं विश्वविद्यालयो तथा संगीत से जुड़े लोगो ने फेसबुक पेज के माध्यम से संगीत कार्यक्रमो को पुनः प्रारम्भ करने की पहल प्रारम्भ की हैं। वर्तमान समय म फेस बुक पेज पर फेस बुक लींक के माध्यम से संगीत के कार्यक्रम प्रस्तुत किये जा रहै हैं। फेस बुक पेज के माध्यम से संगीत कार्यक्रमों का आयोजन यह कोरोना काल की ही देन हैं।

कोरोना काल म 'संगीत कलाकारो' की स्थिति भी अत्यन्त सोचनिय एवं देयनीय हैं। संगीत के क्षेत्र से जुड़े अनेक कलाकार ऐसे हैं जिनका व्यवसाय संगीत के कार्यक्रम ही हैं ऐसे कलाकार संगीत कार्यक्रमों के माध्यम से ही अपना जीवन व्यापन करते हैं। परन्तु इस कोरोना काल म सरकार के आदेशानुसार संस्कृतिक कार्यकमों पर प्रतिबन्ध हैं जिस कारण संगीत के कार्यक्रम से जुड़ा व्यवसाय भी पूर्ण रूप से बन्द हैं। जैसा की हम जानते है की संगीत एक प्रदर्शन कला है तथा "कलाकार का प्रमुख उद्देश्य अपनी कलात्मक अभिव्यक्तियों का सम्प्रेषण अथवा प्रस्तुतीकरण है। भारतीय चिंतन की मनीषा ने जीवन के धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष ये चार पुरूषार्थ माने हैं। व्यवहारिक स्तर पर शायद यह कटु सत्य है कि कलाकार का उद्देश्य चाह यश प्राप्ति हो, या अर्थ प्राप्ति, आत्म संतोष प्राप्ति या दूसरों को आनन्दित करना, वह काफी हद तक अपनी कला का प्रदर्शन ही करता है"। अतरू भारतीय संगीत के अस्तित्व की बचाए रखने

व संगीत के प्रचार- प्रसार तथा एक कलाकार के दृष्टिकोण से संगीत कार्यक्रमों को पुनरू सुचारू रूप से प्रारंभ करने पर भी विचार करना अत्यंत आवश्यक है जिससे ऐसे कलाकार जिनकी आय का श्रोत संगीत कार्यक्रम ही है उनका जीवनव्यापन भी सुचारू रूप से चल सके।

संगीत साधना की दृष्टि से यादि विचार किया जाये तो कोरोना काल संगीत साधना की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण समय हैं। जैसा की हम जानते है कि संगीत के क्षेत्र म साधना का आयन्त महत्वपूर्ण स्थान है। कोरोना काल म संगीत से जुड़े प्रत्येक वर्ग जैसे गुरू, छात्र तथा कलाकार सभी को संगीत के अभ्यास का पूर्ण समय मिल रहा है। इस समय का उपयोग करके प्रत्येक व्यक्ति अधिक से अधिक संगीत की सधना करके अपने प्रस्तुतिकरण को प्रभावशाली बना सकता है।

कोरोना काल म भारतीय संगीत की दशा को देखकर ऐसा लगता है कि संगीत की दशा अत्यन्त सोचनिय एवं विचार करने योग्य हैं तथा भातीय संगीत के समस्त पहलुओ जैसे संगीत शिक्षण, संगीत कार्यक्रम, संगीत कलाकार व संगीत व्यवसाय इत्यादि सभी की कार्य प्रणाली म बहुत बडे परिवर्तन की आवश्यकता है जिससे भारतीय संगीत के अस्तित्व को बचाया जा सकता है। केन्द्र सरकार तथा राज्य सरकारों एवं संगीत से जुड़े लोगो को संगीत के इन सभी पहलुओं की दशा को सुधारने के लिये आवश्यक कदम उठाने चाहिए जिससे भारतीय संगीत को एक नई दिशा मिले।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची-

1. मराठे मनोहर भालचन्द्र राव, “ताल वाद्य शास्त्र”, पृ. 9
2. देशपाण्डे वी. एच. “घरदांज गायकी”, पृ. 161
3. मराठे मनोहर भालचन्द्र राव, “ताल वाद्य शास्त्र”, पृ. 14
4. बनर्जी डा उषा, “स्वर स्पंदन” पृ. 27

संगीत शिक्षा और रोजगार

टोपराज सिंह पटेल

शोधार्थी - गायन विभाग

रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय, जबलपुर

आज भारतीय संगीत का जो रूप हमारे सम्मुख उपस्थित है उसका किसी खोज या बौद्धिक उपज द्वारा निर्माण नहीं हुआ है। उसके मूल रूप में निरंतर वृद्धि और परिवर्तन होते-होते ही उसका वर्तमान स्वरूप निश्चित हुआ है। वर्तमान भारतीय संगीत एक अत्यन्त विस्तृत और सुदृढ़ परम्परा को लेकर नवीन युग की ओर बढ़ रहा है। आधुनिक युग प्रमुखतः वैज्ञानिक एवं व्यवसायिक दृष्टिकोण पर आधारित है। संगीत को जीवन का एकमात्र लक्ष्य के रूप में अपनाने वालों पर अपने निर्णय पर पुनर्विचार करने या उसे बदलने का दबाव लगातार पड़ता है और यह दबाव न केवल उन लोगों की ओर से भी पड़ता है, जो उससे अंशतः जुड़े हैं बल्कि उन लोगों की ओर से भी पड़ता है, जिनकी रोजी रोटी ही संगीत है, और जब पेशेवर संगीत ही अपने परिवार के सदस्यों और शिष्यों को संगीत छोड़कर कोई दूसरा व्यवसाय चुनने की सलाह देते हैं और तब उस पर लोगों को गहराई से सोचना ही पड़ता है, जिसका परिणाम यह होता है कि संगीत को कैरियर के रूप में अपनाने वालों की संख्या में दिनोंदिन गिरावट आ रही है। आखिर संगीत के सहारे अपना जीवनयापन करने वाले लोग ही अपने बच्चों एवं शिष्यों का व्यवसायिक रूप से दूसरे क्षेत्र चुनने की सलाह देकर संगीत के साथ घातक व्यवहार क्यों कर रहे हैं, यह आज का विचारणीय प्रश्न है।

वैसे तो, आज संगीत शिक्षण के कई माध्यम हैं परंतु मुख्यतः दो ही हैं- पहला गुरु-शिष्य परम्परा और दूसरा विश्वविद्यालयीन शिक्षण प्रणाली। जैसे आई.टी.सी. कलकत्ता, जहाँ गुरु-शिष्य परम्परा के तहत् शिक्षा दी जाती है, कथक केन्द्र दिल्ली में दोनों ही पद्धतियों का मिश्रण दिखाई देता है। दूसरी इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, बनारस हिंदू विश्वविद्यालय आदि जहाँ विश्वविद्यालयीन संगीत शिक्षा दी जाती है। वस्तुतः शिक्षण पद्धति के दो भिन्न स्तरीय आयाम हैं। यद्यपि दोनों का उद्देश्य विद्यार्थियों को संगीत की उच्चतम् शिक्षा प्रदान करना ही है तथापि दोनों की तकनीक, उद्देश्य, मापदण्ड और कार्यशैली में अत्याधिक अंतर है, और इस अंतराल के कारण ही सहज रूप से दोनों के परिणाम में भी अंतर है। देशकाल में हो रहे परिवर्तन एवं विकास से प्रभावित होकर हर चीज़ बदलाव की मांग करती है। आज दोनों में से कोई भी प्रणाली ऐसी नहीं है, जिसे एक मत यह सही है कहा जा सके। एक में अलग तरह की अच्छाईयाँ हैं तो दूसरी कुछ अलग ढंग की विशेषताओं से बंधी हुई है। वस्तुतः एक पद्धति निर्माण की आज उतनी ज़रूरत भी नहीं है, न ही ऐसा संभव भी है। पहले से चल रही किसी पद्धति को अचानक नष्ट करने की बात सोचना यूँ तर्क संगत नहीं है। फिर हमारे पास कोई ऐसे सुसंगठित शिक्षा प्रणाली हैं भी नहीं, जिसे हम इस दोनों के स्थान पर रख सकें। स्थितियाँ निःसंदेह खराब हैं, पर इतनी नहीं कि हम कुछ कर ही नहीं सकें। अधिकांश विद्यार्थी इन स्थितियों से भीतर ही भीतर जूझ रहे हैं। इसी

कारण वे इस दिशा से उभरने के लिए निरंतर चिन्तनशील हैं।

संगीत में रोजगार का अर्थ

सुबह से शाम तक हम जिन वस्तुओं या सेवाओं का प्रयोग करते हैं वे हमें रोजगार द्वारा ही प्रदान की जाती है। वह समस्त मानवीय क्रियायें जो धनोपार्जन के लिए की जाती हैं रोजगार कहलाती है। "वृत्ति शब्द अत्यन्त व्यापक है। दर्शन, साहित्य एवं संगीत के हर पहलू में वृत्ति शब्द एक विशाल अर्थ का भंडार लेकर हमारे सम्मुख आता है। वृत्ति शब्द का अर्थ मुख्य रूप से व्यापार शैली तथा ज्ञान है। सामान्य व्यवहार में वृत्ति शब्द का अपना महत्त्व है। लोक जीवन में वृत्ति का अर्थ है व्यवसाय। मीमांसा दर्शन में वृत्ति का अर्थ है—व्यापार अर्थात् जो हो रहा है वह वृत्ति है।'' रोजगार का अर्थ, कोई ऐसा काम करना जिससे जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति और जीवकोपार्जन हो सके। संगीत में व्यवसाय के विषय में यह कहा जाता है कि संगीत कला को जीवकोपार्जन का माध्यम बनाकर शिक्षा द्वारा, प्रदर्शन द्वारा, ध्वन्यांकन द्वारा एवं लेखन द्वारा सुरक्षित रखना है। विद्वानों के मतानुसार गायन, वादन और नृत्य यह तीनों मिलकर संगीत की सम्पूर्ण परिभाषा हैं। वर्तमान समय में तेजस्वी कलाकारों ने संगीत को व्यवसाय का माध्यम बनाकर ख्याति प्राप्त की और इसे नये-नये रूपों में प्रस्तुत किया। उदाहरणार्थ- फ़िल्म संगीत जहाँ श्रोताओं का मन मोह रहा है, व्यवसाय का मुख्य आधार है। इस तरह ख्याल, ठुमरी, दादरा एवं वाद्य संगीत व्यवसाय के माध्यम हैं। यह कला जहाँ एक ओर पीढ़ी-दर-पीढ़ी सुरक्षित है, वहीं जीवन निर्वाह का माध्यम है। संगीत में व्यवसाय का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वर्तमानकाल की परिस्थितियों व सामाजिक आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए संगीत शिक्षण प्रणाली को सुनियोजित रूप देने की आवश्यकता है। आज संगीत व्यवसाय का रूप ले रहा है। संगीत के व्यवसाय को केवल अपने स्वार्थवश जीवनयापन के लिए ही नहीं, वरन् उसे कला व समाज की उन्नति के लिए अपनाया जाना श्रेयस्कर है। संगीत के व्यवसाय से संबंधित कई क्षेत्र हैं, जिनका प्रशिक्षण यदि दिया जाये तो संगीत विषय व्यवसाय प्रदत्त हो जायेगा, जो काफी उपयोगी सिद्ध होगा। परन्तु, व्यवसाय मात्र जीविकोपार्जन या अर्थोपार्जन नहीं है, अपितु यह मानव विशेष के विचार, प्रवृत्तियों, कौशल, जीवनशैली, जीवन-स्तर व समाज में उसके योगदान को दर्शाता है। उदाहरण के लिए—यदि किसी अपरिचित व्यक्ति से किसी बाह्य स्थल पर ही उसका व्यवसाय पूछ लिया जाये अथवा किसी विद्यार्थी के माता-पिता का व्यवसाय ज्ञात कर लिया जाये तो, उसकी पारिवारिक आर्थिक व सामाजिक आदि स्थिति तथा उसके सामर्थ्य का अनुमान लगाया जा सकता है।

व्यवसाय शब्द से हम सभी परिचित हैं, वर्तमान में ऐसा होना स्वभाविक ही है। हम सभी किसी-न-किसी रूप में व्यवसायिक संगठनों पर निर्भर हैं। उदाहरण के लिए हम जो खाना खाते हैं, जो पुस्तक पढ़ते हैं, जो फर्नीचर प्रयोग में लाते हैं वे सभी व्यवसायिक क्रियाओं द्वारा प्रदत्त उत्पाद या सेवाओं के ही अंग हैं। मानवीय आवश्यकताओं में निरंतर वृद्धि के कारण अब ऐसी स्थिति बन गई है कि हम व्यवसाय से बच नहीं सकते हैं। कदम-कदम पर अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हमें व्यवसाय का सहारा लेना पड़ता है। जीविका, अर्थोपार्जन तथा विशेष योग्यता की दृष्टि से संगीत के अनेक नये आयाम सामने आये हैं। संगीत की विभिन्न विधाओं में संगीत शिक्षण के अतिरिक्त वाद्य-वृन्द गायन, वाद्य-वृन्द वादन, नृत्य निर्देशन, फ़िल्म संगीत, निर्देशन, कम्पोजिशन व्यवसायिक विज्ञापन, चिकित्सा में संगीत आदि जैसे अनेक क्षेत्र हैं, जिनमें संगीत के माध्यम से विशेष योग्यता द्वारा मनोरंजन अथवा संगीत शिक्षक की अपेक्षा आर्थिक दृष्टि से कैरियर के लिए आकर्षक अवसर उपलब्ध होते हैं। संगीत अन्य तकनीकी व्यवसायों जैसा आकर्षक हो सकता है।

आधुनिक समय में सामान्य जीवन इस सीमा तक जटिल हो चुका है कि प्रत्येक व्यक्ति को समाज

में रहते हुए अपने दैनिक जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु कोई-न-कोई व्यवसाय अवश्य अपनाना पड़ता है। इसलिए संगीत साधना में लीन व्यक्ति भी इन भौतिक कठोरताओं के व्यास से बाहर पग नहीं रख सकता अर्थात् उसके लिए न्यूनाधिक रूप में जीवकोपार्जन करना अतिआवश्यक होता है। इसी कारण संगीत जैसी पवित्र, संवेदात्मक व अलौकिक आनंद प्रदान करने वाली ललित कला को भी व्यवसायों की श्रृंखला में सम्मिलित होना पड़ा है। इसके अतिरिक्त कार्यसंतुष्टि के नियम की दृष्टि से भी अपनी शारीरिक, मानसिक सामर्थ्य व रुचि के अनुरूप ही व्यवसाय अपनाना चाहिए। इस कारण संगीत प्रेमी, संगीत के विद्यार्थी आदि के लिए इसे व्यवसाय रूप में अपनाना उचित भी है। निःसंदेह यह कटु सत्य है कि एक संगीत साधक को समाज की कठोरताओं का सामना करते हुए अर्थोपार्जन के प्रश्न को स्मृति में रखना पड़ता है, परंतु इस क्रिया में अर्थात् अपने कलाकौशल का व्यवसायिकरण करते हुए कला के आदर्शों व गरिमा के स्तर को सदैव दृष्टिगत् रखना चाहिए। संगीतकार को यथार्थवाद् व आदर्शवाद में इस प्रकार का समन्वय स्थापित करने की अति आवश्यकता होती है, जिससे संगीत कला की गौरवान्वित्ता को कण मात्र भी क्षति न पहुँचे। कहने का तात्पर्य यह है कि यदि कोई संगीतकार अपनी कला का प्रयोग जीवकोपार्जन के उद्देश्य से करता है तो कला के नैतिक मूल्यों, मर्यादाओं, मान-प्रतिष्ठा व गौरव आदि के स्तर को बनाये रखना अर्थात् संगीत कला का उत्तरोत्तर विकास करना उसका परम् कर्त्तव्य है।

विश्वविद्यालयों से शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् ज्यादातर विद्यार्थी रोजगार प्राप्त कर रहे हैं परंतु उनका क्षेत्र बहुत ही सीमित है, जबकि संगीत में रोजगार के क्षेत्र काफ़ी व्यापक है। इन विश्वविद्यालयों से शिक्षा प्राप्त कर ज़्यादातर विद्यार्थी संगीत शिक्षक के रूप में किसी सरकारी विद्यालय या प्राईवेट विद्यालय में कार्यरत् हैं, और बहुत कम ही विद्यार्थी ऐसे हैं जो विश्वविद्यालय से पी-एच. डी. एवं नेट की डिग्री हासिल करने के पश्चात् किसी कॉलेज या विश्वविद्यालय में संगीत शिक्षक के रूप में कार्यरत् हैं, लेकिन ऐसे विद्यार्थी बहुत कम हैं जिन्हें विश्वविद्यालय या महाविद्यालयों में रोजगार मिल रहा है। साक्षात्कार के दौरान कुछ मुख्य बातें यह भी आई हैं कि कुछ विद्यार्थी अपना जीवनयापन मंच प्रदर्शन के द्वारा कर रहे हैं, तो कुछ विद्यार्थी ऐसे हैं जो व्यवसाय नहीं मिलने के कारण ट्यूशन करके अपना जीवनयापन कर रहे हैं। इस दृष्टि से देखा जाये तो अन्य विषयों की अपेक्षा संगीत के विद्यार्थियों के लिए रोजगार की समस्या बहुत अधिक है एवं संगीत शिक्षक के अलावा उन विद्यार्थियों के पास रोजगार का कोई और विकल्प नहीं होता, जिसके तहत् वह संगीत से ही जुड़े क्षेत्रों में व्यवसाय कर सके, जबकि अन्य क्षेत्रों में रोजगार की अपार संभावनाये हैं। हमारा संगीत का क्षेत्र भी बहुत व्यापक है और इसमें भी संगीत से जुड़े विभिन्न क्षेत्रों में रोजगार की संभावनाये हैं। ऐसे कई आयाम हैं जिनकी शिक्षा विषय-विशेषज्ञ द्वारा विश्वविद्यालयों में दी जाये तो संगीत में भी रोजगार की समस्या बहुत हद तक दूर हो जायेगी।

संगीत शिक्षा से रोजगार के अवसर

आज के विद्यार्थियों का मूल उद्देश्य केवल प्रमाण-पत्र पाने तथा उस आधार पर व्यवसाय करके धनोपार्जन करना मात्र रह गया है, क्योंकि उसे शिक्षा प्राप्त करते समय यह ज्ञात नहीं होता कि वह आगे क्या करना चाहते हैं और यदि वे निर्धारण भी कर लें तो उन्हें उसी क्षेत्र में व्यवसाय प्राप्त हो जाये यह आवश्यक नहीं है। किसी तरह जीविका का प्रबंध हो जाये, यही आज के विद्यार्थी का उद्देश्य रह गया है। महत्त्वाकांक्षी होने पर या तो धन का अभाव या सुविधाओं का अभाव आगे बढ़ने नहीं देता अथवा सामाजिक परिस्थितियों के कारण उसका मार्ग अवरुद्ध हो जाता है या फिर उन्हें रोजगारोन्मुख

पाठ्यक्रमों का ज्ञान नहीं होता, जिनकी शिक्षा प्राप्त कर संगीत में रोजगार की समस्या को दूर किया जा सके। ऐसी स्थिति में शास्त्रीय संगीत के क्षेत्र में व्यवसायिक पाठ्यक्रमों का समावेश होना चाहिए और विभिन्न संगीत संबंधी व्यवसायों के अनुसार विद्यार्थियों को शिक्षा प्रदान किया जाना चाहिए।

संगीत शिक्षा जीवकोपार्जन भी प्रदान करती है। संगीत के विद्यार्थियों के लिए व्यवसाय हेतु संगीत क्षेत्र में अनेक भाग व उपविभाग हैं, जिनमें वह दिशा विशेष अथवा विभाग विशेष के अनुकूल शिक्षा ग्रहण कर इसमें अपनी व्यक्तिगत कुशलता व चातुर्य समावेश कर रोजगार प्राप्त कर सकते हैं। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और समाज की मर्यादाओं का पालन करने हेतु वह समाज की धारा में प्रवाहमान होने हेतु अर्थात् समय-समय पर बदलते परिवेश में परिवर्तित होते रहने के लिए व अन्य जीवन संबंधी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु मनुष्य को कोई-न-कोई व्यवसाय आवश्यक अपनाना पड़ता है। व्यवसाय में उचित अर्थोपार्जन के साथ कार्य संतुष्टि होना भी अति आवश्यक होता है, अर्थात् व्यक्ति को ऐसे व्यवसाय का ही चयन करना चाहिए, जिस कार्य को करने में उसे आनंद प्राप्त हो और वह उस कार्य को कुशलता पूर्वक कर भी पाये। यदि कोई परिवर्तन आवश्यक भी है तो संगीत कला की मर्यादाओं में रहकर संगीत के बदलते परिवेश के अनुरूप इस प्रकार ढालना चाहिए जिससे समाज का कल्याण हो। इस प्रकार संगीत शिक्षा व्यवसायिक लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु भी प्राप्त की जा सकती है व वर्तमान में संगीत शिक्षा व्यवसाय के रूप में अपनाई तो जा रही है, परंतु उसके क्षेत्र सीमित हैं अर्थात् ज़्यादातर संगीत के विद्यार्थी संगीत शिक्षक के रूप में व्यवसाय कर रहे हैं, अन्य क्षेत्रों में नहीं। अतः संगीत शिक्षण के अलावा संगीत के विद्यार्थियों के समक्ष ऐसे कई विकल्प हैं जिनकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है। उन क्षेत्रों में भी रोजगार की अपार संभावनाये हैं।

आज के समय में जब हर क्षेत्र में प्रतियोगिता बहुत ज़्यादा है। नौकरी पाना एक बहुत कठिन काम है। यह काम और ज़्यादा कठिन हो जाता है जब बिना किसी योजना के पढ़ाई जारी रखी जाये और सिर्फ़ डिग्रियाँ हासिल की जायें। आज ज़रूरत है बचपन से ही स्वभाविक गुणों के आधार पर रुचिशील कार्य करना एवं 10वीं-12वीं स्नातक और स्नात्कोत्तर की पढ़ाई के दौरान ही देखना होगा कि किस-किस क्षेत्र में रोजगार की संभावना है। जानकारी के अभाव में युवा अपना कैरियर ठीक से प्लान नहीं कर पाते और अनावश्यक परेशानियों का सामना करते हैं। रोजगार के लिहाज से संगीत एक ऐसा विस्तृत क्षेत्र है, जहाँ शोहरत, प्रतिष्ठा और दौलत एक साथ हासिल कर सकते हैं। संगीत को प्राचीन काल से ही एक प्रकार की साधना, तपस्या, इबादत मानते-मानते आज के भौतिक युग में यह भी आकर्षक, कलात्मक कैरियर बन चुका है। संगीत की किसी भी विधा में पारंगत होने पर परफॉरमेंस के उपरांत आत्म-संतुष्टि मिल सकती है। यदि कलात्मक अभिरुचि रखने वाले नई पीढ़ी के विद्यार्थियों को संगीत के क्षेत्र में आकर्षक कैरियर बनाने के लिए प्रोत्साहित किया जाये तो बेशक संगीत का विकास होगा, संगीत कला फलेगी-फूलेगी और यह क्षेत्र रोजगारपरक् व बहुआयामी हो जायेगा। आज के व्यवसायिक दौर में एक के बाद एक संगीत कंपनियाँ खुल रही हैं और चारों ओर विडियो-ऑडियो एल्बम की भरमार नज़र आ रही है। आज संगीत बाज़ार में सक्रिय बड़ी कंपनियों में एच.एम.वी, पॉलिग्राम, बी.एम.जी., किसेण्डा इंडिया, सोनी इंडिया, वीनस, राजश्री, टी-सीरीज़, मेल-ट्रैक, नवरस, म्यूज़िक टूडे, ज़ी-म्यूज़िक वगैरह इस क्षेत्र की संभावनाओं के लिये नित नये प्रयास कर रही हैं। यदि कोई व्यक्ति इस आर्थिक पहलू को ही ध्यान में रखते हुए उसे अपना कैरियर बनाता है तो वह ज़्यादा से ज़्यादा एक दर्जे का कलाकार बन सकता है। एक अच्छा कलाकार बनने के लिए कम-से-कम

कुछ समय के लिए उसके आर्थिक पहलू को भूलना ज़रूरी होता है और स्वयं कला के अपने आनंद को गहराई से आत्मसात् करना होता है। यह बात सबसे ज़्यादा जिन कलाओं पर लागू होती है, संगीत उन्हीं में से एक है।

इन दिनों तमाम टी.वी. चैनल्स पर आने वाले म्यूज़िक टेलेन्ट शो के प्रति युवाओं में जबरदस्त क्रेज़ देखा जा रहा है। ज़ाहिर है कि म्यूज़िक को यूथ फुल टाईम कैरियर के रूप में अपनाने लगे हैं। इस फील्ड में कैरियर कैसे बनाया जा सकता है और भविष्य में किस तरह का स्कोप है इस बारे में यही कहा जा सकता है कि इन दिनों म्यूज़िक इंडस्ट्री टॉप पर है। जिसकी गूँज अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भी सुनी जा रही है। म्यूज़िक इंडस्ट्री में संगीत के विद्यार्थियों के लिए कई तरह के विकल्प मौजूद हैं। वैसे आज ऐसे बच्चे भी इस फील्ड में आ रहे हैं जिनकी आवाज़ या हुनर गॉड-गिफ्टेड है। टेलेन्ट हंट शोज़ इस बात को और बेहतर साबित कर रहे हैं। भले ही कोई विद्यार्थी नेचुरल टेलेन्टेड हो फिर भी उसे बेहतर परफार्म करने के लिए म्यूज़िक की प्रॉपर ट्रेनिंग लेनी पड़ती है। अगर वे ऐसा करते हैं तो ज़रूर उन्हें दूसरे कैंडिडेट की अपेक्षा ज्यादा चांस मिलेंगे। अगर विद्यार्थी टेक्निकली फिट हैं तो म्यूज़िक फील्ड में उनके लिए रिकॉर्डिंग टेक्निशियन, ऑडियो एडिटिंग जैसे काम के लिए दरवाज़े खुले हुए हैं।

संगीत के क्षेत्र में रोजगार करने के लिए विद्यार्थियों को अपनी रुचि को बारीक़ी से पहचानकर ही इस फील्ड में कैरियर की राह चुननी होगी। अगर वे यह सोचकर म्यूज़िक फील्ड से जुडना चाह रहे हैं कि केवल प्लेबैक सिंगिग या विज्ञापन में ही अधिक पैसा है तो इस तरह की सोच के दायरे से बाहर निकलना होगा, तभी कैरियर को बेहतर ढंग से संवार सकेंगे। अगर वे क्लासिकल परफार्मर बनना चाहता है तो उन्हें खुद को हर हाल में गुरु-शिष्य परम्परा से जोड़ना ही होगा। इसी तरह अगर वे संगीत की एकेडमिक फील्ड में जाना चाहते हैं तो, ज़रूरी है कि उसके पास संगीत से जुड़ी डिग्री भी हो। किसी भी चीज़ का सामान्यीकरण करना ठीक नहीं हैं। सच तो यह है कि यह एक क्रियेटिव फील्ड है, इसलिए बेहतर यही होगा कि विद्यार्थी जिस भी फील्ड में जाना चाहें, पहले यह अच्छी तरह जान लें कि मेहनत का कोई विकल्प नहीं है। संगीत की दुनिया में विद्यार्थी टीचिंग, सिंगिंग, म्यूज़िशियन, रिकॉडिंग, कनसर्ट, परफॉरर्मर, लाईव शो, डिस्ट जॉकि, विडियो जॉकि और रेडियो जॉकि के रूप में अपने कैरियर की शुरूआत कर सकते हैं। क्लासिकल, फोक, ग़ज़ल, पॉप, फ़्यूज़न आदि में भी अवसर है, इसके अलावा कॉपी राईटर, रिर्काडिंग टेक्निशियन, इन्स्ट्रूमेंट मेन्यूफेक्चरिंग, म्यूजिंक थेरेपी, प्रोडक्शन, प्रमोशन जैसी फील्ड में भी विद्यार्थी अपनी संगीत से जुड़ी प्रतिभा को बुलंदियों तक पहुँचा सकते हैं। अगर जॉब की बात करें तो आप एफ.एम.चैनल्स, म्यूज़िक कंपनी, प्रोडक्शन हाऊस, म्यूज़िक रिसर्च ऑर्गनाईज़ेशन, एजुकेशलन इंस्टिट्यूट और गवर्नमेंट कल्चरल डिपार्टमेंट में इसके लिए कोशिश कर सकते हैं।

विश्वविद्यालयीन शिक्षण के अंतर्गत रोजगार की क्या संभावनायें हैं, इस संबंध में विभिन्न विद्वानों ने अपने-अपने विचार व्यक्त किये हैं। विश्वविद्यालय से शिक्षा ग्रहण कर कलाकार बनना बहुत कम ही संभव है। विद्वानों का यह भी मानना है कि कलाकार बनने के लिए पूरा बेकग्राउण्ड होना चाहिए। कुछ विद्वानों का यह भी मानना है कि यद्यपि इन विश्वविद्यालयों से कलाकार नहीं निकल सकते, परंतु रोजगार के अन्य कई विकल्प हैं। संगीत का क्षेत्र इतना छोटा नहीं है, इसमें भी रोजगार की अपार संभावनायें हैं।

आधुनिक समय में संगीत व्यवसाय अनेक रूपों में हमारे समक्ष पल्लवित हो रहा है। आज का युग विशिष्टकरण का युग है। वर्तमान समय में प्रत्येक क्षेत्र में असंख्य भाग व उपभाग बनाकर

उनके विशेषज्ञों का निर्धारण व शिक्षा-दीक्षा भी इस विशेष भाग, उपविभाग के अनुरूप दिये जाने का प्रावधान है। संगीत कला में भी विशिष्टिकरण के मत को अपनाया जाना आवश्यक है।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि संगीत विषय किन-किन रूपों में उपयोगी हो सकता है। पाठ्यक्रम में केवल संगीत के शास्त्रीय रूप को ही रखा गया है। आज संगीत के पाठ्यक्रम में जो कुछ भी निर्धारित किया जाता है उसमें अधिकांशतः वही सब है जिसे आज शास्त्रीय संगीत कहा जाता है किन्तु जिस प्रकार भाषा का केवल साहित्यिक अध्ययन ही उस भाषा का एक मात्र स्वरूप नहीं है, उसी प्रकार संगीत के आधुनिक शास्त्रीय रूप का अध्ययन भी उसका एक मात्र स्वरूप नहीं है। संगीत के विविध आयाम हैं, उसके अनेक रूप हैं और उसके अनुसार विविध प्रयोग हैं। संगीत के अन्य प्रकार - भाव गीत, भजन, ग़ज़ल, कीर्तन, सिनेमा संगीत, लोक संगीत, नाट्य संगीत, परम्परागत गीत आदि पर शिक्षा के क्षेत्र में बहुत कार्य हो सकता है। लोकप्रिय संगीत का भी पाठ्यक्रम में समावेश हो सकता है क्योंकि वह जनमानस के अधिक समीप है। संगीत शिक्षा के क्षेत्र में जो नये मापदण्ड आये हैं व दिशायें बदली हैं उसका समावेश संगीत पाठ्यक्रम में होना चाहिए। आज सामाजिक जीवन में संगीत विविध रूपों में विचरण कर रहा है। संगीत की सामान्य शिक्षा व व्यवसायिक शिक्षा के लिए भिन्न पाठ्यक्रमों का विकास करना होगा ताकि, प्रत्येक स्तर पर क्रमबद्ध पाठ्यक्रम को सुनियोजित रूप से लागू किया जा सके।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. स्वातंत्र्योत्तर काल में हिन्दुस्तानी संगीत की व्यवसायिकता का विश्लेषणात्मक अनुशीलन, विवेक फडनीस, (शोध प्रबंध).
2. भारतीय संगीत का इतिहास, डॉ. शरच्चन्द्र श्रीधर परांजपें
3. www.emusictherapy.com से मिली जानकारी के आधार पर।
4. https://www.bhaskar.com/news/MP-HOSH-MAT-latest-hoshangabad-news-040524-2176905-NOR.html
5. वर्तमान समय में ''रोजगार युक्त संगीत कला'' उच्चषिक्षा में एक महत्वपूर्ण आयाम, डॉ. लता जैन, INTERNATIONAL JOURNAL of RESEARCH–GRANTHAALAYAH A knowledge Repository] Conference-Innovation in Music & Dance :January,2015
6. वर्तमान समय में संगीत से आजीविका के साधन, Dr. Ashwani Sharma, Journal of Advances and Scholarly Researches in Allied Education [JASRAE] (Vol:16/Issue: 5), DOI: 10.29070/JASRAE

सौन्दर्य

चित्रपट संगीत और रस

कुमारी ज्योति

संगीत शिक्षिका केंद्रीय विद्यालय काकिनाडा, आंध्रपदेश

संगीत बहुत व्यापक विषय है, जिनसे कई सांगीतिक शैलियों को जन्म दिया और इसी आधार पर भारतीय संगीत का आधारभूत स्तंभ हैं। संगीत एक उत्कृष्ट ललितकला है जिसका मुख्य आधार नाद अथवा आवाज़ है इसी कारण इस रस कला को नाद ब्रह्म पुकारा गया है। चित्रपट संगीत के प्रत्येक दशक की अपनी एक पहचान, एक महक, अपने सुर, अपना एक विस्तार तथा अपना एक अदम्य इतिहास होता है। भारतीय संगीत न केवल हमारी संस्कृति की अमूल्य निधि है वरन वह संगीत विश्व के इन सांगीतिक संस्कृतियों की पोषक हैं, जिसने अपनी संवेदनाओं और मनोभाव को विभिन्न आयामो में प्रस्तुत किया। चित्रपट संगीत की चर्चा करने से पूर्व हमें हमारे प्राचीनकाल शास्त्रीय संगीत की महत्ता की चर्चा कर लेना श्रेयस्कर होगा क्योंकि इसी संगीत की दिशा और दशा ने नया मार्ग प्रशस्त किया है। जैसे–

1. शास्त्रीय संगीत
2. उपशास्त्रीय संगीत (ठुमरी, चैती, कजरी, दादरा आदि।)
3. लोकसंगीत
4. सुगम संगीत (गीत, गज़ल, भजन)

भारतीय सुगम संगीत में फिल्म संगीत विधा अतयंत प्रचलित स्वरूप है। भारतीय चित्रपट संगीत मात्र एक नाम नहीं हैं। यह एक दीर्घकालीन यात्रा है, जिसने कई अपने विभिन्न काल खंडों में एक अलग अस्तित्व बनाए रखा। इसी आधार पर इसकी यात्रा अनंत काल से चलकर आज अपने स्वर्णिम वर्तमान तक पहुँची है। क्योंकि केवल चित्रपट संगीत को सुनने के बाद हम अपनी भावनाओं को भी महसूस कर सकते है। भारतीय चित्रपट संगीत का प्रारंभ उस कालखंड से होता हुआ आ रहा है, जब चित्रपट के नायक और नायिका स्वयं आलंबन में लिप्त हुए विभिन्न रसों का आस्वादन अपने अभिनय के माध्यम से स्वयं और दर्शकों को भी कराते आ रहे है। चित्रपट संगीत में अगर रस की बात कि जाए तो प्रत्येक गानों के माध्यम से विभिन्न रसों को महसूस कर सकते है। चित्रपट संगीत में जब नायक और नायिका का मिलन और आलिंगन करते हुए दिखाया जाता है तब हमें श्रृंगार रस का अनुभव होता है। उसी प्रकार अगर नायक और नायिका एक दूसरे से दूर होते है तो चित्रपट संगीत के माध्यम से विरह का आस्वादन महसूस होता है। ऐसे महान नायकों और महान संगीतकारों के आधार पर चित्रपट संगीत की नींव रखी गई। ऐसे महान संगीतज्ञ जो शुद्ध, शास्त्रीयता के सैद्धांतिक एवम् व्यावहारिक पक्ष में निपुण व पारंगत होते हुए भी चित्रपट संगीत में अपनी विद्ता व कला से अपनी असीमित परिकल्पनाओं व भावनाओं के माध्यम से शास्त्रीय रागों को आधार मानकर आकर्षक, कर्णप्रिय, मधुर धुनों का निर्माण कर जनमानस के हृदय पर राज किया। पूर्वकाल में ऐसे कलाकारों का चयन होता था, जिन्हें अभिनय, नृत्य, संगीत तीनों में महारत हो, क्योंकि वह काल फिल्मी दृष्टि से उतना अनुकूल नहीं था। फिल्म संगीत, संगीत को रोचक मनोरंजक एवम् जनसामान्य एक पहुँचाने

का एक सशक्त साधन है और इसी आधार पर विभिन्न प्रकार के कलाओं तथा अभिनय के माध्यम से संपूर्ण रसों की अनुभूतियाँ होती रहती है। चित्रपट संगीत में भिन्न-भिन्न प्रकार की रसानुभूति के लिए शास्त्रीय संगीत के अंतर्गत कई रागों का चयन होता है जो अलग-अलग समय पर अपने मनोरंजक स्वर समूहों के माध्यम से रसों के निष्पत्ति करते है। जैसे अगर राग पुरिया धनाश्री के स्वर समूह तथा प्रकृति भी शृंगारिक है जिससे इस राग को अत्यंतप्राचीन बंदिश ''पायलिया झंकार मोरी'' में शृंगार रस का दर्शन और निरूपण है। इस बंदिश के माध्यम से नायिका के प्रेम और लोकलाज को दर्शाया गया है, जिसके फलस्वरूप इस बंदिश के माध्यम से नायिका के प्रेम और लोकलाज को दर्शाया गया है, जिसके फलस्वरूप इस बंदिश के सुनते समय हृदय शृंगार रस से भाव विभोर हो जाता है। इसी प्रकार शास्त्रीय रागों पर आधारित भिन्न-भिन्न रचनाएँ जो कि चित्रपट संगीत में प्रयोग कि गई है जिसको सुनकर हम उस राग में समाहित उस परम आनंद रूपी रस की अनुभूति स्वतः कर सकते है। चित्रपट संगीत में साठ-सत्तर के दशक में संगीतकार्यक्रम नौशाद, ओपी नय्यर, मदन मोहन, लक्ष्मीकांत-प्यारेलाल, एस. डी. वर्मन, रवींद्रजैन आदि संगीतकारों ने शास्त्रीय संगीत के अंतर्गत रागों में रसों का ध्यान रखते हुए अपने गीतों कि रचनाएँ की। चित्रपटसंगीत में रचनाएँ चाहे शृंगार रस की हो या विरह रस की रसानुभूति कि क्षमता अतुलनीय होती है। संपूर्ण विश्व में चित्रपट संगीत अपने रस और भावों के कारण सुप्रसिद्ध है। फिल्म संगीत का आधारभूत ही शास्त्रीय संगीत और इसके माध्यम से रसानुभूति कराना है। हमारा मानवीय समाज तो संगीत और मनोरंजन का भूखा होता हुआ, क्योंकि उसका समय अस्त-व्यस्त होता है। स्वभावतः चित्रपट संगीत में आत्मानंद का दर्शन तथा रसास्वादन कर तृप्त हो जाता है। शास्त्रीय संगीत व चित्रपट संगीत में रागों को प्राथमिक आधार बनाकर उसमें प्रयुक्त होने वाले समूहों के माध्यम से रसास्वादन किया और कराया जाता है। जिस प्रकार शास्त्रीय संगीतज्ञ कलाकार राग की बढ़त करते हुए, उसकी भूमिका शनैः-शनैः दर्शकों के हृदय में, मदन में अपना प्रभाव स्थापित करने लगते है, वहीं दूसरी ओर फिल्मी संगीतज्ञ-संगीतकार उसी राग को महज तीन या चार मिनट के अल्प समय में आकर्षक, कर्णप्रिय मधुर धुन बनाकर व्यक्ति के अंतरात्मा में अद्‌भुत, अलौकिक रसानुभूति कराता है।

इसका यह अर्थ कतई नहीं है कि हमारे शास्त्री कलाकार रसाभिव्यक्ति में अक्षम है। हमारी शास्त्रीय संगीत की शैली अलग है, विधा अलग है। यहाँ धीरे-धीरे अपने मुकाम पर पहुँचकर रसों का अनुभव करना होता है। अपने संपूर्ण संगीत साधना को, स्वरों में, रागों में सरोबार करना होता है, तब जाकर एक संपूर्ण राग की प्रस्तुति तथा उससे रस की निष्पत्ति होती है।

''रसो वै सः'' प्रत्येक कला का आधार रस ही है। बिना इसके आनंद की कल्पना नहीं कि जा सकती है। अगर हम चित्रपट संगीत की बात करें तो इसके माध्यम से हमें सभी प्रधान रसों की अनुभूति होती है।

इन सब बातों से ये निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि भारतीय संगीत कि कोई भी विधा चाहे ध्रुपद धमार हो या ख्याल ठुमरी या गीत और भजन, कजरी चैती या फिर चित्रपट संगीत (फिल्म संगीत) सभी का आधार रसानुभूति कराना है है, बिना रस के भारतीय चित्रपट संगीत के उस स्तर की परिकल्पना नहीं की जा सकती, जो परमसुख की अनुभूति कराता हैं...

व्यक्तित्व

T. Lakshmana Pillai — The multi-faceted composer from Kerala

Dr. Bindu K.

Associate Professor & Head (i/c) Dept of Music, University of Kerala

Music has been an integral part of the social and religious life of people in Kerala for many years. Being bestowed with several musicians, composers, scholars and poets who have contributed profusely for the art, Trivandrum was considered as one of the major seats of music. Among the composers of post Swati period in Kerala, the name 'T. Lakshmana Pillai' stands unique as a multi-faceted personality who has excelled as one of the brightest gems in the cultural arena during his time. Though he lived in Kerala, he had composed songs in his mother tongue Tamil. Being a prolific composer, a talented poet, a great thinker and an admired vainika, he proved himself as a composer of unparalleled excellence in Tamil. He is one among the 'Tamil Trinity', the other two, being Nilakanta Sivan and Papanasam Sivan, who lived in Trivandrum.

He was born in Chalai, Trivandrum, on 3rd May, in the year 1864 to Sri Thiraviam Pillai and Balarama Valli Ammal. His family was of orthodox saivites and has no musical background, though he was brought up in an atmosphere of bhakti and religious chants. He was introduced in to the customary learning of music and veena and this certainly have supported him extensively to succeed as a composer later on. The traces of gamakas which are particular to veena are found in his compositions. He has been blessed to be trained under the tutelage of Pappu pillai, Velu Pillai, Veena Ayya Bhagavathar, Pitchu bhagavathar and Kalyanakrishna Bhagavathar.

He also continued his studies and took B. A (Hons.) degree. Entered in to the government service and retired as major Treasury officer in Trivandrum, in the year 1920. His father was an Accountant general of Travancore. Lakshmana Pillai was equally good in English and Tamil and contributed immensely for the propogation of Tamil language.

His services for the promotion of Tamil language are so significant that he has composed more than two hundred tamil kritis, and also started 'Saivaprakasa Sabha', to promote Saiva literature and Tamil in Travancore. As a passionate reader, he tried to collect books on various subjects and instituted a library at Pazhavangadi for the benefit of public.

What make his compositions unique is that, most of his compositions bear the philosophical reflections on the social and cultural accomplishments. Unlike other composers, he has not used any mudras and most of the songs are the messages to the society.

As he was a true admirer of the great philosopher Ralph Waldo Emerson, he named the newly raga founded by him as 'Amarasenapriya'. His compositions are brimmed with philosophical, ethical, moral and social contents. There are many compositions which bring forth his lofty philosophical ideas as well as his musical skill. The kriti in Kalyani raga, "Inta ulakam or nataka salai", he tries to convey the philosophical reality that both the king and the mendicant have the same in soul and both are having the sorrows of their own. In the Khamas kriti, "Arivirpperidu Isanai ariyum arive" points that the uppermost knowledge (Arivu) is that to realize the Supreme that is God. The realization of the inner self, happens to be the utmost knowledge. He expresses in the charanam,

'akattaiyum atan sukhatayum ari
anaittayum vaitha manattaiyum ari',

Which portrays his insight into the highest philosophical truth of Advaitha. Most of the kritis are filled with the literary beauties like prasa varieties.

He has done the selection of ragas according to the mood of particular song. For example, Anandabhairavi raga has been chosen for depicting the cravings of his mind in the song, 'Enguttrai ena thedukindren, nenjathingutre irundaye'. In this song, he explains that he was searching for God, without noticing 'Him' within himself. He has chosen 'Kuntalavarali' for a kriti 'sankatame jagam', in which he expresses that the pleasure of music is so high that it is not equal to any of the worldly pleasures.

The philosophical thoughts are seen in its peak in the kriti ,

'Namminul sivamundu, sivathinul namullom,
Jnanamithu thelithale maname'

Other than the philosophical compositions, he has composed five kritis on various deities. Three kritis on Lord Siva and one each on Ganapati and Muruga. Following are a few kritis composed by him :

1. Kaividalamo in Kapi raga, Adi tala
2. Guruvayurappa in Saramati raga, Rupaka
3. Gananadhanai in Natta, Adi

4. Unmaiyum Neetiyum in Harikamboji raga, Adi tala

He has strongly responded towards the unfair acts in the society such as animal slaughter as part of temple rituals, through his songs. He has composed a kriti for banning the animal slaughter in 1922, 'Jeeva vathai seyya vendam' in the raga Chakravakam.

Lakshmana Pillai was also a proficient in Musicology and his articles 'Travancore Music and Musicians', 'Tyagaraja and his music', 'The Royal House of Travancore' etc. bears the testimony for revealing his expertise as a Musicologist. His marvelous poetic works have contributed expansively for flourishing the Tamil language. His songs are the outpourings of the thoughts and feelings of a sincere and noble soul. This scholar composer was conferred with many titles like the 'Sangita kala Sikhamani', 'Tamil Isai Selvar', and 'Isaikavi Arasu'.

As aptly written by R B Nayar in the Sruti magazine(1991), 'Amongst the composers of Carnatic music, Lakshmana Pillai was a man with a difference', T. Lakshmana Pillai occupies the position of a rare kind of Vaggeyakara.

References

1. Great Composers- prof P Sambamurthy
2. Sruti magazine- 1991 & 2003-July issue 226
3. A Glimpse into the Philosophical songs of T. Lakshmanapillai-

4- Article by Dr. K Premalatha- "Nadamritha', 2005.

संगीत-कला के क्षेत्र में काजी नज़रूल इस्लाम का योगदान

रूमा चक्रवर्ती

शोधार्थी, संगीत विभाग

पटना विश्वविद्यालय, पटना

सार संक्षेप - 19वीं सदी के आसपास, बंग्लादेश का संगीत लगभग उत्तर भारत की संगीत एवं मार्ग संगीत से प्रभावित था। यह कहा जा सकता है कि बंग्लादेश काफी सौभाग्यपूर्ण देश रहा, क्योंकि एक समय ऐसा था जब हमारे कवि ही कविताएँ लिखते थे एवं उन कविताओं में सुर स्वयं ही प्रदान करते थे। इन्हीं कवियों में से एक थे - काजी नज़रूल इस्लाम।

काजी नज़रूल इस्लाम अग्रणी बंगला कवि, संगीतज्ञ और दार्शनिक के साथ-साथ एक उच्चतम साहित्यकार, व देशप्रेमी थे। पश्चिम बंगाल व बंग्लादेश दोनों ही जगह उनकी कविता एवं गान को समान अधिकार प्राप्त है। वे बंग्लादेश के राष्ट्रकवि भी थे। काज़ी नजरूल इस्लाम को 'विद्रोही कवि' के नाम से भी जाना जाता है क्योंकि उनके अधिकांश कविताओं में हमें विद्रोही दृष्टि का प्रभाव देखने को मिलता है। काजी साहब ने नज़रुल संगीत से संगीत जगत को एक नवीन संगीत शैली से परिचित कराया। नज़रुल संगीत पश्चिम बंगाल के काफी लोकप्रिय संगीत शैलीयों में से एक हैं। काजी साहब ने नज़रुल संगीत के सभी गीतों को उनके द्वारा लिखे गए ग्रंथों में सजाकर गए हैं। उन्होंने कई नवीन रागों की रचनाएँ भी की, जो संगीत जिज्ञासुओं के लिए लाभदायक है। काजी साहब ने संगीत-कला के क्षेत्र में काफी महत्त्वपूर्ण योगदान दिए हैं, इनका नाम संगीत जगत में आज भी बड़े सम्मान से लिया जाता हैं।

परिचय -

काजी नज़रूल इस्लाम का जन्म 24 मई, 1899 ई. को भारत के पश्चिम बंगाल के आसानसोल जिले के एक छोटे से गाँव 'चुरूलिया' में हुआ था। इनका उपनाम 'दुखु मियाँ' था। उनकी प्रारम्भिक शिक्षा धार्मिक शिक्षा के रूप में हुई। 1908 ई. में उनके पिता की मृत्यु हो गई, जब वे नौ साल के थे। पिता की मृत्यु के पश्चात् परिवार में अभाव के कारण उनके आगे की शिक्षा में विघ्न आ गई और तत्पश्चात् 10 वर्ष की आयु में ही उन्हें रोज़ी-रोटी के लिए काम करना षुरू कर दिया। अपनी पढ़ाई के साथ-साथ वे अपने काम पर भी पूर्ण रूप से ध्यान देते थे। इन सब कामों के माध्यम से उन्हें अल्प उम्र में ही इस्लाम धर्म के मौलिक आचार-विचारों को घनिष्ठ रूप से समझने का सुअवसर प्राप्त हो गया, जो आगे चलकर उनके साहित्य विषय को काफी प्रभावित किया।

बाल्यावस्था में ही वे एक नाट्यदल - ''लेटो'' के प्रति आकर्षित हो गए और फिर उस दल में शामिल हो गए। इस नाट्य मंडली के साथ रहकर वे कई जगह भ्रमण करते और अपने नाट्य दल के लिए कविताओं एवं गीतों की रचना करते थे। अपने ज्ञान के लिए वे बंगला एवं संस्कृत साहित्य का अध्ययन करने लगे। इसके अलावे हिन्दु धर्म-ग्रंथों का भी वे अध्ययन करते थे। कम उम्र में ही उन्होंने ''लेटो'' दल के लिए कई लोकसंगीत की रचनाएँ की। इन सब के अलावे काजी नज़रूल इस्लाम ने

माँ काली को लेकर भी कई 'श्यामा संगीत' की रचनाएँ भी की।

1910 ई. में काजी नज़रूल ''लेटो'' दल को छोड़कर अपने छात्र जीवन में पुनः वापस आ गए। आर्थिक समस्या के कारण वे अपनी पढ़ाई पुरी न कर सके। 1917 ई. में उन्होंने माध्यमिक की परीक्षा छोड़ दी और फिर सेना में भर्ती हो गए। सेना में वे ढाई साल रहे। इन ढाई सालों में भी वे साहित्य के किताबों का अध्ययन करना नहीं भूले थे। उन्होंने प्रथम विश्वयुद्ध में भाग भी लिया। प्रथम विश्वयुद्ध के समाप्त होने के बाद लगभग 1920 ई. में वे सैन्य जीवन त्याग कर अपने घर अर्थात् कोलकाता वापस लौट आए।

कोलकाता लौटने के पश्चात् उन्होंने अपनी कविताएँ कई पत्रिकाओं में प्रकाशित किए। इसके फलस्वरूप उनकी पहचान उस वक्त के कई बड़े-बड़े कवियों से हुई। 1921 ई. के अक्टूबर महीने में शान्तिनिकेतन जाकर अंततः वे कविगुरु रबीन्द्रनाथ टैगोर से साक्षात्कार किए। तब से लेकर कविगुरु रबीन्द्रनाथ की मृत्यु पर्यन्त उनका संबंध काफी गहरा रहा।

इस समय वे ब्रिटिश के खिलाफ आंदोलन में प्रत्यक्ष रूप से अनुत्तीर्ण रहे। उन्होंने अपनी विद्रोह भावना को कविता के रूप में प्रस्तुत किया। उनके कविताओं में इस साम्राज्यवाद के प्रति उनका विरोध स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता था। धार्मिक मुस्लिम समाज व अवहेलित भारतीय जनगण के प्रति उनका विशेष सम्पर्क था। कविताओं के अलावे वे बच्चों के लिए कहानियाँ, उपन्यास, इत्यादि भी लिखें। बंगला काव्य में उन्होंने एक नई धारा को जन्म दिया, जो थे - इस्लामी संगीत तथा ग़ज़ल। इसके अलावे उन्होंने कई प्रकार के बंगला गीतों की रचनाएँ भी की।

नजरूल इस्लाम काज़ी वंश के परिवार से थे। 1921 ई. में कोलकाता की प्रमिला सेन से इन्हें प्यार हुआ व 1924 ई. में वे इनसे विवाह कर लिए। प्रमिला सेन से इनकी चार सन्तानें हुई। पहले दो स्न्तानों की अल्प आयु में ही मृत्यु हो गयी। तिसरे व चौथे पुत्र का नाम सव्यसाची एवं अनिरूद्ध था। सव्यसाची के दो पुत्रियाँ और एक पुत्र हुए - खिलखिल, मिष्टी तथा बाबुल काज़ी। अनिरूद्ध के भी तीन सन्तानें हुई, दो पुत्र - अनिर्बान एवं अरिन्दम तथा एक पुत्री- अनिन्दिता। ये सभी संगीत और साहित्य से जुड़े हुए है। वर्तमान में यह परिवार ढाका में रहता है।

''नज़रुल संगीत'' -

काज़ी नज़रुल ने 4000 से भी ज्यादा गीतों की रचना की, जिन्हें आज 'नज़रुल गीत' या 'नज़रुल संगीत' के नाम से जाना जाता हैं। 'नज़रुल गीती' या 'नज़रुल संगीत', काज़ी नज़रुल इस्लाम द्वारा रचित कविताओं का संगीतमय रूप है। नज़रुल संगीत के आविर्भाव का समय रवीन्द्र संगीत के युग का ही है। फिर भी काज़ी नज़रुल के गीतों में हमें रवीन्द्र संगीत का प्रभाव देखने को नहीं मिलता है। नज़रुल संगीत, रवीन्द्र संगीत से काफी अलग हैं। गानों की संख्या में वे रबीन्द्रनाथ को भी पीछे छोड़ दिए। सृष्टि के किसी भी भाषा में एक व्यक्ति द्वारा व्यापक रूप से एवं इतनी बड़ी संख्या में संगीत की रचना करना स्वयं में ही एक अद्‌भूत योगदान है।

वैसे तो नज़रुल संगीत को कई भागों में विभक्त किया जा सकता हैं, जैसे - भक्तिमूलक गान, प्रणयगीति, प्रकृति वन्दना, देशभक्ति गान, राग-प्रधान गान, हास्य संगीत, व्यंग्यात्मक गान, समूह गीत, रण गीत, विदेशी सुराश्रित गान, इत्यादि। परन्तु भावाभिव्यक्ति की दृष्टि से हम नजरूल संगीत को मुख्य 5 भागों में बाँट सकते हैं। वे हैं-

1. देशात्मबोधक गीत
2. मानविक प्रेम गीत
3. भक्तिमूलक गीत
4. प्रकृति गीत, एवं
5. हास्य गीत।

काज़ी नज़रुल ने अपने गीतों का संकलन कई पुस्तकों व ग्रंथों में किया है। उनके कुछ प्रमुख पुस्तक व ग्रंथों के नाम इस प्रकार हैं-

- गानेर माला
- राँगा जौबा
- गीति शतोदौल
- सुरमुकुर
- बुलबुल-दो खण्डों में
- सुरसाकी
- चोखेर चातोक
- नोजरूल गीतिका
- गुल बागिचा
- संध्या (काव्य ग्रंथ)
- चौन्द्रोबिन्दु
- बोनोगीति
- मोहुआर गान
- जुलफिकार, इत्यादि।

1. प्रसिद्ध नजरूल गीति का संकलन ''बुलबुल'' नामक ग्रंथ 15 नवम्बर, 1928 में प्रकाशित किया गया। ग्रंथ का दुसरा संस्करण 1929 ई. के मई महीने में प्रकाशित हुआ। इस संस्करण में कुल 49 गानों का संग्रह है। इसके दुसरे संस्करण में कुल 101 गानों का संकलन मिलता है।
2. ''चोखेर चातोक'' ग्रंथ में ग़ज़ल-प्रधान गीतों को रखा गया है। इस ग्रंथ का प्रथम संस्करण 21 दिसम्बर, 1929 ई. को किया गया, जिसमें कुल 53 गानों का संकलन है।
3. एक संक्षिप्त पुस्तक/ग्रंथ ''मोहुआर गान'' की रचना जनवरी, 1930 ई. में प्रकाशित हुआ, जिसमें सिर्फ 13 पृष्ठ थे। इसमें कुल 15 गानों का संकलन है।
4. ''नजरूल गीतिका'' नामक ग्रंथ का प्रकाशन 1930 ई. में हुआ, जिसमें कुल 127 गानों का संग्रह है।
5. 1931 ई. के सितम्बर महीने में ''चन्द्रबिन्दु'' नामक ग्रंथ को प्रकाशित किया गया। इस ग्रंथ में 62 गानों का संग्रह है। विशेष रूप से 18 गानों को हास्य गीत के रूप में उल्लेख किया गया है।
6. ''सुरसाकी'' नामक ग्रंथ का प्रकाशन जुलाई, 1932 ई. में किया गया। दुसरा प्रकाशन 1954 ई. में हुआ। पहले संस्करण में 97 गानों का एवं दुसरे संस्करण में 99 गानों का संग्रह है।
7. 1932 ई. में 72 गानों के साथ ''बोनोगीति'' नामक संगीत ग्रंथ की रचना की गई। इसी साल ''जुलफीकार'' नामक ग्रंथ की भी रचना की गई, जिसमें 24 गानों का संग्रह है।
8. 1933 ई. के जून महीने में ''गुल बागिचा'' नामक ग्रंथ को प्रकाशित किया गया। इस ग्रंथ में कुल 88 गानों का संग्रह है।
9. ''गीति शौतोदौल'' नामक ग्रंथ का प्रकाशन अप्रैल, 1934 ई. में किया गया, जिसमें 101 गानों का संकलन है।
10. अक्टूबर, 1934 ई. में इन्होंने ''गानेर मला'' ग्रंथ की रचना की, जिसमें 95 गानों का संग्रह है। यह कुल 496 पृष्ठों का ग्रंथ है। इसी समय ''सुरमुकुर'' नामक एक स्वरलिपि संकलन की पुस्तक की रचना की गयी। इसमें 29 नजरूल संगीत, स्वरलिपि सहित संकलन किया गया है।
11. ''राँगा जौबा'' नामक ग्रंथ में 100 श्यामा संगीत के गानों का संकलन है। इस ग्रंथ का प्रथम प्रकाशन अप्रैल, 1966 ई. में हुआ।

इन सब ग्रंथों के अलावे कवि नजरूल ने लगभग 10-12 कविताएँ, 3-4 संक्षिप्त कहानियाँ (सातभाई चम्पा - 1982; मोटुक भाइती - 1982; इत्यादि), 3 उपन्यास (बाँधोंन हारा - 1929; मृत्युखुदा - 1930; कुहेलिका - 1931), 6 नाटक (झिलमिल नाट्यग्रंथ-1930; आलेया गीति नाट्य-1933; युगवाणी-1922; मधुमाला गीति नाट्य-1959; पुतुलेर बिये- किशोर नाटक-1933; झौड़ किशोर नाट्य काव्य), 6 प्रबंध व निबंध एवं विविध रचनाएँ भी की, जो कि आज बहुत प्रसिद्ध है।

संगीत जगत में योगदान -

काजी नज़रूल ने एक संगीतकार के भाँति सभी देशों के संगीत धुनों को अपने में स्थान दिया। भारतीय संगीत के रागों को बंगला भाषा में समुचित स्थान

दिया। विद्वानों के मतानुसार, लगभग 14 रागों का उन्होंने निर्माण किया, यथा - उदासी भैरव, अरुण भैरव, रूद्व भैरव, आशा भैरवी, शिवानी भैरवी, अरूण रंजनी, मीनाक्षी, संध्यामालती, जोगिनी, देवजानी, निर्झरिणी, रूप मंजरी, बोनोकुन्तला, तथा शंकरी। उपर्युक्त 14 रागों के अलावे और तीन राग - शिवसरस्वती, बेनुका एवं दोलोनचाँपा, का नाम निताई घटक के एक प्रबंध में उल्लेखित है। गीतों के अनुसार 20 मात्रा की, उन्हीं के द्वारा बनाई गई 'नवनंदन' ताल का प्रयोग किया।

नज़रूल संगीत में काज़ी साहब ने रागों का प्रयोग भी बखुबी से किया है। विशेषतः मिश्र रागों का प्रयोग हमें प्रायः नजरूल गीति में देखने को मिलता है। काज़ी नजरूल ने अपने गीतों की रचनाओं में सिर्फ ख्याल अंग को ही नहीं, अपितु ठुमरी, कजरी, दादरा, इत्यादि अंगों को भी सम्मिलित किया है। इसके अलावे बंगाल के लोक संगीत के धुनों का आभास भी हमें नजरूल संगीत में देखने को मिलता है। कहा जाता है कि काज़ी साहब ने अपने शास्त्रीय गीतों की रचना तीन प्रकार से की थी -

- जो पूर्ण रूप से किसी एक राग में निबद्ध हो,
- जो दो या दो से अधिक रागों के मिश्रण से बना हो, तथा
- जो शास्त्रीय संगीत व लोक संगीत के संगम से बना हो।

कहते है काज़ी नजरूल इस्लाम ने सर्वप्रथम बंगला भाषा में ''लक्षण गीत'' की रचना की थी। उन्होंने सिर्फ 6 रागों में ही लक्षण गीत की रचना की, यह 6 राग है - शुद्ध कल्याण, रागेश्री, आसावरी, विभास, प्रदीपकी एवं शंकरा। इन सबके अलावे काज़ी नजरूल ने कुछ प्रचलित हिन्दी ख्याल के बन्दिशों को बंगला ख्याल में परिवर्तित किया है, जिन्हें ''भाँगा ख्याल'' के नाम से जाना जाता है। कुछ बांगला भाँगा ख्याल के उदाहरण निम्नलिखित हैं-

प्रचलित हिन्दी ख्याल	**बंगला भाँगा ख्याल**	**राग**
न मानुंगी, न मानुंगी, न मानुंगी	कुहु कुहु कुहु कुहु कोयेलिया	खमाज
पियु पियु रटत पपीहरा बोले	पियु पियु बिरोही पापिया बौलेरे	ललित
पलन लागी मोरी अँखियाँ	भौबोने आसिलो ओतिथि	गौर सारंग
सुखकर दुखकर तुम दाता	मोधुरो नुपुरो रूमझूम बाजे	शंकरा
ए गरजत आयो	ए घौनोघोर राते	सुरमल्हार

नजरूल संगीत के प्रसिद्ध कलाकारों में यूथिका राय, पद्मारानी चट्टोपाध्याय, माधुरी चट्टोपाध्याय, कृष्ण मजुमदार, कल्याणी काजी, हेमन्ती शुक्ला, इन्द्राणी सेन, सिद्धेश्वर मुखर्जी, धीरेन्द्र बोसु, अनुप घोषाल, मानवेन्द्र, इत्यादि - नजरूल संगीत परम्परा के संगीतकार है।

काजी नज़रूल इस्लाम फिल्मी संगीत के सम्पर्क में भी आए। सन् 1929 को ग्रामोफोन में उनके गीत भरे गए और सन् 1931 में फिल्मी रंगमंच पर अभिनय किए। इसके अलावा संगीत-निर्देशन, गीत-गायन, गीत-लेखन, इत्यादि का भी कार्य किए। उन्होंने लगभग 500 गीत आकाशवाणी के लिए भी रचे। उनकी कुछ प्रसिद्ध फिल्मों के नाम इस प्रकार हैं - ध्रुव, विद्यापति, सापुड़े, मोहुआ, श्यामालोरी, चौरंगी, इत्यादि।

संगीत जगत में काजी नजरूल इसलाम का काफी महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। रवीन्द्र संगीत की ही भाँति काज़ी साहब ने बंगला भाषा के एक अन्यतम नीवन संगीत शैली - ''नजरूल गीति'' से संगीत जगत को परिचय कराया। काज़ी नजरूल इस्लाम के नाम पर कोलकाता में 'नजरूल मंच' नामक एक सभागार बनाया गया है। इसी मंच में

'डोवर लेन संगीत सम्मेलन' का जन्म 1952 ई. में हुआ। यह दक्षिण कोलकाता के गलियारों में कुछ संगीत उत्साही लोगों के लिए एक समारोह के रूप में शुरू हुआ और अब भारत में एक प्रसिद्ध संगीत कार्यक्रम बन गया। उनके नाम से कई संगठन, संस्थाएँ, विद्यालय व महाविद्यालयों का निर्माण किया गया है। कवि नजरूल इस्लाम के नाम पर पश्चिम बंगाल के आसानसोल महानगर में ''काज़ी नजरूल विश्वविद्यालय'' नामक एक सरकारी विश्वविद्यालय की स्थापना की गई। इस विश्वविद्यालय की स्थापना 16 अगस्त, 2012 में हुई थीं। इसके अलावे पश्चिम बंगाल के चुरूलिया में 'नजरूल अकादमी' नामक एक गैर-सरकारी नजरूल चर्चा केन्द्र भी है।

सम्मान :

- सन् 1945 में कोलकाता विश्वविद्यालय से काजी नजरूल इस्लाम को बंगला साहित्य का सबसे सर्वोच्च पुरस्कार 'जगत्तारिणी स्वर्णपदक' प्रदान किया गया।
- सन् 1960 में उन्हें पद्म भूषण के सम्मान से सम्मानित किया गया।
- बंगला साहित्य एवं संस्कृति में उनके विशेष अवदान को स्वीकृति देते हुए उन्हें ढाका विश्वविद्यालय की ओर से डी.लिट की उपाधि से भी सम्मानित किया गया।
- 1976 ई. में उन्हें बंग्लादेश के सबसे स्म्मानित पुरस्कारों में से एक 'एकुशे पदक' नामक सम्मान से भी सम्मानित किया गया।
- काज़ी साहब को 1977 ई. में 'स्वतंत्रता दिवस पुरस्कार' से भी सम्मानित किया गया था।

मृत्यु :

काजी नजरूल इस्लाम, अपने जीवन के आखरी दिन सपरिवार ढाका, बांगलादेश में बीताएँ। सन् 1976 में काज़ी साहब के स्वास्थ में गिरावट आने लगी। उनका अंतिम समय ढाका के पी.जी. अस्पताल में ही बीता। अंततः, 29 अगस्त, 1976 में महान संगीतकार काज़ी नजरूल इस्लाम का निधन हो गया।

निष्कर्ष -

मूलरूप से कहा जाए तो काजी नजरूल इस्लाम एक उच्चकोटी के कवि व दार्शनिक थे, जिन्होंने अपने पदों एवं गीतों से स्थिर एवं स्तब्ध वातावरण में भी विद्रोह की लहर पैदा की तथा संगीत के जगत में अपने सुन्दर रचनाओं के द्वारा अतुलनीय योगदान दे गए। उन्होंने अपने गीतों से प्रकृति और मनुष्य के परस्पर संबंध को बखुबी दर्शाया है। वह एक निपुण कलाकार, लेखक व संगीतकार थे। संगीत-कला के क्षेत्र में काजी साहब के अतुलनीय योगदान को हम कभी नहीं भुल सकते।

संदर्भ सूची :

1. ''संगीत मणि'', भाग-2, डॉ महारानी शर्मा
2. ''नजरूल चरितमानस'' - डॉ सुशील कुमार गुप्ता
3. https:///n.m.wikipedia.org/wiki/Nazrul_Geeti

अनुभूति

संस्मरणः बचपन की हेरथ

अग्निशेखर

लेखक, कलाविध, जम्मू

कश्मीर म शिवरात्रि को हेरथ के नाम से मनाया जाता है। इस पर्व को जब मैं आज दशकों बाद पीछे मुड़कर याद करता हूँ तो उससे जुड़ी जीवंत याद शाम को घोंसलों म लौटते पंछियों की तरह मेरे आकाश को भर देती हैं और मैं स्पन्दित हो उठता हूँ।

हेरथ के दूसरे दिन घर म हम बच्चों को, पडोसियों और निकटस्थ संबंधियों के बच्चों को भी बडों की और से 'हेरथ-खर्च' मिलता था।हम कितना खुश हो जाते! कामना करते कि हमारे घर मेहमान आएं। ताकि हम उनसे हेरथ-खर्च मिले।

और मिलता भी कितना था ,चार आने आठ आने जो समय बदलने के साथ साथ एक रूपये से पाँच, फिर दस रूपये तक हो गया था।हेरथ खर्च का ससेक्स हर वर्ष बढ़ता जाता और हम मज़ा करते।

किसी किसी मेहमान के आने पर निराशा भी होती। वह जब हम बालकों को बिना हेरथ खर्च दिए लौट जाता तो हम पीठ पीछे उसको भला बुरा कहते। कंजूस कहीं का। अडचोट...मरजीवा।

वास्तव में बच्चों के लिए हेरथ पर्व के पहले ही दिन से हर्षोल्लास का वातावरण बनने लगता।घर म एक महीना पहले से ही हेरथ के आने की चर्चा चल निकलती थी।उसकी तैयारियों के लिए कमर सकने की बात होतीं।

उन दिनों आज की तरह कपड़े धोने की मशीन नहीं होतीं। फ्रिज और दूसरी आधुनिक सुविधाएं कल्पना से बाहर की बात थीं। माँ बहनों को पूरे घर के सब कमरों, बाहर-भीतर की दीवारों की लिपाई-पुताई करनी पड़ती। बर्फानी ठंड म नहाने धोने, घास की चटाइयाँ ,वगिव और पतजियाँ, दरियाँ, नम्दे-गब्बे, कालीन वगैरह खिड़कियों से झाड़ने की बात और हेरथ के दूसरे दिन 'साल' अर्थात् प्रीतिभोज पर किस किसको आमंत्रित करना होगा आदि इत्यादि घर की चर्चाओं से हम बच्चों का कोई खास लेना देना नहीं होता।

लेकिन हेरथ आगमन की चर्चा हम और भी कारणों से रोमांचित करती। गलियों,बाज़ारो म चहल पहल होती। ताज़ा सब्जियां, तेलबल, सोपोर और सुम्बल पुल के नीचे की विशेष मछलियाँ टोकरियों म भरकर बेचने की गुहार लगातीं आवाज़ माहौल को एक चहक से स्पन्दित करतीं।

होता यह था कि हम कोडियां खेलने की कल्पना से ही मचलने लगते और माँ या पिता से पिछले साल सम्भाल कर रखी किसी सनदूकची से उन्ह निकाल कर हम देने को कहते।

वास्तव म हेरथ की तैयारियों के दौरान हर शाम बच्चे गोलबंद होकर कोडियां खेलने बैठते।इस खेल म अक्सर घर के बड़े भी शामिल होते। ये खेल इतना डूबकर खेला जाता कि घंटों समय कब बीतता, पता नहीं चलता।

बच्चों को माँ बाप ने लंबी और गहरी पोटलियां दी होतीं जिनम अपने अपने हिस्से की कोडियां रखी रहतीं और बच्चे उन्ह लेकर ऐसे चलते जैसे स्त्रियां घर से बाहर पर्स लिए चलती हैं।

अब अगर कोडियों के लिए पोटलियां नहीं होतीं तो हम उन्ह फिरन की दाहिनी गहरी जेब

म रखे रहते और एक हाथ से उन्ह छनछनाते हुए घूमते फिरते या घर की सीढियां उतरते चढ़ते अपनी ही धुन म होते।अन्य बच्चों को कोडियां खेलने की चुनौती देते।आओ आज दिखाते हैं तुमको कैसे हाराएंगे।

अक्सर बच्चे कोडियां खेलते खेलते किसी छलबाज़ी पर झगड़ पड़ते और बडों को बीच-बचाव कर तत्काल युद्धबंदी करानी पड़ती। इसे 'हारॅ-लडॉय' अथवा कोडियों की लडाई कहते थे।

कश्मीरी म कोडियों को हारॅ कहते हैं।कहते हैं कभी प्राचीनकाल म कोडियां ही मुद्रा थीं।इसलिए आज भी प्रायः बोलचाल म आम जनता रुपए-पैसों को हारॅ कहती है।

लल्द्यद ने चौदहवीं शताब्दी म अपने एक वाख म कोडियों का मुद्रा के रूप म इस्तेमाल किया है। देख :

आयस वते गयस नो वते,
सेमज़ स्वथे लूसुम दोह।
वुछुम चंदस हार नो अते
अथ नावि तारस दिमॅ क्या बो।।

अर्थात् मैं लली सीधी राह से तो आई पर सीधी राह नहीं लौटी। अधबीच स्वमन सेतु पर मेरा दिन अस्त हो गया। मैंने जेब म देखा कोई 'हार' (कोडी) न थी।अब मैं नाविक को क्या नाव तरावा दूं?

प्रसंगवश कोडियों के खेल की बात निकली तो अक्सर घरों म बड़े भी मित्रों व पडोसियों के साथ 'नकद हारन'(नगद रुपयों का) जुआ खेलते रहते; और कभी किसी विजेता जुआरी का मन होता तो कुछ ऊपरी कमाई हम बच्चे भी कर लेते।

यह तो बड़े होने पर पता चला कि कश्मीर म देश के अन्य भागों की तरह जुआ खेलने की परम्परा आज की नहीं है। हालांकि समाज म जुआ खेलने को अच्छी दृष्टि से नहीं देखा जाता।

देखा जाए तो हेरथ के दिन हम बच्चों के लिए नियमित रूप से घंटों चौकडी लगाए बैठकर पढ़ने के दबाव से मुक्ति के दिन होते। बड़े सदस्य घर के कामों म व्यस्त होते।हम हुडदंग मचाते।कभी हम व्यस्त रखने के आशय से वे हमसे शिव विवाह सम्बंधी सामूहिक लोकगीत गवाए जाते :

स्वनॅ शीन प्यव दारे दारे
राज़ कुमारे माहराज़ आव।

अर्थात् शिव बनरा बनकर आये हैं और देखो सोने की बर्फ जमकर गिरने लगी है। मुझे याद है हम शिव विवाह गीतांश गाते गाते कब कहाँ पहुँच जाते, पता नहीं चलता।

शीना प्यतो प्यतो
मामा यितो यितो

अर्थात् गिरो गिरो री ,बर्फ गिरो। मामा आओ आओ रे। गिरो गिरो री बर्फ गिरो...या फिर बच्चे समवेत स्वर शीन (बर्फ) सम्बंधी लोकगीत का मुखडा गाने लगते :

शीन ह्योतुन वालुन
गछ़व सोन शालुन
तिमन छुनॅ ज़ालुन
हेमोख पश वालुन

अर्थात् हिमपात होने लगा है।आओ,हम सोन शाल के यहाँ जाएं। क्या हुआ जो उनके घर म चुल्हा जलाने की लकड़ी नहीं है, हम उनकी छत (काठ की) गिराएंगे।

पता नहीं इस लोकगीत म यह सोन शाला कौन रहा होगा। लेकिन यह दूसरे लोकगीत का मुखड़ा तो हम बच्चों के लिए गाना लगभग अनिवार्य ही होता :

हेरथ माऑज आए
दारिकन्य द्राए
बरॅ किन्तु च़ाए

अर्थात् :

हेरथ माता आई
हेरथ माता आई।
खिड़की से विदाई
द्वार से फिर आई
हेरथ माता आई

यहाँ लोकगीत के अंश म हेरथ को माता के रूप म स्वागत का भाव है। वह दरवाज़े से प्रवेश करती है और खिड़की से उसकी विदाई ठीक उसी तरह की जाती थी जैसे विवाह सम्पन्न होने पर घर से कन्या की विदाई द्वार से नहीं होती है, खिड़की से होने की परम्परा थी। भाव यह कि एक लडकी के लिए उसके मायके का दरवाज़ा हमेशा खुला रहना चाहिए। उसे ऐसा न लगे कि विवाह के हाथ ही उसके लिए दरवाज़ा सदा के लिए बंद हो गया।

इसीलिए नदी म विसर्जन के लिए जब घर की स्त्रियाँ कंधे पर वटुक के माँगलिक कलश लिए जातीं थीं तो खिड़की से बाहर उतरती थीं। लोकमानस का यह आशय तो बहुत बाद म समझ आया।

यह हेरथ की तीन दिन की पूजा के बाद अमावस्या को स्थानीय नदी के घाट पर जाकर 'वटुक पर्मूजुन' अर्थात् वटुक के कलशों म पूजा के अखरोटों और फूलों विसर्जित करने का अवसर होता। नदी घाट पर कलश से कुछेक अखरोटों की गिरियों की पूजा कर नदी म घास के आसन पर दीपक बहाया जाता। हम बच्चों को कितना हर्ष होता उसे दूर तक मदमाते हुए बहते देखकर।

नदी के आर पार हर घाट पर ऐसे ही मन-लुभावन दृश्य और बहते हुए दिए देखकर दिव्य अनुभूति होती।फिर हम माँ के पीछे पीछे घर चले आते। उसके कन्धे पर भीगे अखरोटों से भरा परंतु जल विहीन कलश देख हम बेसब्री से अखरोटों का प्रसाद पाने की घड़ी को निकट आता देखते।

इस अमावस्या को अखरोट रूपी प्रसाद मिलने के कारण ही 'डून्य- मावस' यानी अखरोट-अमावस्या कहते हैं।

माँ जब घर पहुँचतीं। अंदर से घर का दरवाज़ा बंद किया जाता। माँ दरवाज़ा खटखटाती :

'ठुख ठुख''

भीतर से आवाज़ आती : ' कुस छुव.. कौन है?'

'राम ब्रोर...राम भैरव!' माँ उत्तर देतीं।

भीतर से पूछा जाता- ''क्या ह्यथ ..क्या लेकर आए हो?''

''अॅन ह्यथ...अन्न लेकर
''धन ह्यथ.... धन लेकर ..
''आय ह्यथ ...दीर्घायु लेकर ..
''माय ह्यथ ...प्रेम लेकर ..
''स्वख ह्यथ ...सुख लेकर ..
''शांति ह्यथ ... शांति लेकर ...
''स्वबोद ह्यथ ..सुबुद्धि लेकर ...
''मान ह्यथ ..सम्मान लेकर ...
''ज्ञान ह्यथ ..ज्ञान लेकर ...
''प्रूग ह्यथ ... सगन लेकर...
''न्यर्रूग ह्यथ ..आरोग्य लेकर...
''भक्ति ह्यथ ... भक्ति लेकर...
''शक्ति ह्यथ ... शक्ति लेकर...
''पोतॅर गाश....संतति लेकर...
''शतरन नाश...शत्रु नाश लेकर...''

हम बच्चे यह नाटकीय दृश्य और देव-आशीर्वचन सुनकर चमत्कृत होते। फिर दरवाज़ा खुलता। और पहले से तैयार रखी चावल के आटे की रोटी के साथ अखरोट मिलते। नदः (कमल नाल) के तले हुए चिप्स मिलते।

मुहल्ले भर म अखरोट और नानवायी की रोटी प्रसाद के रूप मं बंटती। और कई बार यदि पडोस की किसी महिला ने रास्ते या गली म प्रसाद के अखरोट घर ले जाने के लिये दिए तो हमारी चाँदी हो जाती।वे अखरोट हम गली म ही तोड़कर खा जाते।

कई बार तो फिरन के भीतर तापी हुई कांगडी की आंच पर हम सूखे अखरोट भुनते और उनके जले छिलके उतार भुनी हुई गिरियां खाते।

एक अन्य दिलचस्प घटना यह होती कि शाकाहारी पदार्थों के अलावा मांस मछली का भोग तो चढता ही चढता, नदरू और शिकार अथवा पछिन भी पकता।कभी कभी 'अंज़' अथवा हंस भी।

बाज़ार म तरह-तरह के पछिन इस अवसर पर खूब बिकते। पछिन साइबेरिया आदि सुदूर देशों से कश्मीर के होखर सर आदि म नाना किस्म के प्रवासी पंछियों को कहते हैं। इन्ह कश्मीरी हिंदु और मुसलमानों दोनों चाव से खाते। पछिन चाहे

निलुज हो, थुज हो, ब्रग आदि किसी भी प्रजाति का पाखी हो,उसका मांस लज़ीज़ होता है। उसके रंगीन रेशमी पंखों को हम छूकर आह्लादित होते।

क्या दिन थे वे भी जब हेरथ के दिनों कुम्हारन, जो प्रायः मुसलमान होतीं, वटुक के तमाम छोटे बड़े मटके, डुलजियां, सकोरे, दिए और घास की लडियां बेचने आतीं और उनकी आरती उतारी जाती।

आज जब कुछ तथाकथित महान लोग ऐसी सुसभ्य और संस्कृति निष्ठ तथा सहिष्णु कश्मीरी पंडितों की उनके साथ हुए जिहादी हिंसाचार की उनकी हकीकत बयानी से बिदक जाते हैं, उन्हें साम्प्रदायिक और प्रतिक्रियावादी जैसे तमगे देकर अपने को सेक्युलर साबित करने लग बैठते हैं तो उनपर दया आती है। दुख और पीड़ा होती है।

ऐसे महान लोग क्या जान कि हेरथ की तालरात्रि, कालरात्रि, रागरात्रि तथा समस्त शिवरात्रियों की पारम्परिक पूजा अनुष्ठान वाले कश्मीरी पंडित हेरथ के दूसरे दिन यानी महाशिवरात्रि अथवा शिवचतुर्दशी को कश्मीर म 'सलाम' कहते थे। इस दिन सौहार्द वश उनके मुस्लिम पडोसी अथवा मित्र उनके यहाँ हेरथ की शुभकामनाएं देने आते। उन्ह सलाम कहते। उनके यहाँ दावत खाते।

दिनभर मुहल्ले भर म शहनाई बजाने वाले आते, हेरथ मुबारक कहते। बख्शीश ले जाते। भिखमंगे, नाई, सफाईकर्मी सब एक एक कर चले आते। सलाम कहते। दुआएं देते।

कालांतर म महाशिवरात्रि का नाम है सलाम पड़ा और लोक स्वीकृति भी पा गया।

मुझे याद है मैं जब इस दिन 'सलाम' सुनता तो दरिया किनारे डूंगों -नावघरों के खलते वे मुस्लिम बच्चे याद आते जो नौका विहार कर रहे विदेशी सैलानियों को देखकर अपना काम धाम छोड़कर चिल्लाने लगते :

मीम साहब सलाम! पतॅ पतॅ गुलाम।

अर्थात् सलाम मेम सॉब, हम आपके अनुगामी गुलाम हैं।

और इस तरह आठ दिन के बाद 'तील ऑठम' यानी तैल अष्टमी को आँगनों म या नदी घाट पर उतरकर जब रस्सी से घर की पुरानी टूटी-फूटी कांगडियों को हवा म चक्कर घिनी कटवा कटवाकर जलाई जातीं तो वास्तव म उसी दिन जाडे की इति और हेरथ की तेईस दिन तक चलनेवाले वाले इस पर्व की समाप्ति होती।

सब लोग एक दूसरे से कहते-'वारॅकारॅ ...वारॅकारॅ!'

अर्थात् ईश्वर की दया से सब ठीक से संपन्न हुआ। सकुशल।

वारॅकारॅ!

नगरवधुओं के घुंघरुओं से पूरी रात झंकृत होते महाशमशान में एक नयी परम्परा का आरम्भ

अंकिता खत्री

उतकोशिका एवं कलाविध, वाराणसी

काशी दुनिया का सबसे अनोखा शहर है। यहाँ के रीति-रिवाज़, तीज-त्यौहार, व्रत-अनुष्ठान, दर्शन-नहान, खान-पान सब अनूठा है। इस दुनिया के सबसे पुराने जीवित और जीवंत शहर की हर बात निराली है। भारत की यह जगसिद्ध, प्रसिद्ध प्राचीन काशी नगरी गंगा के वाम (उत्तर) तट पर उत्तर प्रदेश के दक्षिण-पूवी कोने म वरना और असि नदियों के गंगासंगमों के बीच बसी हुई है। इस स्थान पर गंगा ने प्रायः चार मील का दक्षिण से उत्तर की ओर घुमाव लिया है और इसी घुमाव के ऊपर यह नगरी स्थिति है। विश्व के सर्वाधिक प्राचीन ग्रंथ ऋग्वेद म काशी का उल्लेख मिलता है - ''काशिरित्ते.. आप इवकाशिनासंगृभीताः''।

पुराणों के अनुसार यह आद्य वैष्णव स्थान है। पहले यह भगवान विष्णु (माधव) की पुरी थी। जहां श्रीहरि के आनंदाश्रु गिरे थे, वहां बिंदुसरोवर बन गया और प्रभु यहां बिंधुमाधव के नाम से प्रतिष्ठित हुए। महादेव को काशी इतनी अच्छी लगी कि उन्होंने इस पावन पुरी को विष्णुजी से अपने नित्य आवास के लिए मांग लिया। तब से यह 'आनंद-कानन' काशी उनका निवास-स्थान बन गया। शिव की इस नगरी म अनेक परम्पराएं स्थापित हुईं। सैकड़ों साल पुरानी परम्पराओं म कुछ तो समय चक्र के साथ समाप्त हो गयीं, लेकिन बहुत-सी आज भी काशीवासियों के प्रयासों द्वारा बची हुई हैं। जिनके सम्बन्ध यहाँ के घाटों, देवालयों, कुण्ड और तालों से हैं। उनम से एक ऐसी अद्भुत परंपरा है जो लगभग 350 वर्षों से मणिकर्णिका घाट पर मनाई जा रही है। मणिकर्णिका घाट काशी के प्राचीनतम घाटों म से है,, जिसे 'मोक्ष के द्वार' के रूप म भी संबोधित किया जाता है। एक मान्यता के अनुसार माता पार्वती जी के कर्ण-मणि-फूल यहाँ स्थित कुण्ड म गिर गये थे, जिसे ढूढने के लिए भगवान शंकर जी स्वयं इस कुण्ड म उतर पड़े, जिस कारण इस स्थान का नाम 'मणिकर्णिका' पड़ गया। एक दूसरी मान्यता के अनुसार भगवान शंकर जी द्वारा माता पार्वती जी के पार्थिव शरीर का अग्नि संस्कार इसी स्थान पर किया गया था, जिस कारण इसे 'महाशमशान' कहते हैं। आज भी यहाँ चारों पहर अहर्निश दाह संस्कार किया जाते हैं। प्राचीन ग्रन्थों के अनुसार मणिकर्णिका घाट का स्वामी वही चाण्डाल था, जिसने सत्यवादी राजा हरिशचंद्र को खरीदा था। उसने राजा को अपना दास बना कर उस घाट पर अन्त्येष्टि करने आने वाले लोगों से कर वसूलने का काम दे दिया था। इस घाट की विशेषता ये हैं कि यहाँ लगातार हिन्दू अन्त्येष्टि होती रहती हैं और इस 24 घंटे जागृत घाट पर चिता की अग्नि लगातार जलती ही रहती है, कभी भी बुझने नहीं पाती।

मोक्ष की नगरी काशी, जहाँ यह मान्यता है कि शरीर छोड़ते समय इंसान के कानों म स्वयं भगवान् शिव तारक मंत्र सुनाते हैं, जिससे वो व्यक्ति जन्म-मरण के चक्र से छुटकारा पा जाता है.। यहाँ मोक्ष प्राप्त करने खुशी शव ले जाते

वक्त रास्ते म नाचते गाते परिजनों और नगाड़ों के ढोल म देखी और सुनी जा सकती है। उसी मणिकर्णिका घाट पर ही महाशमशाननाथ मंदिर है, जो स्थानीय लोगों म 'मसान बाबा' के मंदिर के रूप म प्रचलित है। वहाँ हर वर्ष चौत्र नवरात्र की सप्तमी को, इन्ही जलती चिताओं के मध्य, एक अनूठे रिवाज़ के अनुसार नगरवधुएं पूरी रात नृत्य किया करती हैं। मुझे यह बात बहुत आश्चर्यजनक लगी। यह जानकारी मिलने के बाद भी मुझे वहाँ जाने म एक हिचक-सी होती थी। हर साल चौत्र नवरात्र की सप्तमी आती और बीत जाती, अगले दिन समाचार पत्रों म इसके बारे म पढ़ती और हमेशा यही सोचती कि मैं उस अद्भुत परिदृश्य से साक्षात्कार करने कैसे वहाँ पहुँच पाऊंगी।

आज से कुछ वर्ष पूर्व आखिर मैं हिम्मत कर वहाँ पहुँच ही गयी और देखा कि मणिकर्णिका घाट के बगल म जलासेन घाट पर एक भव्य मंच सजा है और वो पूरा स्थान दर्शकों से खचाखच भरा हुआ है। ये मौक़ा था हर साल होने वाले तीन दिवसीय महाश्मशान महोत्सव की आखिरी निशा का। लोग कार्यक्रम के आरम्भ होने की प्रतीक्षा कर रहे थे। मैं अभी उस माहौल का हिस्सा बनने का प्रयत्न कर ही रही थी कि अचानक मणिकर्णिका स्थित महाशमशाननाथ मंदिर म 'हर हर महादेव' का उद्घोष होने लगा। मैं कौतुहलवश उधर की तरफ चल पड़ी। रास्ते म सुना कि लोग कह रहे थे, 'नगरवधुएं आ गयी हैं', 'नगरवधुएं आ गयी हैं'। मैने मंदिर म प्रवेश किया, वहां एक तरफ आरती की तैयारी हो रही थी, वहीं दूसरी तरफ डोमराज की मढ़ी के नीचे बने इस मंदिर म नगरवधुएं महाशमशाननाथ बाबा को रिझाने के लिए घुंघरूओं की झंकार बिखेरने को तत्पर दिख रहीं थी। मैं वहीं बैठ गयी। नगरवधुओं ने मंदिर की भव्य आरती के उपरान्त प्रथम नृत्यांजलि महाशमशाननाथ बाबा के दरबार म दी। बाबा के भजन श्बम-बम बोल रहा है काशीश के बोल पर अपने नृत्य से उनकी अराधना की। फिर मणिकर्णिका घाट म जलती चिताओं के मध्य से लगभग डेढ़ दर्जन नार्तकियां मंच पर जा पहुंची। उसके उपरान्त शुरू हुआ संगीत और नृत्य का ऐसा दौर, जो पूरी रात चलता रहा। मुझे महसूस हुआ कि मानो महाशमशान म अपने परिजनों के मृत शरीर को लेकर पहुंचे लोगों के मन के विराग को इन नगरवधुओं के घुंघरूओं की झंकार जीवन के राग म परिवर्तित कर रही थीं। एक तरफ धधकती चिताओं की लपट थीं तो दूसरी तरफ तबले की थाप और घुंघरूओं की झंकार, जो मोक्ष की नगरी काशी म अपनी इस पुरानी परम्परा की लौ धधका रही थी। मुझे धीरे-धीरे 'काशी म 'मौत भी एक उत्सव है' के मायने समझ म आने लगे। महाशमशान घाट पर सजने वाली संगीत साधना की इस महफ़िल की प्रसिद्धी इतनी हो गई है कि चौत्र नवरात्र की सप्तमी को स्वतः ही देश के अन्य स्थानों से नगरवधुएं इस मान्यता के साथ यहाँ उपस्थित हो कर बाबा को अपनी हाज़री देती हैं कि अगर वो यहाँ बाबा महाशमशाननाथ के दरबार म नृत्य साधना करगी तो उनका अगला जन्म इस नारकीय रूप म नहीं होगा और वो भी सम्मानित जीवन व्यतीत कर सकगी। इसी वज़ह से आज हर नगरवधु यहां नृत्यांजलि देना अपना सौभाग्य समझती हैं।

फिर मैं हर साल वहाँ जाने लगी। लेकिन मैंने महसूस किया कि साल-दर-साल वहाँ दी जाने वाली इस नृत्यांजलि का स्तर गिरता जा रहा है। मैंने सुना था कि धधकती चिताओं के बीच ये मशान कलांतर म नामी कलाकारों की कला का साक्षी रहा। एक समय ऐसा भी था जब इसी मंच पर बड़ी मैना, छोटी मैना, रसूलन बाई जैसी नृत्यांगनाएं भी बाबा को रिझाने के लिए घुंघरूओं की झंकार से होड़ किया करती थीं। लेकिन आज के बदलते दौर म नगरवधुओं द्वारा नृत्य गायन की उस शास्त्रीय परम्परा, जिससे आज भी बनारस संगीत घराना सुशोभित होता है, यही वो संगीत है जो नटराज को प्रसन्न करता है और उनके नृत्य से उद्भूत है, का प्राकट्य नहीं हो पा रहा है। जबकि परम्परा

इस बात की थी कि उस नटराज के प्रसाद को ही उनके समक्ष अर्पित किया जाये। मुझे निराशा हो रही थी। ये नगरवधुएं अपनी ही बनाई उस वैभवशाली संगीत परम्परा के आस-पास भी नहीं थीं और मुझे उनका पूरा नृत्य प्रदर्शन बार-बालाओं द्वारा ग्राहक को रिझाने जैसा प्रतीत हो रहा था। मैंने इस परम्परा का इतिहास जानने के लिए महाशमशाननाथ मंदिर के व्यवस्थापकों से बात की, जो विगत कई वर्षों से इस परम्परा को जीवित रखने के लिए प्रयासरत हैं। उन्होंने विस्तार से बताया कि महाशमशान म उत्सव की इस परम्परा के पीछे एक कहानी है। पंद्रहवीं शताब्द्धी म आमेर के राजा मानसिंह मान महल का निर्माण करवा रहे थे,, उसी समय उन्होंने पौराणिक मणिकर्णिका घाट पर स्थित भूत भावन भगवान शिव के महाशमशाननाथ मंदिर का जीर्णोधार कराया। यह वो समय था जब मंदिर, मठ, आश्रम आदि के निर्माण या पुनर्निर्माण के उपरान्त भजन, संगीत आदि कराने की परम्परा थी। अतः राजा मानसिंह ने जीर्णोद्धार के बाद मणिकर्णिका घाट पर भी संगीत का कार्यक्रम करने की इच्छा व्यक्त की। उस काल म रुढीवादी मानसिकता म लिप्त स्थापित कलाकारगण महाशमशान म आ कर कार्यक्रम प्रस्तुत करने की हिम्मत नहीं जुटा सके। तब नगरवधुओं ने राजा से स्वयं मणिकर्णिका जाकर नृत्यांजलि प्रस्तुत करने का आग्रह किया। राजा ने इस आवेदन को स्वीकार कर लिया और नृत्यांगनाओं ने उस संगीत समारोह म बढ़-चढ़ कर शिरकत की। जिससे उन्ह अत्यंत प्रसंशा प्राप्त हुई। महाशमशान घाट पर संगीत कार्यक्रम के आयोजन करने की चुनौती को नगरवधुओं द्वारा स्वीकार करने के बाद यह समारोह प्रत्येक वर्ष आयोजित किया जाने लगा और शनैः शनैः एक परम्परा म तब्दील हो गया। यहाँ नगरवधुओं को काफी सम्मान मिलने लगा। प्रारम्भ म यह संगीत की महफ़िल चौत्र नवरात्रि म नौ दिनों तक आयोजित की जाती थी। समय के साथ इसम बदलाव हुए और कुछ वर्षों पूर्व यह तीन दिन और वर्तमान म चौत्र नवरात्रि की सप्तमी के दिन आयोजित की जाती है।

मैंने कथासार सुनने के उपरान्त यह निष्कर्ष निकला कि पंद्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी के सामाजिक परिवेश म स्थापित कलाकार का महाशमशान न जाना समझ म आता है। लेकिन आज वो क्यों नहीं यहाँ आ सकता और कार्यक्रम म अपनी प्रस्तुति कर सकता है? मेरे विचार से यही एक तरीका था इस आयोजन के स्तर को संवारने का और संगीत को पुनः वह गरिमामयी स्थान वापस दिलवाने का। मैंने आयोजकों से अपने विचार साझा किये। उन्होंने खुशी-खुशी अपनी सहमति दी और महाशमशान सेवा समिति द्वारा हर संभव सहयोग का आश्वासन दिया। अब मुख्य बात थी कि किस कलाकार द्वारा नयी परम्परा म सहयोग के लिए आग्रह किया जाए। मैंने तुरन्त पद्मश्री सम्मान से सम्मानित सुश्री सोमा दी से इस विषय म बात की। भारतरत्न उस्ताद बिस्मिल्लाह खान जी की मानस पुत्री सोमा घोष जी तवायफों और कोठों से निकले दादरा, ठुमरी आदि बनारस घराने के संगीत को पुनः स्थापित करने का कार्य कर रही हैं और मैं आपके साथ 'दरबारी महफ़िल', 'परम्परा' आदि आयोजन श्रृंखला म जुड़ी हुई हूँ। उन्होंने इत्मीनान से पूरी बात सुनी और सहर्ष इस आवेदन को स्वीकार कर लिया। फिर शुरू हुआ नए इतिहास के सृजन का सिलसिला। इस दौरान कई बार हम सब साथ मिले और प्रसिद्ध फिल्म निर्माता शुभांकर घोष जी की सहायता से कार्यक्रम की विस्तृत रूप रेखा तैयार की। आखिर वो दिन आ गया, जब नगरवधुओं को उनकी वैभवशाली परम्परा से अवगत करना था। इस वर्ष (सन् 2016) महाशमशाननाथ बाबा के श्रृंगार उत्सव म पहली बार एक स्थापित कलाकार के रूप म शिव भक्त सोमा घोष जी ने अपनी प्रस्तुति दी और अपने आवाज के जादू से सभी को मंत्रमुग्ध कर दिया। सोमा दी ने 'हर हर महादेव' की ध्वनि से कार्यक्रम की शुरुआत की। इसके बाद 'काली स्त्रोत', 'शिव तांडव' और 'महादेव ध्वनि' पर महाशमशाननाथ

बाबा को रिझाया और श्रद्धालुओं को झुमाया। नर्तकियों के लिए भी ऐसा सुशोभित मंच मिलना मानो उनके जीवन की सबसे बड़ी सौगात-सा था। सोमा दी की सुर सरिता म सराबोर नगरवधुओं के पांव के घुंघरूओं ने उस रात ऐसा खूबसूरत समा बांधा कि संगीत और धधकती चिताओं के बीच शोक और उल्लास का अनूठा समन्वय देखते ही बनता था। शव लेकर आए लोग भी इस धारा म बहे बिना न रह सके। इस श्रृंगार उत्सव, जहाँ प्रथम बार कोई महिला संगीत साधिका सबको अपने सुरों से सराबोर कर रहीं थीं, मुझे इस आयोजन के सञ्चालन का सौभाग्य प्राप्त हुआ। इस ऐतिहासिक पहल से अभिभूत और इस नर्क जीवन से मुक्ति पाने की लालसा म पूरी रात नगरवधुओं ने डूब कर नृत्य किया। इस दौरान महाशमशान घाट पर लोगों का हुजूम उमड़ पड़ा था। एक ऐसा आयोजन जहाँ कभी महिलाएं नहीं जाती थीं और सभ्रांत परिवार के लोग जाने से हिचकते थे, वहां काशी के जिलाधिकारी सपत्निक और मुख्य विकास अधिकारी आदि कई गणमान्य व्यक्तियों ने अपनी उपस्थिति से हम सबका हौसला बढ़ाया और संगीत नृत्य की इस अनोखी प्रस्तुति से आनंद विभोर हुए।

देश की सांस्कृतिक राजधानी काशी म एक नयी परम्परा की शुरुआत करना संतोषप्रद था। तब से हर वर्ष यह अनोखी परम्परा अपने वैभवशाली स्वरुप म इसी प्रकार आयोजित की जा रही है। हालाँकि इस वर्ष कोरोना आपदा के कारण यह परम्परा नहीं आयोजित की जा सकी लेकिन मैं विश्वास करती हूँ कि भविष्य म हम सबकी यह पहल और निखर कर सामने आयगी और विश्व पटल पर काशी के संगीत, नृत्य और परम्पराओं का मान संवर्धन करेगी।

कथक नृत्य में संगीत और साहित्य की भूमिका पद्मविभूषण पं. बिरजू महाराज, गुरु राजेन्द्र गंगानी, विदुषी शास्वति सेन और विदुषी वास्वति मिश्रा से की गई बातचीत के महत्वपूर्ण अंश

रक्षा सिंह

कथक नृत्यांगना, दिल्ली

कथक जो कि उत्तर भारत का एक मात्र शास्त्रीय नृत्य है, कि बात करें तो ये कहना अनुचित नहीं होगा कि कथक शब्द का परिचय ही संगीत और साहित्य द्वारा हुआ है। क्योंकि कथक का सूत्र वाक्य ही है-

कथा कहे सो कत्थक कहावे- और जहां कथा है वहीं साहित्य है और इसे रोचक व आकर्षक बनाने के लिए एक ओर संगीत का सहारा लिया जाता है तो दूसरी ओर उसके अर्थ और भावों को स्पष्ट करने के लिए अभिनय का.... नृत्य का....। कथक नृत्य की पूर्णता और सम्पूर्णता की बात ही हम तब तक नहीं कर सकते जब तक उसके साथ संगीत और साहित्य न जुड़े। कथक नृत्य अपने आरम्भिक चरण से ही संगीत और साहित्य के साथ जुड़ी रही है क्योंकि तब भी कथाओं का प्रस्तुतीकरण एवं प्रदर्शन संगीत के माध्यम से किया जाता था। बदलते समय के साथ-साथ कथक नृत्य के प्रस्तुतीकरण में भी काफी बदलाव आया। भक्ति से ओत-प्रोत कथक नृत्य ने मुगल काल में श्रृंगारिता को अपने में समाहित करते हुए आधुनिक दौर में प्रवेश किया। हर काल खण्ड में इसकी रूपरेखा जरूर बदली परन्तु संगीत व साहित्य के साथ इसका समन्वय आज भी देखने को मिलता है। इसी विषय पर लिए गए साक्षात्कार के कुछ महत्वपूर्ण अंश।

कथक नृत्य में विभिन्न साहित्यिक रचनाओं का प्रयोग

- पद्मविभूषण पं. बिरजू महाराज जी के विचार-

महाराज जी ने कथक में संगीत की महत्वता को समझाते हुए यह बताया कि कथक नृत्य में तबला या पखावज वादक अगर बहुत अच्छी तरह संगत करें तो कथक कलाकार व दर्शक दोनों को आनंद की अनुभूति होती है, वरना पूरे कार्यक्रम में एक अशांति सी फैली रहती है। उसी तरह नग़मा या लहरा भी कथक की प्रस्तुति में काफी महत्वपूर्ण होता हैं। क्योंकि कथक कलाकार जिस आधार पर लयकारी या बोल-बंदिश को प्रस्तुत करता है वह आधार या वह ज़मीन नग़मा या लहरा के द्वारा रखी जाती है। तबले और नग़में की संगति के बाद महाराज जी ने गायक संगत कलाकारों के विषय में बताया कि अच्छी-सुरीली आवाज़ व शब्दों के शुद्ध उच्चारण से नर्तक के अभिनय में चार-चांद लग जाता है। कथक में संगीत के महत्व को समझाते हुए महाराज जी ने नग़मे के रूप में बजने वाले शास्त्रीय रागों के चयन की ओर भी प्रकाश डाला, कि रागों का असर नर्तक के चेहरे व उसके भाव पर दिखाई देता है।

संगीत के उपरान्त कथक और साहित्य के संबंध के विषय में महाराज जी ने बताया कि अभी भी उनके गांव में कुछ पारंपरिक कथावाचक बचे हैं जो लोग रामायण व महाभारत की चौपाइयों को गा-गाकर प्रस्तुत किया करते थे जिसमें नृत्त पक्ष बहुत कम होता था। बदलते समय के अनुसार कथक की रूपरेखा बदली और फिर मुगलकाल में कथक नृत्य में भजन, ध्रुवपद के साथ -साथ गीत, गजल, ठुमरी, दादरा, तराना आदि साहित्यिक रचनाओं के प्रयोग भी होने लगे जिससे कथक नृत्य का अभिनय पक्ष और ज्यादा समृद्ध व विस्तृत हो गया। वर्तमान समय में कथक नृत्य की प्रस्तुतीकरण की रूपरेखा ऐसी है जिसमें संगीत और साहित्य का एक महत्वपूर्ण स्थान है जो कथक की अभिवृद्धि में बहुत सहायक है।

कथक नृत्य की अपनी भी एक अलग भाषा है

- विदुशी शास्वति सेन से की गई भेंटवार्ता

संगीत तो कथक नृत्य का एक अभिन्न अंग है इसमें कोई शक नहीं है लेकिन कथक नृत्य की अपनी एक अलग भाषाा है, स्वसाहित्य है जो कलाकार के मनोभावों को व्यक्त करने की क्षमता रखती है। अगर नृत्य हमारा माध्यम है तो इसके ही भाषाा का इस्तमाल हमें सबसे ज्यादा करनी चाहिए। साहित्य या संगीत के प्रयोग से नृत्य की अभिव्यक्ति थोड़ा और सरल हो जाता है लेकिन साहित्य और संगीत के बहुतायत में प्रयोग होने से कथक नृत्य का एक सादापन या शुद्धता खोने लगती है। कथक की शुरुआत जरूर कथावाचन से हुई परन्तु बदलते कालखण्ड में इसकी शक्ल काफी बदली है, और जब से यह प्रस्फुटित हुआ, अपने निखार पर आया और लय-ताल के साथ एक विशेष सामंजस्य हुआ तो इसकी जो आज रुपरेखा हमें दिखाई देती है वह अपने आप में सम्पूर्ण है अथवा अपनी अभिव्यक्ति किसी भी माध्यम से करने में सक्षम है। इसी कथन की पुष्टि करते हुए एक उदाहरण भी दिया कि ''जब विदेशों में या ऐसी जगह जहॉ साहित्य की भाषा को दर्शक समझ पाने में असमर्थ होते हैं वहॉ वे नृत्य की भाषा के द्वारा ही पूरे प्रदर्शन का आनंद ले लेते हैं।''नृत्य की भाषा यानि अंगाभिनय और मुखाभिनय द्वारा नर्तक व नर्तकी अपने मनोभावों को व्यक्त करने में पूरी तरह सक्षम होतें हैं और जब संगीत और साहित्य के द्वारा इन्हें सजाया व संवारा जाये तो कथक और ज्यादा समृद्ध हो जाता है। आम लोगों तक अपनी बात पहुंचाने में कलाकारों को मदद मिलती है।

अच्छे संगत से रंगत

गुरू राजेन्द्र गंगानी

इस संदर्भ में गुरु राजेंद्र गंगानी जी का कहना है कि जिस प्रकार ईश्वर ने नर के लिए नारी को बनाया उसी प्रकार हर चीज के लिए ईश्वर ने एक सहायक भी बनाया। या यूं कहें कि जिस प्रकार नारी पुरुष को पूर्ण करती है इसी प्रकार संगीत व साहित्य नृत्य को। कथक नृत्य के सहायक संगीत के अंतर्गत गायन व वादन दोनो होते हैं। अगर कथक कलाकार को एक सुरीला संगीत व सहायक संगतकार न मिले तो कार्यक्रम नीरस हो जाता है और कभी-कभी तो असफल भी। इसी बात को उन्होंने इस प्रकार भी कहा कि अगर अच्छा संगत हो तो रंगत भी आ जाता है।

साहित्य के विषय में इनका कहना है कि नृत्यकार साहित्य को आधार बनाकर अपनी कल्पनाओं की उड़ान भरता है। साहित्य की महत्वता को कुछ इस प्रकार व्यक्त किया कि 'शब्दों के वाण ज्यादा प्रबल होते हैं जो मन को जाते हैं।' शब्द अर्थात् साहित्य का हृदय पर एक गहरा असर पड़ता। कथक नृत्य में तुलसीदास, मीराबाई, सूरदास, बल्लभाचार्या, शंकराचार्य आदि द्वारा रचित साहित्यिक रचनाओं के साथ-साथ कथक कलाकारों द्वारा सृजित इसका स्वसाहित्य भी उतना ही महत्वपूर्ण है जिसे तबला, पखावज, कविता आदि के बोलों से अलंकृत किया जाता है।

संगीत और साहित्य कथक नृत्य का एक अभिन्न अंग है

विदुशी वास्वति मिश्रा से की गई भेंटवार्ता

कथक नृत्य की प्रस्तुति में सहायक संगीत और साहित्य दोनों का ही एक विशेष स्थान है।यह दोनों ही कथक नृत्य के अभिन्न अंग है। जब हम कथक नृत्य के प्रस्तुतीकरण की बात करते हैं तो ये बहुत महत्वपूर्ण हों जाता है कि हम किस तरह के वाद्यों और रागों का चयन करें, अथवा किस प्रकार के साहित्यों का चयन करें। चाहें हम स्तुति- भजन के रुप में देखें या ठुमरी, दादरा, कवित्त के रूप में या फिर कजरी,चैती अथवा ख्याल के रुप में देखें, इन्हें प्रस्तुत करते समय शास्त्रीयता के साथ इनकी गरिमा का भी ध्यान रखना चाहिए। इस प्रकार की बंदिशों या रचनायों का चयन करना चाहिए, जो कलाकार के नृत्य को और ज्यादा सुन्दर व सदृढ़ बनाये, कलाकार के व्यक्तित्व को और निखारे। चैती- दादरा जैसे चंचल प्रकृति की रचनाओं को प्रस्तुत करते समय उसकी शास्त्रीयता की गरिमा का ध्यान चाहिए। चैती, कजरी, दादरा आदि जैसी गायन शैलियों को कथक में प्रस्तुत करते समय एक संयम रखना जरूरी है, जिससे कि नृत्य की शास्त्रीयता कायम रहे। कथक और साहित्य के अंतर्संबन्धों के विषय में विदुशी वाश्वति मिश्रा जी बताती हैं कि चूंकि कथक की शुरुआत ही कथा से हुई है, अतः साहित्य और कथक एक दूसरे के पूरक हैं। लेकिन कलाकारों को एक विशेष ध्यान रखने की आवश्कता है कि कोई भी दो या दो से अधिक विद्याओं को जब हम मिलाते हैं तो दोनों के साथ न्याय होना चाहिए और यह घ्यान देने की आवश्यकता है कि यह एक दूसरे पर हावी न हो। नृत्य की अपनी जगह है और साहित्य की अपनी, दोनों एक दूसरे की खूबसूरती को बढ़ाते हुए अगर आगे बढ़े तो अच्छी बात है। कभी-कभी कथक नर्तक का तकनीकि पक्ष साहित्य की खुबसूरती को उभारने के बजाय उसे दबा देता है और कभी किसी के कथक प्रस्तुति में साहित्य इतना प्रबल हो जाता है कि नृत्य की संभावनाए कम हो जाती हैं। किस प्रकार दोनों का समन्वय होना चाहिए ये कलाकार को ध्यान में रखना जरूरी है। साहित्यिक रचनाओं के चयन के विषय में भी इनका कहना है कि ऐसी रचनाओं का चयन करना चाहिए, जिनमें अभिनय की अभिव्यक्ति की गुंजाइश ज्यादा हो। वैसे तो नृत्य व संगीत की अपनी एक भाषा होती है जो किसी भी प्रकार के साहित्य को व्यक्त करने की क्षमता रखती है।

प्रकीर्णक

शैलेन्द्र के समकालीन गीतकार : राजेन्द्र कृष्ण और प्रेम धवन

डॉ. आशुतोष बाजपेयी

कलाविध, पश्चिमी चम्पारण

किसी भी गीत की लोकप्रियता में गीतकार की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। जनसामान्य तक गीत के बोल के माध्यम से सुस्पष्ट विचार का प्रकटीकरण करने का सामर्थ्य गीतकारों में होता है। गीतों में निहित विचार गीतकार की कलम से ही निःसृत होते हैं। इसके पश्चात् ही संगीत - निर्देशक द्वारा संगीत एवं धुन बनाने तथा गीतों को भावपूर्ण ढंग से सजाने की जिम्मेदारी होती है। फिर गायक, गायिका अपने - अपने सुरों के माध्यम से गीतों को जन - जन के कण्ठों में बसाते है।

ऐसे ही अपने सुस्पष्ट विचारों को गीतों के माध्यम से प्रकट करने वाले शब्द शिल्पी एवं शैलेन्द्र के समकालीन दो गीतकार के सम्बन्ध में जानकारी दी जा रही है जिनकी रचनाओं से आज भी जनता अह्लादित हो रही है -

1.राजेन्द्र कृष्ण

राजेन्द्र कृष्ण का जन्म 06 जून, 1919 को जिला पंजाब के अंतर्गत जलालपुर (अब पाकिस्तान) में हुआ था। इनके पिताजी का नाम जगननाथ दुग्गल एवं माताजी का नाम पार्वती देवी था। पढ़ाई - लिखाई के पश्चात् ये अपने बड़े भाई माधोलाल के पास शिमला आ गए। वहीं वे नगरपालिका में क्लर्क की नौकरी करने लगे। उर्दू शायरी को जानने के लिए इन्होंने फैज और फिराक के बारे में काफी पढ़ा, वहीं दूसरी ओर, हिन्दी कविता को जानने के लिए पंत और निराला की कविताओं का भी गहन अध्ययन किया। साथ ही, इन शायरों एवं कवियों से ये काफी प्रभावित हुए। राजेन्द्र जी नौकरी छोड़कर फिल्मों के गीतकार बनने के लिए परिवारवालों की इच्छा के विरूद्ध 1942 में बम्बई आ गए। यहाँ आकर इन्हें काफी संघर्ष करना पड़ा। यहाँ तक कि अपना खर्च जुटाने के लिए मोजे एवं रूमाल तक बेचने पड़े। अंततः 1947 में फिल्म "जनता" की पटकथा एवं दो गीतों को लिखने का मौका मिला। इन गीतों के बोल हैं - "गोरी घूंघट के पट खोल, देख तेरे साजन आए" और "आज मेरे प्यार का दिन"। फिल्म "आज की रात" के संगीतकार हुस्नलाल - भगतराम के द्वारा निर्देशित सभी गीतों के माध्यम से राजेन्द्र कृष्ण की पहचान एक अच्छे गीतकार के रूप में होने लगी। मोतीलाल और सुरैया इस फिल्म मे अभिनेता - अभिनेत्री थीं और आपने इस फिल्म के संवाद भी लिखे थे। फिल्म "नागिन" की पहचान, गीत - संगीत की बदौलत बनी थी। इसे धुनों से सजाया था - हेमंत कुमार ने। इसी फिल्म के गीत "मन डोले मेरा तन डोले" "मेरा दिल ये पुकारे आजा", "तेरी याद में जलकर देख लिया", "उँची-उँची दुनिया की", "जादूगर सैंया छोड़ो मोरी बैंया", "तेरे द्वार खड़ा इक जोगी", "जिन्दगी को देने वाले" आदि जन-जन के कंठों में जाकर बस गया। इसी प्रकार, 1957 में बनी फिल्म "मिस मैरी का गीत वृन्दावन के कृष्ण कन्हैया" काफी लोकप्रिय हुआ। 1965 में बनी फिल्म "सिकंदर-ए-आजम" का एक गीत जिसे मुहम्मद रफी ने गाया था "जहाँ डाल-डाल पर सोने की चिड़िया करती है बसेरा" आज भी लोगों के

बीच एक नये उत्साह, नया गौरव एवं देश के प्रति सम्मान का भाव जगाने में समर्थ है। इसी प्रकार, इसी वर्श बनी फिल्म "खानदान" का एक गीत "तुम्हीं मेरे मंदिर, तुम्हीं मेरी पूजा, तुम्हीं देवता हो" भारतीय नारी के आदर्श का जीवंत चित्रण प्रस्तुत करता है। इस प्रकार के शब्द-शिल्पी के रूप में गीतकार राजेन्द्र कृष्ण की एक विशिष्ट पहचान थी।

आपने "नागिन", "बरखा", "छाया", "मनमौजी", "नजराना", "ब्लफ मास्टर", "पूजा के फूल", "खानदान", "प्यार किए जा", "पड़ोसन", "साधु और शैतान", "बॉम्बे-टू-गोवा" आदि फिल्मों में संवाद-लेखन का भी काम किया। इन्होने लगभग तीन सौ फिल्मों में सक्रिय भागीदारी निभायी जिनमें दो सौ फिल्मों में सिर्फ गीत लिखे। शेश में गीत-लेखन एवं संवाद-लेखन का कार्य भी संपादित किया। इनका निधन 68 वर्श की आयु में 23 सितम्बर, 1987 को मुंबई में हुआ। इनके द्वारा लिखे गये कुछ लोकप्रिय गीतों का विवरण निम्नवत हैः-

क्र. सं.	गीत के बोल	फिल्म	निर्माण वर्ष	संगीतकार	गायक/गायिका
1.	चुप-चुप खड़े हो जरूर कोई बात है	बड़ी बहन	1949	हुस्नलाल-भगतराम	लता एवं प्रेमलता
2	बहारे फिर भी आयेंगी, हम तुम जुदा होंगे	लाहौर	1949	श्याम सुन्दर	लता मंगेशकर
3	मेरे पिया गए रंगून, किया है वहाँ से टेलीफून	पतंगा	1949	सी. रामचन्द्र	शमशाद एवं चितलकर
4	गोरे गोरे ओ बांके छोरे कभी मेरी गली	समाधि	1950	सी. रामचन्द्र	लता, अमीरबाई तथा साथी
5	धीरे से आज री अंखियन में निंदिया	अलबेला	1951	सी. रामचन्द्र	लता मंगेशकर
6	ये हवा ये रात ये चांदनी तेरी इक अदा पे	संगदिल	1952	सज्जाद हुसैन	तलत महमूद
7	ये जिंदगी उसी की है जो किसी का हो गया	अनारकली	1953	सी. रामचन्द्र	लता मंगेशकर
8	मन डोले मेरा तन डोले	नागिन	1954	हेमंत कुमार	लता मंगेशकर
9	कितना हसीं है मौसम कितना हसीं	आज़ाद	1955	सी. रामचन्द्र	लता एवं चितलकर
10	ऐ लिए मुझे बता दे, तू किस पे आ गया है	भाई-भाई	1956	मदन मोहन	गीतादत्त
11	ईना मीना डीका, डाइ डाम नीका	आशा	1957	सी. रामचन्द्र	किशोर कुमार एवं लता
12	चल उड़ जा रे पंछी कि अब ये देस हुआ बेगाना	भाभी	1957	चित्रगुप्त	रफी
13	छुप गया कोई रे दूर से पुकार के	चंपाकली	1957	हेमंत कुमार	लता मंगेशकर
14	कौन आया मरे मन के द्वारे	देख कबीरा रोय	1957	मदन मोहन	मन्नाडे
15	उनको ये शिकायत है कि हम कुछ नहीं कहते	अदालत	1958	मदन मोहन	लता मंगेशकर
16	भूली हुई यादों मुझे इतना न सताओ	संयोग	1961	मदन मोहन	मुकेश
17	तेरी आँखों के आँसू पी जाऊँ	जहाँ आरा	1964	मदन मोहन	तलद महमूद
18	तुम्हीं मेरी मंदिर तुम्हीं मेरी पूजा	खानदान	1965	रवि	लता मंगेशकर
19	जहाँ डाल डाल पर सोने की चिड़िया	सिकन्दर-ए-आजम	1965	हंसराज बहल	रफी एवं साथी
20	मेरे सामने वाली खिड़की में	पड़ोसन	1968	आर.डी. बर्मन	किशोर कुमार

एच. एम. वी. रिकार्डिंग कम्पनी ने इनकी श्रद्धांजलि में एक एल. पी. रिकार्ड निकाला था जिसमें इनके बारह गीतों को प्रस्तुत किया गया। इनके गीत "तुम्ही मेरे मंदिर, तुम्ही मेरी पूजा" के लिए आपको "फिल्म फेअर अवार्ड" से सम्मानित किया गया था।

2. प्रेम धवन

फिल्म में एक साथ कई विद्याओं पर पकड़ रखने वालों में से एक थे, प्रेम धवन। ये एक साथ गीतकार, संगीतकार, नर्तक और नृत्य-निर्देशक थे। इनका जन्म 13 जून, 1923 को अंबाला (हरियाणा) में हुआ था। एक गीतकार के रूप में प्रेम धवन ने अपना पहला गीत "सुनो मनुवा नैया ये मोसे और खेई नहीं जाए" फिल्म "धरती के लाल" के लिए 1946 में लिखा। स्नातक की डिग्री प्राप्त करने के पश्चात् ये नाट्य संस्था "इप्टा" से जुड़े और वहीं से इन्होनें फिल्म में प्रवेश किया।

राजकपूर की फिल्म "जागते रहो" का निर्माण 1956 में हुआ जिसमें बतौर गीतकार शैलेन्द्र थे, परंतु एक भांगड़ा गीत लिखने के लिए प्रेम धवन को आमंत्रित किया गया था, भांगड़ा के बोल था, "ते कि मैं झूठ बोलिया को ए ना" जिसे स्वर रफी एवं बलबीर ने दिया था। इनके द्वारा रचित एक भांगड़ा "खनके तो खनके क्यूँ खनके" फिल्म "बल्लाह क्या बात है" बहुत चर्चित एवं लोकप्रिय हुआ। 1965 में निर्मित "शहीद" फिल्म में इनके गीत "जोगी हम तो लुट गए तेरे प्यार में" ने काफी प्रसिद्धि पायी।

प्रेम धवन ने कई फिल्मों में संगीत भी दिया जिनमें (1965), "वीर अभिमन्यु", "वीर अमर सिंह", "राठौड़" तथा "फर्ज और खून" (1978) के अतिरिक्त कई पंजाबी फिल्मों में भी संगीत दिया था। साथ, ही "दो बीघा जमीन" (1953) नया दौर (1957) और "गूंज उठी शहनाई" (1959) में इन्होने निर्देशन भी किया था। भारत सरकार ने इन्हे "पद्मश्री" से भी सम्मानित किया था।

07 मई, 2001 को दिल का दौरा पड़ने से इनका आकस्मिक निधन हो गया। इनके कुछ लोकप्रिय गीतों का विवरण निम्नवत है :-

क्र. सं.	गीत के बोल	फिल्म	निर्माण	संगीतकार	गायक/गायिका
1	सीने में सुलगते हैं अरमां, आँखों में उदासी	तराना	1951	अनिल विस्वाश	तलत एवं लता
2	हल्के हल्के चलो साँवरे, प्यार की मस्त	तांगावाली	1955	सलिल चौधरी	हेमंत एवं लता
3	सब कुछ लुटा के होश में आए तो क्या किया	एकसाल	1957	रवि	तलत महमूद
4	दो रोज में वो प्यार का ऑलम गुजर गया	प्यार की राहें	1959	कानू घोश	मुकेश
5	छोड़ो कल की बातें कल की बात पुरानी	हम हिन्दुस्तानी	1960	उशा खन्ना	मंकेश एवं साथी
6	ऐ मेरे प्यारे वतन, ऐ मेरे बिछड़े चमन	काबुलीवाला	1961	सलिल चौधरी	मन्नाडे
7	तेरी दुनिया से दूर चले होके मजबूर	जबक	1961	चित्रगुप्त	रफी एवं लता
8	ऐ वतन ऐ वतन हमको तेरी कसम	शहीद	1965	प्रेम धवन	रफी एवं लता
9	ये परदा हटा दो जरा मुखरा दिखा दो	एक फूल दो माली	1969	प्रेम धवन	रफी एवं आशा भोसले
10	तेरी दुनिया से होके मजबूर चला	पवित्र पापी	1970	प्रेम धवन	किशोर कुमार

संदर्भ सूची

1. भार्गव अनिल, हिन्दी सिनेमा के गीतकार, पृष्ट, 154,156,158
2. वही पृष्ट 44
3. वही पृष्ट 46
4. भार्गव अनिल, हिन्दी सिनेमा के गीतकार, पृष्ट, 144 -147

Classical music and Film Music

Dr. S Seethalakshmi

Assistant Professor, Department of Music,
School of performing Arts and Fine Arts, Central University of Tamil nadu

Movies were the source for inculcating the interest towards Carnatic music and patriotism. In olden days, movies were the source for those actors who could sing well were selected and trained as actors. Famous carnatic musicians such as G.N. Balasubramnainam, V.V.Sadagopan, M.S.subbulakshmi, D.K. Pattammal, M.L. Vasantakumari, NC Vasanthakokilam, M.K.Tyagaraja Bhagavathar, Papanasam sivam,Balamuralikrishna, Sirkazhi Govindaraj, Kunnakudi Vaidyanathan, T.N. Seshagopalan, Sulamangalam sisters etc. have contributed to films by singing in classical carnatic music.

Some of the Carnatic music Raga introduced in Tamil Films are as follows:

S No	Title of the Song	Name of the Film	Carnatic Raga	Remarks
1	Thoongatha Vizhigal Rendu	Agni Natchathiram	Amrutavarshini	
2	Konjanaal poru thalaivaa	Aasai	Anandabhairavi	
3	Kumaari	Anniyan	Arabhi	
4	Aadal Kaaneero	Madurai Veeran	Cārukesi	
5	Malare Mouname	Karnaa	Darbari Kanada	
6	Paattum Naanae	Tiruvilayaadal	Gowri Manohari	
7	Sri Ranga Ranganathanin paadam	Mahanadi	Hamsadvani	
8	Maargazhi Poove	May Madham	Hindolam	
9	Sundari Kanaal oru sethi Amma endrazaikaatha Janani Janani Mannavan Vandaanadi	Thalapathi Mannan Thaai Mookaambikai Thiruvarutchelvar	Kalyaani	
10	Sundari neeyum	Michael Madana Kaama Raajan	Kedaram	
11	Saukiyamaa Kanne	Sangamam	Maand	
12	Ninnu kori	Agni natchatiram	Mohana	
13	Manam virumbude	Naerukku Naer	Nalinakaanti	

	Endan nenjil	Kalaignan		
14	Ayyangaaru veetu azhage	Anniyan	Nata	
15	Azhagaana Ratchaseiye	Mudhalvan	Ritigaula	
	Chinnakannan Azaikiraan	Kavikuyil		
	Kangal Irandaal	Subramaniapuram		
16	Rukku Rukku	Avvai Shanmugi	Sahana	
17	Ennavale	Kaadalan	Sankarabharanam	
18	Kamalam	Mōga muḷ	Sarasvati	
19	En vittu thottathil	Gentleman	Senchurutti	Naada vindu Kaladhi namo
20	Maraindirunu Paarkum marumamenna	Tillaana Mohanambal	Shanmughapriya	
	Sollāyō vāitirandu	Moga Muḷ		
21	Innisai Alabedaye	Varalaaru	Suddha Dhanyasi	
22	Minsaara Kannaa	Padayappa	Vasanta	

Usually a Film song involves combination of 2 or more ragas to induce attention. Some of them are as follows:

S No	Title of the Song	Name of the Film	Carnatic Raga
1	Kannaamoochi	Kandukonden Kandukonden	Natakurinji and Sahana
2	Kannodu Kaanbadellaam	Geans	Aberi and SudddhaDanyasi

Indhiya Naadu En Veedu – Bharatha Vilas Movie. This patriotic tamil movie song conveyed that "All Indians are my brothers and sisters".

Conclusion:

Thus, Cinema is the source of inspiration to people where even people who had not learnt music gets to listen to the songs. If the classical songs are introduced to the public, this paves the pathway for the younger generation to listen to classical music and invoke the thirst to learn them.

राग ध्यान एवं राग-रागिनि चित्रों पर शोध की संभावनाएँ

डॉ. निशा पाठक

एसोसिएट प्रोफेसर–(संगीत)

कानपुर विद्यामंदिर, महिला महाविद्यालय, कानपुर

राग सांगीतिक कलाकृति है। भारतीय संगीत की आत्मा है। शास्त्रीय संगीत का प्रदर्शन राग में ही होता है। भारतीय संगीत में ही राग पद्धति पल्लवित हुई और वर्तमान तक इतनी समृद्ध और व्यवस्थित हो गई कि पूरे विश्व के संगीत में राग के समान कोई तत्व नहीं। संगीतकार के लिए कला की सृष्टि के लिए सबसे पहली आवश्यकता है चित्त की समाहिति, जिसके द्वारा वह एकाग्रचित होकर राग की सृष्टि करता है। राग का अर्थ ऐसी विशेष ध्वनि से है जो मन को रंजकता प्रदान करती है और विभिन्न प्रकार के मानसिक दृश्यों को उभारती है।

दृश्य और श्रव्य कलाएँ सदैव एक दूसरे की पूरक रहीं है और एक दूसरे को प्रभावित करती है। आज से 400 वर्ष पूर्व जब पुस्तकों एवं संगीत के अन्य साधनों का अभाव था तब चित्रकला के माध्यम से राग रागिनियों को उनके भावमय ध्यान के आधार पर मूर्त रूप दिया गया। भारत का संगीत विशेष रूप से आध्यात्मिक परिप्रेक्ष्य में पला है। हमारे भारतीय संगीत की कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जो सारे विश्व के संगीत में अप्राप्त है। यहाँ राग रागिनियों का संबंध देवी-देवताओं से संबद्ध किया गया है और प्रत्येक का काव्यमय भाषा में ध्यान और भावात्मक चित्र चित्रित किया गया राग रागिनियों का चित्रण ध्यान के अंग के रूप में किया गया। राग-रागिनि चित्रों का आधार ध्यान ही रहा। इसलिए यहाँ ध्यान को समझना आवश्यक है।

रागों के दो स्वरूप होते हैं। (1) नादमय (2) भावमय या देवतामय। राग के स्वरूप, चलन, वर्ज्यानुवर्ज्य, जाति आदि से राग के नादमय स्वरूप की सृष्टि होती है और शास्त्र में वर्णित रागों के भावात्मक ध्यान से भावमय या देवतामय स्वरूप की रचना होती है। राग का नादमय स्वरूप शरीर और भावमय स्वरूप आत्मा है।

ध्यान का अर्थ है अपने चित्त को अपने ईष्ट में तदाकार करना। राग की मूल प्रवृत्ति के अनुसार उत्पन्न भावों द्वारा उसकी आकृति की मानसिक रूप से अनुभूति करना ही राग ध्यान है। रागों के नादमय स्वरूप द्वारा उत्पन्न भावों को कल्पनाओं से सजाकर कलाकारों ने मन में एक आकृति सोची और उसे श्लोकबद्ध कर ध्यान कर रचना की।

इसके अनुसार प्रत्येक राग के पृथक-पृथक देवता अथवा देवी है, यह देव एक अलौकिक जगत में निवास करते हैं जिनका आह्वान राग के शुद्ध ध्यान द्वारा करने से वे अवतीर्ण होते है और उनकी सिद्धि प्राप्त होती है। ध्यान के माध्यम से देवता निमंत्रित किए जाते हैं। ध्यान का तात्पर्य यह है कि शास्त्रों में वर्णित राग के देवता पर चित्त इस प्रकार केंद्रित करना कि राग के नादमय स्वरूप पर उसका स्वरूप उतर आए इससे राग में शक्ति आती है और राग सजीव हो उठता है। इस प्रक्रिया का मूल प्रयोजन राग को अलौकिक आनंदवर्द्धक शक्ति से भरना तथा उसे सजीव करना है।

जिस प्रकार उपासना में मंत्र द्वारा देवता का आह्वान करते हैं उसी प्रकार राग के देवता का आह्वान उसके ध्यान द्वारा किया जाता है। ध्यान में वर्णित रूप उस देवता का आधार मंत्र होता है।

सोमनाथ कृत राग विबोध में लिखा है–

सुस्वर वर्ण विशेषं रूपं रागस्य बोधकं द्वेधा
नादात्मकं च देवमयं तत्क्रमतोऽनेकमेकं तु।

अर्थात् रूप उसे कहते हैं जो सुंदर स्वर और वर्ण विशेष द्वारा राग को सम्मुख उपस्थित कर देता है। यह रूप दो प्रकार का होता है–नादमय और देवमय। नादमय रूप तो अनेक है पर देवमय रूप एक ही होता है।

रागों के ध्यान की एक विशेष प्रक्रिया है। ध्यान की स्थिति में प्रायः नेत्र बंद कर लिए जाते हैं और राग के रस रूपी देवता पर अपना चित्त एकाग्र करना चाहिए और फिर धीरे-धीरे राग के स्वरों द्वारा उस देवता का आह्वान करना चाहिए। जिस प्रकार जप के तीन रूप हैं–अजपा, उपांशु और वाचिक उसी प्रकार ध्यान के भी तीन रूप हैं– मानसिक उपांशु और नादात्मक। मानसिक ध्यान में गायक राग के देवता पर केवल चित्त समाहित करता है उपांशु ध्यान में वह भीतर ही भीतर गुनगुनाकर देवता का आह्वान करता है और नादात्मक ध्यान में वह खुले स्वरों में गाकर उस देवता का आह्वान करता है। रागों के ध्यान के प्रमुख देव शिव, विष्णु, दुर्गा, काली आदि हैं।

इस पद्धति में रागों को स्त्री, पुरुष के रूप में देखकर मानसिक पटल पर एक चित्र पैदा होता है जिसके द्वारा कलाकार को राग के स्वरूप एवं प्रकृति को ग्रहण करने में सहायता मिलती थी। ध्यान के मुख्य रूप से वृहददेशी, संगीत–दर्पण, संगीत रत्नाकर, राग विबोध संस्कृत तथा राग विवेक, राग रत्नाकर में हिंदी में दोहे मिलते हैं।

ध्यान की अवस्था में पहुँचाने के लिए अभ्यास की आवश्यकता होती है। संगीत कला का आरंभ ही एकाग्रता से होता है।

संगीत दर्पण में राग भैरव का ध्यान इस प्रकार है–

डमरु त्रिशूलधारी पन्नगहारी सितोल सिद्धसित
ध्रुवशशिगंगोऽपि जटोजिन विकटो भैरव समहक।।

अर्थात् डमरु और त्रिशूल लिए, साँपों का हार पहने, श्वेत वर्ण से सुशोभित, शरीर में भस्म लगाए, चंद्रमा और गंगा को धारण किए हुए, बड़ी और खुली जटा वाला, गजचर्म से विकट दिखने वाला तीन नेत्रों वाला विशाल भैरव राग है।

रागिनि भैरवी–

सरोवरस्थे स्फटिकस्य मंडपे सरोरहे शंकर अर्चयन्ति
तालप्रभेद प्रतिपन्न गीता गौरी, यजुनमि हि
भैरवीयम्।।

रम्य कैलाश शिखर पर स्फटिक मणि के आसन पर बैठकर विकसित कमल पुष्पों से महेश की अर्चना करने वाली, हाथ में धन वाद्य लिए पीतवर्ण एवं विशाल नेत्र वाली रागिनि भैरवी भैरव की भार्या है।

हमारे धार्मिक परंपरानुसार देवी-देवताओं का रूप वास्तुकला में मूर्तिमान किया गया किंतु संगीत में राग के देवता को सदैव चित्रकला में प्रदर्शित किया गया कारण वास्तुकला की अपेक्षा चित्रकला में स्पष्ट और विस्तृत रूप चित्रित किया जा सकता है। इसलिए जहाँ कहीं भी राग के स्वरूप प्राप्त हुए हैं वे चित्र हैं मूर्ति नहीं। चित्रकारों ने ध्यान में वर्णित स्वरूप को तूलिका और रंग द्वारा व्यक्त किया।

रेखाओं और तूलिका के सहारे राग रागिनियों के अर्मूत रूप को सुरक्षित रखा जाए। कुछ ऐसी ही भावना राग चित्रों में मिलती है। संगीत एक गतिशील कला है जिसमें रागों के देवता को आस-पास के वातावरण के साथ दिखाने से अच्छी भावाभिव्यक्ति होती है इसी भावाभिव्यक्ति को चित्रकार अपनी तूलिका से प्रदर्शित करता है। चित्रकला के माध्यम से राग-रागिनियों की आत्मा प्रतिष्ठित हुई। रागरागिनियों के चित्र स्वरों से उत्पन्न भारवसों की एक विशेष अभिव्यक्ति है। इन चित्रों के द्वारा वास्तव में राग रूप और राग के रसों की साक्षात् अवतारणा होने लगी इसलिए कहा जा है कि संगीतकार चित्र देखकर गाता है और चित्रकार स्वरों के चित्र बनाता है। संगीत कला एवं चित्रकला का संबंध निकट का है। संगीतकला अत्यंत सूक्ष्म एवं गूढ़ विषय है। अतः संगीत के रागों के सूक्ष्म स्वर भावों को उतारने के लिए चित्रकला को

विशेष उपयुक्त माना गया। विष्णु धर्मोत्तर पुराण के चित्रसूत्रम में चित्रसूत्रकार ने कहा है कि किसी व्यक्ति को चित्रकला सीखने से पहले संगीत का अभ्यास करना चाहिए तभी वह चित्रांकन में पारंगत हो जाता है। राग चित्रों में रागों का भावात्मक, सौंदर्यात्मक, रूपात्मक, रागात्मक, कल्पनात्मक चित्रण मिलता है। राग चित्रों ने संगीत, काव्य और चित्रकला को एक सूत्र में बाँधा है।

रागों के रसों की सही अवतारणा हो सके, श्रोताओं के समक्ष रागों का सही रूप आ सके, श्रोता राग का सही आनंद उठाकर कलाकार के साथ एकाकार हो सके यहीं हमारे संगीत की निजी विशेषता है। राग-रागिनियों का चित्रण रस निष्पत्ति के लिए आवश्यक है। बसंत राग के चत्रण में प्रकृति उल्लास है, मेघ राग में वर्षा का दृश्य, दीपक राग में पुरुष के हाथ में जलता हुआ दीपक रागों के रस जैसे वीर, शृंगार, करुण की ओर इंगित करते हैं।

रागों के चित्र रागों के ध्यान के आधार पर ही बनाए गए। संगीतकारों ने जैसे राग को गाया उसी बंदिश के आधार पर चित्रकारों ने रागों का सजीव चित्रण कर रागों को च्तमेमतअम करने की कोशिश की। शुरू में चित्रों के साथ ध्यान के आधार श्लोक भी रहते थे लेकिन बाद में श्लोक छोड़ दिए गए और राग-रागनियों की व्यक्तिगत कल्पना के अनुसार चित्र बनाए जाने लगे इसलिए जहाँ शुरू के चित्रों में विषय वस्तु एक जैसी है वहाँ बाद में चित्रों में एक ही राग के विभिन्न प्रकार के चित्र मिलते हैं।

राग चित्रों से तत्कालीन सभ्यता, संस्कृति, आचार-व्यवहार, सामाजिक परिवेश का पता चलता है। संगीत के संदर्भ में निर्मित चित्रों की संख्या अधिक है किंतु रागों का चित्रण करने की परंपरा कब से प्रारंभ हुई इस संबंध में कोई निश्चित प्रमाण नहीं है।

भरत के नाट्यशास्त्र में रस तथा भावों का संबंध स्वीकार किया गया और प्रत्येक रस के लिए पृथक रंग का उल्लेख किया गया जैसे क्रुद्ध, भीषण के लिए रक्त, करुण के लिए श्याम, हास्य के लिए श्वेत आदि। संगीत रत्नाकार में शारंगदेव द्वारा वर्णित चित्रण में राधा कृष्ण की प्रणयलीला का काव्य में महत्व होने से शृंगार रस को अन्य रसों की अपेक्षा महत्व दिया गया।

भारत में चित्रकला की प्रधान शैलियाँ 6 रहीं (1) अजंता शैली (2) गुजरात शैली (3) मुगलशैली (4) राजपूत शैली (5) टकनी शैली (6) वर्तमान शैली।

भारत की चित्रकला का इतिहास अजंता से आरंभ होता है। अजंता शैली के 'दिव्य गायक' चित्र में संगीत की तन्मयता का सफल अंकन हमें देखने को मिलता है। अजंता कला अपनी नृत्यालेखन के कारण अविस्मरणीय एवं अमर।

15वीं सदी में गुजराती एवं जैन शैली में राग धनाश्री का चित्र मिलता है। यह एक वियोगजन्य राग है अतः इसको परिलक्षित करने के लिए काम को मतवाला हाथी और नायिका को हरी-भरी वाटिका से व्यंजित कराकर राग के स्वरूप को विशेष रूप से दर्शाया गया है। मस्त हाथी वाटिका को रौंदता हुआ बढ़ रहा है और नायिका उससे पछाड़ खाकर सूनी सेज की ओर लौटने को बाध्य हो रही है। इस प्रकार का विवशतापूर्ण वातावरण उत्पन्न करना ही धनाश्री के स्वरों का गुण है जिसे चित्रकार ने बखूबी चित्र में दिखाया है।

मध्यकालीन भारतीय चित्रकला की सभी शैलियों के चित्रों में लगभग एकरूपता पाई जाती है। संगीतशास्त्र में 6 राग और 30 या 36 रागिनियों का वर्गीकरण अधिकाँशतः मिलता है। इसके अतिरिक्त पुत्रों एवं पुत्र वधुओं को भी उल्लेख मिलता है। रागमाला चित्रवलियाँ लगभग इसी प्रकार की हैं।

मुगलकालीन चित्रों में सामाजिक प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है क्योंकि मुगलों के आगमन से कला पूर्णतः धर्म की सेवा की वस्तु नहीं रह गई थी और इसलिए उस समय के रागमाला चित्रों में भावों की अभिव्यक्ति कम और सजावट वस्त्र आभूषण का ध्यान ज्यादा रखा गया है जो मुगल संस्कृति की द्योतक है। मुगलकालीन चित्रकारों को मुगल सम्राटों से चित्र बनाने में पूरी आजादी नहीं

मिली थी इसलिए इनके चित्रों में राजपूत कालीन शैली जैसी अंकन विलक्षणता नहीं आ पाई। राग चित्रों की जो उन्नति उस काल में होनी चाहिए थी वह न हो सकी। उस समय के प्रसिद्ध राग तोड़ी और मालकंस के रागचित्र को देखकर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि चित्र में कल्पना का योग है चित्र का राग ध्यान से कोई संबंध नहीं।

ध्यान में मालकंस राग वीर रस प्रधान बताया है जबकि मुगलकालीन चित्रों में शृंगारिक भावना से ओतप्रोत चित्र है। मुगलकालीन शैली की रागमाला चित्रण का केंद्र, दिल्ली, आगरा और लखनऊ थे। जो राग मुख्य रूप से इस शैली में चित्रित हुए उनमें दीपक, मालकंस, हिंडोल मेघ मुख्य रहे किंतु रागों की आत्मा मुगलकालीन चित्रों में नहीं दिखाई देती।

राजपूत शैली के चित्रों का अपना विशेष महत्व है स्पष्ट है कि 15वीं और 16वीं शताब्दियों में राग-रागिनियों के ध्यान निश्चित हुए होंगे तथा 17वीं और 18वीं शताब्दी के प्रारंभ में राजस्थानी शैली (नायक नायिका का चित्रण) का पूर्ण विकास हुआ जिसके केंद्र मेवाड़ था। राजस्थान में मेवाड़ बीकानेर, जोधपुर, जयपुर में राग-रागिनियों के चित्रों का पूर्ण विकास हुआ। भैरवी, आसावरी, रामकली, गौड़, सारंग, ललित, सोरठ, बसंत मल्हार आदि के उत्तम चित्र इस शैली में देखने को मिलते हैं।

मध्यकाल में राग चित्रों में वीर रस की प्रधानता ध्रुपद धमार शैली की गंभीरता के कारण मिली और बाद में ख्याल, ठुमरी के आगमन के कारण चित्र शृंगारिकद मिलते हैं। भक्तिकाल में देवी-देवता तथा बाद में नायक-नायिका के रूप में स्त्री-पुरुष की कल्पना चित्रों में दिखी। राग चित्रण का विशेष विस्तार राजस्थानी, मालवा, दक्षिणी बीजापुर एवं कांगड़ा शैली में मिलते हैं।

राग ध्यानों के आधार पर राग-रागिनियों के बने चित्रों के अनेक चित्र संग्रह है जो रागमाला चित्र कहलाते हैं। डॉ. आनंद कुमार स्वामी द्वारा संग्रहीत रागमाला चित्र बोस्टन की लाइब्रेरी में है। कलकत्ते के श्री पी.एस. नागर के पास एक संग्रह है जिसमें रागों के चित्र अत्यंत सुंदर हैं।

बीकानेर राजकीय संग्रहालय में 36 राग-रागिनियों का एक संपूर्ण सेअ चित्रशाला में है। अनेक पुस्तकों जैसे अतिया बेगम की 'म्यूजिक ऑफ इंडिया, एस.जे. स्टोक्स और के. खंडालवाला ने रागमाला मिनिएचर, प्रो. इवलिंग ने रागमाला मिनिएचर इंडियास विजिबल म्यूजिक में तथा पन्नालाल गोस्वामी की नाद विनोद में भी चित्र छपे हैं।

19वीं शताब्दी में रागमाला चित्रों की उतनी प्रगति नहीं हुई उसका कारण है कि आज विभिन्न रसों की बंदिशें एक ही राग में गाई या बजाई जाती है। इसके अतिरिक्त रागों को स्त्री और पुरुष से जोड़कर चित्र उस काल में बनाए गए किंतु आज के राग न तो किसी रस विशेष में बंधे है न तो पुरुष स्त्री की सीमाओं में अतः भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। सच तो य है कि तब और अब के रागों के नादमय स्वरूप में मूल परिवर्तन होने के कारण यह नहीं कहा जा सकता कि पुराने ध्यान व चित्र कहाँ तक उपयुक्त हैं। अब रागों के प्रचलित स्वरूपों के अनुसार नए ध्यान और नए चित्र बनाने पड़ेंगे अगर इसे मान्यता देनी है। रागमाला मिनिएचर एवं प्दकपंश टपेपइसम डनेपब में छपे चित्रों में कुछ का वर्ण इस प्रकार है–

दीपक राग– इसके शरीर का रंग अग्नि जैसा और अत्यंत लुभायमान दिखाया गया है। राग का समय ग्रीष्म है, उसी के अनुरूप चित्र में भी दीपक राग के हाथ में मशालें दिखाई गई हैं।

रागिनि कान्हणा– यह वीर रस का द्योतक हैं एक स्त्री सुनसान स्थान में म्यान से तलवार निकालकर खड़ी है, उसके सामने एक हाथी नतमस्तक होकर प्रणाम सा कर रहा है, इस मैदान में एक बड़ा पेड़ है, पीछे पहाड़ियाँ हैं।

राग भैरव– शिवजी शेर की खाल पर सुनसान बैठे हैं, गले में मुंडमाल हैं, हाथ में त्रिशूल और माला है, दोनों भुजाओं में सर्प लिपटे हैं, शीश से गंगा बह रही हैं

रागिनि आसावरी– एक किले के अंदर एक हरे-भरे पेड़ के नीचे एक स्त्री बैठी सपेरे वाली

बीन बजा रही है, एक साँप बीन के ऊपर बैठा है, एक फन किए खड़ा है, एक साँप पेड़ के पीछे फन खड़ा कर सुन रहा है। एक मोर नाच रहा है एक मोरनी नाच रहे हैं किले का दरवाजा खुला है। आसावरी के साथ चित्रकारों ने साँपों का संबंध स्थापित किया है।

राग गुणकली– गुणकली राग में राधा कृष्ण के मिलन वियोग का विलाप प्रकअ किया गया है। केदार राग में कृष्ण और राधा का प्रतीक मानकर चित्रण किया गया है।

रागिनि भैरवी– स्फटिक शिला निर्मित एक सुंदर भवन में विशालाक्षी भैरवी रागिनि कमल पुष्पों से शिव की पूजा करती है। इस प्रकार की रागिनि भैरवी है। चित्रकार ने भैरवी के कोमल स्वरों को सजीव करने की कोशिश की है।

श्री राग

हिंडोल राग– जिसे स्त्रियाँ मंद-मंद गति से हिंडोल गति से हिंडोले पर झुला रही हो, डोला की रस्सियाँ लघु हो जो सुख की भोगेच्छा रखने वाला काम से परिपूर्ण हो, जिसकी कांति कपोल सृदश हों, मुनींद्रों ने उसे हिंडोल कहा है। राग हिंडोल के ध्यान में धीर ललित नायक का लक्षण अन्वित है।

श्री राग– श्री राग का ध्यान बताते हुए संगीत दर्पण में कहा गया है ''अट्ठारह वर्ष की युवावस्था वाला कामदेव सदृश, सौंदर्य मूर्ति संपन्न, कानों में कोमल पल्लवों का कर्णपूर धारण करने वाला षडजादिक अभिलषित, अरुणवस्त्र धारी क्षितिपाल मूर्ति श्री राग है।

रागिनि कानड़ी– दीपक की यह रागिनि है जिसका ध्यान निरुपण करते हुए संगीत दर्पण में इस प्रकार कहा गया है कि जिसके हाथ में खड्ग

धनाश्री रागिनी

एवं गजदंतु खंड है तथा देवलोक के चारण जिसकी अभ्यर्चना करते हैं वह रागिनि कान्हणा है।

रागिनि धनाश्री– जो दूर्वादल श्याम शरीर एवं मनोज्ञा है, विरह संतृप्त के प्रियतम का चित्र बना रही है, श्वेत कपोल है तथा जिसके नेत्रों से प्रवाहमान आँसुओं से कुच प्रदेश भीग गए हैं, ऐसी रागिनि धनाश्री है।

भैरवी रागिनी

रागिनि तोड़ी– संगीत दर्पणकार ने इस रागिनि का ध्यान निरुपण करते हुए लिखा है कि जिसकी देहयष्टि तुषार कुंद की तर निर्मल श्वेत हो, जिसके शरीर पर केसर एवं कर्पूण का लेप हुआ हो और जो वन में वीणा वादन करती हुई मृगों से विनोद कर रही हो वह शोभामयी कौशिक की भार्या तोड़ी है।

शुद्ध टोड़ी रागिनी

आजकल संगीत सुनने के साधन हर जगह उपलब्ध हैं। आज रेडियो, टी.वी.यू.ट्यूब, पुस्तकों और गुरुओं के माध्यम से राग सुने व सीखे जा रहे हैं। परंतु राग चित्रों की अपनी महत्ता है हमें उसे स्वीकार करना ही होगा। राग चित्र रसाभिव्यक्ति के लिए महत्त्वपूर्ण हैं जिस प्रकार आज भी हम वास्तुकला मूर्तिकला और चित्रकला के द्वारा अनेक अमूर्त भावों का रसास्वादन करते हैं उसी प्रकार रागों के चित्र भी रंग तूलिका का सहारा पाकर हमारे सामने सजीव हो जाते हैं।

रागमाला चित्र संगीतकला और चित्रकला का अनोखा संगम है, संभवतः विश्व में अद्वितीय है। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि कुछ रागों के रूपों में परिवर्तन होने से राग चित्रों में उनके अनुरूप परिवर्तन की आवश्यकता है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि भारतीय संगीत में राग के विभिन्न प्रमुख पक्षों के साथ ही राग-रागिनियों पर आधारित चित्रों का भी विशेष महत्व एवं उपादेयता है। यह विषय बहुत ही रोचक है। अतः इस पर शोध करने की आवश्यकता है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. प्राचीन एवं मध्यकाल के शास्त्रकारों का संगीत में योगदान– डॉ. सिम्मी वर्मा
2. आधुनिक अंतर्राष्ट्रीयकरण में भारतीय शास्त्रीय संगीत की भूमिका– डॉ. नीलम बाला
3. निबंध संगीत– लक्ष्मीनारायण गग्र
4. संगीत-राग-रागिनि ध्यान अंक जनवरी 2014
5. संगीत राग-रागिन अंक जनवरी 1972– लक्ष्मी नारायण गर्ग
6. सौंदर्य रस एवं संगीत– प्रो. स्वतंत्र शर्मा
7. संगीत निबंध संग्रह– प्रो. हरिश्चंद्र श्रीवास्तव
8. भारतीय संगीत की इतिहास– डॉ. शरच्चंद्र श्रीधर परांजपे
9. संगीत के प्रमुख शास्त्रीय सिद्धांत– सुभाषरानी चौधरी
10. गीत गोविंद का साहित्यिक एवं कलागत अनुशीलन– डॉ. प्रेमशंकर द्विवेदी डॉ. मनीष कुमार द्विवेदी

संगीत एवं मनोविज्ञान का अर्न्तसम्बन्ध

शशी रॉय

शोधार्थी

संगीत एवं प्रदर्शन कला विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज

संगीत एवं मनोविज्ञान का सम्बन्ध अत्यधिक गहरा है। मानव व मानव स्वभाव को प्राचीन काल से निरन्तर समझने का प्रयास किया जा रहा है जिसे हम मनोविज्ञान कहते है, वहीं संगीत एक ऐसी बहुआयामी कला है जो ललित कलाओं में सर्वोत्तम स्थान पर है। जिसके माध्यम से मानव के हृदय में भाव एवं क्रिया ज्ञान का संचार निरन्तर होता रहता है। मनोविज्ञान का कार्य शारीरिक उत्तेजना और चेतना के प्रवाह के सम्बन्ध को स्थापित करना है, कोई भी नाद हमारी कर्णेन्द्रिय को किस प्रकार प्रभावित करता है यह संगीत के मनोविज्ञान की श्रेणी में आता है।[1] संगीत और मनोविज्ञान का सम्बन्ध लक्ष्य व लक्षण सदृश्य प्रतीत होता है।

मनोवैज्ञानिक ने संगीत का सम्बन्ध मन से जोड़ा है। सांगीतिक बुद्धि को भाव, संवेदना (Feelings) से भी जोड़ा है। हम जो भी संगीत सुनते है वह हमारे मन की अभिव्यक्ति (मूड) को दर्शाता है। जब व्यक्ति अक्सर प्रसन्न होता है, खुशी जाहिर करता है या कोई त्यौहार मनाता है तो तेज संगीत सुनता है व द्रुत लय पर नृत्य करता है। जब निराश होता है, मध्य व विलम्बित लय में संगीत सुनता है। संगीत न सिर्फ मानव की मन की अभिव्यक्ति करता है अपितु उसकी रूचि का भी प्रदर्शन करता है। डॉ. मार्टिन गर्डिटर का मानना है कि उम्र के छठे महीने से ही संगीत के लय-ताल के स्वरूप का परिवर्तन दिखाई देने लगता है।

संगीत के प्रभाव को स्वीकार करते हुए श्री उपेनद्र चन्द्र सिंह ने शूंज पे उनेपब में लिखा है-

'To Summarise what is music, One can Safely say it is a kind of yoga system, which acts upon the human organism and awaken and develop their proper faction of the extent of self realization, the ultimate goal of Hindu Philosophy or religion.

प्लेटो ने कहा है, ''आत्मा के लिए संगीत उसी प्रकार आवश्यक है जिस प्रकार शरीर के लिए व्यायाम।[2]

मनुष्य को पहले लय व तत्पश्चात् स्वर का आभास होता है। उत्सव मनाने एवं खुशी का प्रदर्शन के लिए सर्वप्रथम नृत्य करना प्रारम्भ किया जिसके द्वारा लय की वृद्धि होती चली गई तथा अपने हाथो द्वारा ताली बजा कर, पैरो से थाप देकर ताल का प्रयोग किया। जिस प्रकार देह से अंग, प्रत्यंग व उपांग को भिन्न कर देने से शरीर निष्क्रिय हो जाता है उसी प्रकार संगीत को देह व मानव हृदय से भिन्न कर देने पर शरीर भी निष्क्रिय हो जाता है। मानव हृदय को जब रस व सौन्दर्य से पूर्ण संगीत स्पर्श करता है तो मनुष्य अपनी निराशा, दुःख अवसाद व चिंताओं से मुक्त हो जाता है। इस प्रकार संगीत द्वारा मन के भाव में परिवर्तन लाना व आनन्द की अनुभूति करना ही संगीत को मनोविज्ञान से जोड़ता है। संगीत, गायन वादन व नृत्य से मिलकर बना है जो दृश्यात्मक व

श्रवणात्मक दोनों के माध्यम से मानव के हृदय में स्थापित हो सकते हैं।

संगीत और मनोविज्ञान का सम्बन्ध कुछ इस प्रकार भी प्रदर्शित कर सकते है-

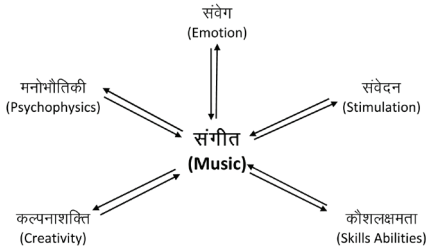

1. संवेगः-मनुष्य मात्र के अन्तःकरण में उदीयमान होने वाले विशिष्ट भावनाओं के चर्मोत्कर्ष को ही शास्त्रो ने रस की संज्ञा दी है।[1] यह भाव के द्वारा उत्पन्न होता है और जब भाव अपनी उत्कर्ष पर होता है तो संवेग का रूप ग्रहण कर लेती है। मनोविज्ञान में संगीत के द्वारा हृदय के भाव को अभिव्यक्त करने को संवेग कहा है।

2. संवेदनः-संवेदन का अर्थ होता है-अनुभव व अनुभूति। जब हम किसी कर्णप्रिय संगीत को सुनते है और उस संगीत को सुनने से जो आनन्द की अनुभूति होती है उसे ही संवेदन कहते हैं। संवेदन और मनोविज्ञान को संगीत के कई पक्ष जैसेः-राग, लय ताल, ध्वनि की तारता-तीव्रता-गुण, समय आदि जोड़ता है। प्रातः काल में गाए जाने वाले राग व्यक्ति में शांत संवेदना की उत्पत्ति करता है, ऋतुओं से सम्बन्धित राग मौसम का अनुभव कराते है तो रात्रि के राग विश्राम (Relax) की अनुभूति कराते है।

3. कौशल क्षमताः-मनोविज्ञान के अन्तर्गत कौशल क्षमता व प्रतिभा एक ऐसी अवस्था है जो किसी विशेष व्यक्ति को ध्यान जागृत करने व अपने सर्वांगीण विकास में महत्वपूर्ण माध्यम सिद्ध होता है।

सन् 1919 में कार्ल इस्माइल सीशोर ने "The Psychology of Music" नामक पुस्तक लिखकर Musical Mind की संज्ञा दी। इस पुस्तक में सीशोर ने 6 परीक्षण का भी वर्णन किया जिसमें संगीत के माध्यम से व्यक्ति के कौशल क्षमता व सांगीतिक प्रतिभा को मापा जा सकता है। जो निम्न है-

(i) Sense of Pitch:- इस परीक्षण में ऊँचे स्वर के आगे भ्पही तथा नीचे स्वर के आगे स्वू लिखना होता है। इस प्रकार की 100 परीक्षाये लेकर स्वरों की ऊँचाई-निचाई समझने की प्रतिभा जांची जाती है।

(ii) Sense of Intensity:-नाद के कम या अधिक प्राबल्य को पहचानने का कौशल। इसमें उस व्यक्ति को दो ऐसे स्वर सुनाए जाते हैं जिनका प्राबल्य एक-दूसरे से भिन्न हो। जिस स्वर का प्राबल्य ज्यादा हो उस पर 'S' तथा कम हो तो 'W' लिखकर Sense of Intensity की जांच की जाती है।

(iii) Sense of Time:-इसमें समय के काल के अन्तराल को पहचानने का कौशल। इसमें तीन इमंजे सुनाया जाता है, यदि 2-3 के बीच के समय-अन्तराल ज्यादा हो तो उस पर 'L' (Long) और यदि उसका समय-अन्तराल कम है तो उस पर 'S' (Short) लिखाया जाता है।

(iv) Sense of Consonance:-दो नादो की सामू. हिक ध्वनि की कम अथवा अधिक मधुरता को पहचानने की कौशल। यदि मधुर है तो 'B' यदि खराब है तो 'W' लिखते हैं। इस तरह 100 परीक्षण होते है। प्रारम्भ में आसान और बाद में कठिन हो जाता है।

(v) Tonal Memory:-इसमें स्मरण शक्ति की जाँच की जाती है इसमें पहले कई स्वर सुनाते है दुबारा सुनाते समय किसी स्वर को बदल देते है।

(vi) Sense of Rhythm:-विभिन्न छन्दों को एक-दूसरे से अलग पहचानने की कौशल। इसमें शीघ्रता से विद्यार्थी को दो छन्द सुनाते है यदि दोनों समान है तो 'S' (Same) और भिन्न है तो 'D' (Different) लिखते है।[1]

(4) कल्पना शक्तिः-कल्पना, मानव की एक

ऐसी मानसिक शक्ति है जिसके माध्यम से मानव यथार्थ से परे कल्पना करके उसे सिद्ध कर देता है। कल्पना, कलाकार को नित-नित नवीन सृजन करने की प्रेरणा देती है। कल्पनाशक्ति, कला का मूल आधार होता है क्योंकि कलाकार कल्पना के द्वारा अपनी-अपनी अनुभूति अपने स्मरण को नतीन रूप दे कर उसे प्रस्तुत करता है। कल्पना के द्वारा जो रचना प्रस्तुत होती है, उसमें मानव की रूचि, व्यवहार, भाव आदि की अभिव्यक्ति स्वतः ही हो जाती है।

(5) **मनोभौतिकीः**-संगीत का मानव के शरीर, मन एवं आत्मा से गहरा सम्बन्ध है इसी कारण संगीत व मनोभौतिकी में स्वतः ही सम्बन्ध स्थापित हो गया है। संगीत मनोविज्ञान, मनोवैज्ञानिक घटना की एक किस्म के साथ विधि और संगीत का सिद्धान्त है। मनोभौतिक में संगीत और मानसिक उत्तेजना, संगीत स्मृति, संगीत और भावना के बीच सम्बन्ध, परिभाषा और वर्गीकरण करने के लिए संगीत, संगीत प्रतिभा, जेनेटिक संगीत प्रतिभा, संगीत के माध्यम रोगों का उपचार आदि मानव के महत्वपूर्ण पक्ष संगीत के द्वारा हल किए जाते हैं।

संगीत और मनोविज्ञान का यह मेल मनुष्य के सर्वांगीण विकास कर उसे सहृदय, कलाप्रेमी, संवेदनशील आत्मविश्वास से पूर्ण बनाता है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. बसन्त : संगीत विशारद : संगीत कार्यालय हाथरस
2. श्रीवास्तव शोभा : उत्तर भारतीय तालों में छन्द, रस और सौन्दर्य तत्व कनिष्क पब्लिशर्स डिस्ट्रीब्यूटर्स नई दिल्ली
3. शर्मा स्वतंत्र : सौन्दर्य, रस एवं संगीत, प्रतिभा प्रकाशन दिल्ली
4. तिवारी किरन : संगीत एवं मनोविज्ञान, कनिष्क पब्लिशर्स डिस्ट्रीब्यूटर्स नई दिल्ली
5. चक्रवर्ती कविता : संगीत की मनोवैज्ञानिक पृष्ठ भूमि साइटिफिक स्लिशर्स

(Footnotes)

[1] बसन्त-संगीत विशारद-पृ.सं.-659

[2] शर्मा स्वतंत्र-सौन्दर्य, रस एवं संगीत, पृ.सं.-1891

3 श्रीवास्तव शोभा-उत्तर भारतीय तालों में छन्द, रस एवं संगीत, पृ.सं.-681

4. शर्मा स्वतंत्र-सौन्दर्य रस एवं संगीत पृ.सं.-199-200

समीक्षा

ठुमरी की ठनक और ठसक का दस्तावेज़।

डॉ. मनीष कुमार मिश्रा

सहायक प्राध्यापक हिन्दी विभाग

के.एम.अग्रवाल महाविद्यालय, कल्याण-पश्चिम, महाराष्ट्र

भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान शिमला म अध्येता के रूप म दो वर्षों तक जिस समर्पण और निष्ठा के साथ डॉ. ज्योति सिन्हा अपने शोधकार्य म लगी रहीं, उसके प्रतिफल के रूप म 614 पृष्ठों की यह पुस्तक हमारे सामने है। पुस्तक का शीर्षक है—"बनारसी ठुमरी की परंपरा म ठुमरी गायिकाओं की चुनौतियाँ एवं उपलब्धियां (19वीं-20वीं सदी)। पुस्तक का प्रथम संस्करण वर्ष 2019 म प्रकाशित हुआ। प्रकाशक रहा स्वयं भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान शिमला, हिमाचल प्रदेश। डॉ. ज्योति सिन्हा अपने शोध आलेखों एवं पुस्तकों के माध्यम से संगीत के विभिन्न पक्षों पर अकादमिक योगदान देती रही हैं। लेकिन यह पुस्तक उनकी एक "नई पहचान" गढ़ती सी दिख रही है।

इस पुस्तक के माध्यम से ज्ञात होता है कि इन ठुमरी गायिकाओं ने अपने संघर्ष को समयानुकूल रूपांतरित करने एवं उसे धार देने म कोई कमी नहीं छोड़ी। ऐसा इसलिए ताकि जीवन जीना थोड़ा सरल हो सके और कला का सफ़र अधिक खूबसूरत। ये गायिकाय अपने जीवन की ही नहीं अपितु अपनी कला की भी शिल्पी रहीं। इन डेरेवालियों, कोठेवालियों के निजी जीवन के नजाने कितने ही तहख़ाने अनखुले रह गये। कितनी ही सुरीली आवाज़ोंवाली बाई जी के नाम गुमनामी म ही दफ़न हो गये। लेकिन समय की धौंकीनी म इनके ख़ूवाब हमेशा पकते रहे। इन गायिकाओं ने अपने दर्द को भी अपनी गायकी से एक ख़ास तेवर दिया।

इन गायिकाओं के जीवन से बहुत से रंग और मौसम सामाजिक व्यवस्था ने बेदख़ल कर दिये थे। बावजूद इसके इनके जीवन म स्वाद लायक नमक की कोई कमी नहीं थी। ये हमेशा नयेपन का उत्सव मनाते हुए आगे बढ़ी। इनके जीवन म संघर्ष और संगीत की निरंतरता असाधारण रही। इनकी ठुमरी आज़ लोकचित्त के इंद्धनुष सी है। यह ठुमरी न जाने कितनी ही खोई हुई आवाज़ों का इक़बालिया बयान है। बड़ी मोती बाई, रसूलन बाई, विद्याधरी बाई, काशी बाई, हुस्ना बाई, जानकी बाई, सिद्धेश्वरी देवी, अख्तरी बाई, जद्दन बाई, राजेश्वरी बाई, टामी बाई, कमलेश्वरी बाई, चंपा बाई, गौहर जान, मलका जान, केसर बाई केरकर, सितारा देवी और गिरजा देवी तक की पूरी ठुमरी गायकी की परंपरा इस पुस्तक के माध्यम से संरक्षित हो गई है।

सामगान, ध्रुवागान, जातिगान, प्रबंध, ध्रुवपद, धमार, ख़्याल, ठुमरी, टप्पा, गजल, क़व्वाली, होरी, कजरी, चौती इत्यादि सांगीतिक रूपों से भारतीय संगीत हमेशा ही प्रस्तुति पाता रहा है। इन्हीं म बनारस की एक महत्वपूर्ण गायकी परंपरा "ठुमरी" की रही है जो गेय विधा के रूप म प्रसिद्ध मूल रूप म एक "नृत्य गीत भेद" है। ठुमरी भारतीय संगीत के "उपशास्त्रीय वर्ग" म स्थान बनाने म सफल रही है। यह श्रृंगारिक एवं भक्तिपूर्ण दोनों ही रूपों म प्रस्तुत की जाती रही है। 19वीं शताब्दी म ध्रुवपद और ख़याल की तुलना म इसकी लोकप्रियता अधिक बढ़ी। स्त्रियों के जिस वर्ग ने इस गायकी को

अपनाया उन्ह गणिका, वेश्या, नर्तकी, बाई इत्यादि नामों से संबोधित किया गया। इसे "तवायफ़ों का गाना" कहते हुए इससे जुड़ी स्त्रियों को हेय दृष्टि से ही देखा गया।

इन स्त्रियों को समाज के सम्पन्न और विलासी पुरुषों का संरक्षण प्राप्त होता था। ये अपनी कला के दम पर नाम और शोहरत पाती थी। आर्थिक और कलात्मक वर्चस्व के साथ - साथ अपरोक्षरूप से सामाजिक दबदबा भी ये हासिल करती थीं। इनका यह दबदबा इनके संरक्षकों के माध्यम से होता था। लेकिन जन सामान्य के बीच ये "बुरी स्त्री" के रूप म ही जानी जाती रहीं। इनके जीवन म पुरुषों की अधिकांश सहभागिता सिर्फ़ मनोरंजन और आनंद के लिए ही रही। इनका निजी जीवन संपन्नता के बावजूद संवेदना और प्रेम के स्तर पर त्रासदी का निजी इतिहास रहा है। इन्ह सामाजिक नैतिकता और आदर्श के लिए हमेशा "खतरनाक" माना गया।

जीवन की तमाम प्रतिकूलताओं के बावजूद इन गायिकाओं ने अपनी कला साधना म कोई कमी नहीं रखी। इनम से कई गायिकाय 10 से 20 भाषाओं म गाती थीं। अपनी नज़्म खुद लिखती एवं उनकी धुन बनाती। तकनीकी बदलाव के अनुरूप अपने आप को तैयार किया। गौहर जान और जानकी बाई ने ग्रामोंफोन की रिकार्डिंग म अपना परचम लहराया। गौहर जान ने बीस से अधिक भाषाओं म 600 से अधिक रिकार्डिंग किये। इसी रिकार्डिंग की बदौलत गौहर देश ही नहीं विदेश म भी मशहूर हुई। जद्दन बाई ने सिनेमा संगीत म महत्वपूर्ण योगदान दिया। अपनी बेटी नरगिस को उन्होने कामयाब अभिनेत्री बनाया। ग्रामोंफोन, संगीत कंपनी, रंगमंच और सिनेमा म इन गायिकाओं ने अतुलनीय योगदान दिया। इनम से अधिकांश की व्यापक चर्चा इस पुस्तक म की गई है।

इस पूरी पुस्तक को अध्ययन-अध्यापन की सुविधा की दृष्टि से सात अध्यायों म वगीकृत किया गया है। प्रथम अध्याय ठुमरी की उत्पत्ति,विकास एवं ऐतिहासिक संदर्भों पर केन्द्रित है। इसम ठुमरी की शैलियाँ, अंग, उपांग इत्यादि की भी चर्चा है। दूसरा अध्याय ठुमरी के सांगीतिक तत्व से संबन्धित है। इसम राग, ताल, वाद्य, भाषा, साहित्य, रस, भाव, सौंदर्य, लोकतत्व और लोकधुन से जुड़ी जानकारी प्रस्तुत की गई है। तीसरा अध्याय बनारस संगीत परंपरा एवं बनारसी ठुमरी से संबंधित है। अध्याय चार ठुमरी गायिकाओं पर केन्द्रित है। उनकी परंपरा और सृजन संदर्भों की यहाँ व्यापक चर्चा है। अध्याय पाँच ठुमरी गायिकाओं की चुनौतियों एवं उपलब्धियों से संबंधित है। अध्याय छः उन तमाम संदर्भों पर केन्द्रित है जो ठुमरी के विकास म महत्वपूर्ण कारक रहे। अध्याय सात उपसंहार के रूप म दर्ज़ है। अंत म संदर्भ ग्रंथ सूची है जो कि बहुत ही महत्वपूर्ण है। इस सूची म 222 पुस्तकों एवं पत्र- पत्रिकाओं की जानकारी है। भविष्य म इस तरह के शोध कार्यों के लिए यह सूची बहुत ही सहायक होगी।

इस पुस्तक ने बनारस को ठुमरी के संदर्भ म चित्रित करने म कोई कसर नहीं छोड़ी है। दालमंडी, नारियल बाजार, राजा दरवाजा का कोठेवालियों का इलाक़ा, इनकी शान ओ शौकत और संगीत परंपरा का व्यापक वर्णन है। साथ ही नौका विहार, जल विहार, होली, जन्माष्टमी, सावन, बुढ़वा मंगल और गुलाब बाड़ी की संगीत माफ़िलों की भी विधिवत चर्चा की गई है। ठुमरी को नवीनता और जनप्रियता इसी बनारस से मिली। संगीत घरानों एवं गुणी उस्तादों के बीच ठुमरी बनारस म ही चमकी। 1790 से 1850 तक का समय ठुमरी और ठुमरी गायिकाओं के लिये काफी उत्साह जनक रहा। लेकिन 1857 के विद्रोह के बाद काफी कुछ बदल गया।

अंग्रेज़ वेश्याओं म दिलचस्पी तो लेते रहे पर "नेटिव म्युजिक" को कोई तवज्जो नहीं देते थे। इसके संरक्षण की उन्होने कभी कोई ज़रूरत नहीं समझी। तवायफ़ों के क्रांतिकारियों से संबंध और उन्ह सहायता पहुंचाने की कई बातों के सामने आने के बाद अंग्रेज़ हुकूमत सख़्त हो गई। "ब्रिटिश

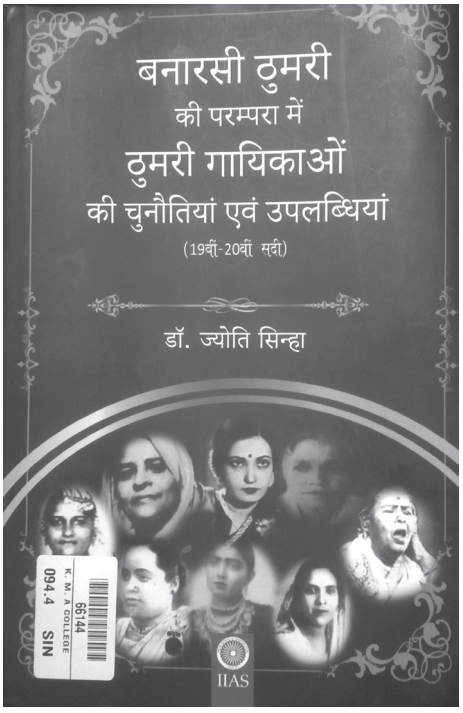

क्राउन ला" इसी सख्ती का परिणाम था। इसी क़ानून द्वारा सभी तवायफ़ों को वेश्याओं की श्रेणी म रखकर उनकी गतिविधियों को अपराध की श्रेणी म सम्मिलित कर दिया गया। इसीतरह सन 1946 से 1952 तक एक सरकारी आदेशानुसार उन महिलाओं के गायन प्रसारण पर पाबंदी थी जिनका निजी जीवन सार्वजनिक तौर पर लांछित माना गया। ऐसे कई संदर्भ इस पुस्तक म मिलते हैं।

हर तरह के शोध कार्यों की अपनी सीमाएं होती हैं। इस पुस्तक को पढ़ते हुए यह बराबर महसूस हुआ कि -

- कई ठुमरी गायिकाओं के नाम का उल्लेख तो पुस्तक म है लेकिन उनकी व्यापक चर्चा नहीं है। संभवतः यह उनसे जुड़ी सामग्री के अभाव के कारण भी हो सकता है।
- ठुमरी गायिकाओं के व्यक्तित्व और कृतित्व को एक क्रमबद्ध तरीके से जादा व्यवस्थित तरीके से सामने रखा जा सकता था।
- स्त्रीवादी और मार्क्सवादी सिद्धांतों को कई जगह जिस तरह से उल्लेखित किया गया है वह महत्वपूर्ण तो है, लेकिन व्यापक विवेचना और संदर्भों की कमी खटकती है।
- कई बार विश्लेषण बहुत एकांगी और सपाट सा लगता है।

इसी तरह जो बात इस पुस्तक को महत्वपूर्ण बनाती हैं, वे निम्नलिखित बिन्दुओं के माध्यम से समझी जा सकती हैं -

- सहज, सरल भाषा और छोटे - छोटे वाक्यों म तथ्यों की प्रस्तुति।
- विषय से जुड़ा बड़ा संचयन कार्य।
- ठुमरी गायिकाओं की सामाजिक, राजनी. तिक एवं आर्थिक परिस्थितियों की तथ्यगत विवेचना का प्रयास।
- बनारस की ठुमरी परंपरा को गहन रूप म प्रस्तुत करना।
- स्त्री जीवन के संघर्ष को प्रेरक रूप म नई पीढ़ी के सामने रखना।

समग्र रूप म यह कहा जा सकता है कि डॉ. ज्योति सिन्हा जी द्वारा किया गया बनारसी ठुमरी पर यह कार्य एक मील का पत्थर है। वे उस साहित्यिक परंपरा का हिस्सा बन चुकी हैं जिसम कामेश्वरनाथ मिश्र, विश्वनाथ मुखजी, डॉ. शत्रुघ्न शुक्ल, भगवत शरण उपाध्याय और गजेन्द्र नारायण सिंह जैसे नाम लिये जाते रहे हैं। भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान शिमला के महत्वपूर्ण प्रकाशन कार्यों म यह पुस्तक भी शामिल रहेगी।

ब्रज क्षेत्र के लोक संगीत में गुंजरित अवनद्ध वाद्य

गायत्री

संगीत विभाग, दयालबाग एजूकेशनल इंस्टीट्यूट
(डीम्ड विश्वविद्यालय), आगरा

भारतीय संस्कृति में 64 कलाएँ मानी गयीं हैं। उनमें से संगीत सर्वाधिक लोकप्रिय कला है। संगीत कला एक जीवन्त कला के रूप में वैदिक रूप से एक लम्बी यात्रा करते हुए वर्तमान में भी शुद्ध व पवित्र सरिता की भाँति बहती चली आ रही है।

प्राचीन काल से संगीत की दो शाखाएँ देखी जा रही हैं, जिसमें प्रथम है शुद्ध शास्त्रों का संगीत या मार्गी संगीत। इसका प्रारम्भ देवताओं की स्तुति से हुआ। इसे शास्त्रीय संगीत एवं मार्गी संगीत कहा जाता हैं। द्वितीय है देशी संगीत या लोक संगीत। शास्त्रीय संगीत को जनसाधारण पक्का गाना कहते हैं। यह जटिल बन्धनों से बन्धा हुआ रहता है इसका ज्ञान एवं प्रयोग दोनों ही कठिन है। भारत में शास्त्रीय संगीत की दो विभिन्न पद्ध तियाँ प्रचलित हैं- उत्तर भारतीय संगीत/हिन्दुस्तानी संगीत तथा दक्षिण भारतीय संगीत/कर्नाटक संगीत।

लोक संगीत ''लोक'' तथा ''संगीत'' इन दो शब्दों के संयोग से मिलकर बना है। 'लोक' का अर्थ है जनसाधारण और संगीत गायन, वादन का मिश्रित रूप है अर्थात जो जनसाधारण द्वारा गाया बजाया जाये वह लोक संगीत कहलाता है। पं. ओंकारनाथ ठाकुर के अनुसार- देशी संगीत के विकास की पृष्ठभूमि लोकसंगीत है। परम्परानुसार स्थानीय भाषाओं में होनें वाले गीत, नृत्यादि लोक संगीत कहलाते हैं। पं. कुमार गन्धर्व ने लोक संगीत की विशेषताएँ इस प्रकार से दी है- लोकभाषा के गीत, सरल एवं भावपूर्ण होते हैं। लोकधुनें लयबद्ध होती हैं। अधिकांश लय सरल होती हैं, कुछ धुनें निश्चित होती हैं और वे स्वाभाविक प्रतीत होती हैं। इस संगीत में किसी व्याकरण अथवा शास्त्र के नियंत्रण की आवश्यकता नहीं होती यह प्राकृतिक एवं स्वाभाविक रूप से प्रस्फुटित होता है अर्थात लोक संगीत की स्वर रचना में किसी राग विशेष, स्वर वैचित्र्य या गमक आदि का पूर्ण निर्धारित बन्धन नहीं होता लेकिन फिर भी ये सभी सांगीतिक लोकगीत में स्वाभाविक रूप में निहित रहते हैं अर्थात स्वर रचना भावानुकूल प्रसंगानुकूल होती है। एक ही गीत में अनेक गीत होते हैं जो लय तथा गीतों के बोलों के परिवर्तन द्वारा भिन्न होते है।

ब्रज एवं ब्रज का लोक संगीत - ''ब्रज'' शब्द का प्रचलन प्राचीन समय से चला आ रहा है। ''ब्रज'' शब्द संस्कृत धातु ''ब्रज'' से निर्मित है। महर्षि पाणिनी ने इसका अर्थ ''गतिशीलता'' बताया है। आर्य साहित्य का परिशीलन करने पर ब्रज शब्द का प्रयोग वैदिक काल से ही देखने मिलता है। ऋग्वेद में यह शब्द 'गोशाला' अथवा गायों के ''प्रकोष्ठ'' के लिए प्रयुक्त हुआ है। यजुर्वेद में गायों के चरने के स्थान को 'ब्रज' तथा 'गोशाला' को 'गोष्ठा' कहा है।

पुराण साहित्य में ''ब्रज'' शब्द की मूल चेतना तो पूर्ववर्ती आधार पर ही आश्रित रही है, किन्तु उसके अर्थ में विस्तार हुआ तथा वह भू-भूमि वाचक हो गया। हरिवंश पुराण में यह शब्द गोप ग्वालों की बस्ती के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है -

तद् ब्रज स्थान्मधिकमशु शुभे कामनावृत।

स्कन्द पुराण तथा पद्म पुराण आदि में भी इसकी चर्चा अनेक अनेक स्थानों पर हुई है। भगवत पुराण में ब्रज को गोपजनों की बस्ती कहा गया है-

ब्रज वसन किमकरोन मघुपर्या च केशवः।

हिन्दी साहित्य के समूचे भक्ति साहित्य में ब्रज शब्द का प्रयोग मथुरा जनपद के निकटवर्ती प्रदेश के लिए किया गया। इसके स्पष्ट प्रमाण वल्लभाचार्य एवं उनके पुत्र विट्ठलनाथ के शिष्यों 'अष्टछाप' की पद-रचनाओं में अवलोकनीय है-

आज अति आनन्द ब्रजराय।
धन्य दिवस वन चलत प्रथम ही कान्हा चरावत गाय।।

महाकवि सूरदास ने अपने पदों में ब्रज की अद्भुत रसमयता का उल्लेख किया है-

गोरी होरी देत दिवावत।
ब्रज में फिरत गोप गन गावत।।
दूध दही के माते डोलै।
काहै न हों हों हों हों बोलैं।।

इन्हीं के साथ लिखी गई 'चौरासी वैष्णव का वार्ता' तथा 'दो सौ बावन वैष्णव' में 'ब्रज' शब्द का प्रयोग स्थान व क्षेत्र के लिए किया गया है। इसी ब्रज क्षेत्र की चौरासी कोस की परिधि निर्धारित भी की गई है और उस क्षेत्र को आज भी 'ब्रज मण्डल' के नाम से जाना जाता है।

ब्रज के मन्दिरों में शास्त्रीय संगीत के साथ भिन्न उत्सवों पर लोक संगीत के भी आयोजन होते रहते हैं। ब्रज के लोक गीतों कों डॉ. कुन्दनलाल उप्रेती ने दो वर्गों में विभक्त किया है- 1. अनुष्ठान या आचार सम्बन्धी 2. मनोरंजनपरक। अनुष्ठान सम्बन्धी गीत मनुष्य के किसी न किसी संस्कार से सम्बद्ध होते हैं। भारतीय परम्परा के अनुसार स्वीकृत 16 संस्कारों में से जन्म, विवाह तथा मृत्यु प्रमुख माने गये है। ब्रज के लोकगीत संस्कार के लौकिक पक्ष के गीत है ये गीत संसार के लौकिक विधान भी हैं। मनोरंजन परक गीतों में किसी न किसी लोक प्रचलित कथा का वर्णन रहता है इनमें कुछ गीत जैसे ढोला बहुत लम्बे होते हैं।

ब्रज के लोक गीतों में जनजीवन मुखरित होता है भोर होते ही चक्की तथा बुहारी के साथ जीवन का जागरण होता है नारी कण्ठ से गीत निसृत होने लगते हैं। लघु स्फुट गीत, दीर्घ प्रबन्ध गीत सभी में जन जीवन के व्यवहारिक पक्ष का उद्घाटन हुआ है। इस व्यवहारिक पक्ष की पृठभूमि में जो मनोवैज्ञानिकता है उसमे जन-जीवन को सत्य रूप में निरूपित किया है। लोकगीतों का मुख्य उद्देश्य लोकजीवन में उल्लास के रस को अनुभूत करना रहा है। इससे जीवन की कटुता एवं रिक्तता से मुक्ति मिलती है। इस तरह के लोकगीत जन-मानस और जन-जीवन दोनों को ही एक उद्देश्यपूर्ण अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं।

लोक अवनद्ध वाद्य - लोक संगीत में अवनद्य वाद्यों का स्थान सर्वोपरि होता है तथा उनका विस्तार क्षेत्र भी अधिक है। लोक संगीत के वाद्यों की समस्त सामग्री प्रकृति-जन्य है, जिसमें मिट्टी, काठ तथा खाल मुख्य है किन्तु उनकी बनावट में कहीं-कहीं कारीगरी के अद्भुत नमूने देखने को मिलते हैं। चमड़े में मढ़े हुए ताल-वाद्यों की खाल के ऊपर अथवा भीतर मिट्टी अथवा अन्य वस्तुओं के चूर्ण से तैयार किये हुए मसाले का लेप भारतीयों की अपनी विशेष उपलब्धि है। लोक संगीत के वाद्यों में मसाले का प्रयोग किया जाता है जिससे उन वाद्यों को गूँज बढ़ जाती है। लोक-संगीत में लय प्रधान होती है। अतः इन गूँज युक्त वाद्यों को किसी निश्चित स्वर में मिलानें की आवश्यकता नही होती। यह अवनद्य वाद्य लोक संगीत में प्रयुक्त होने के कारण लोक अवनद्य वाद्य कहलाते हैं।

ब्रज के लोक अवनद्य वाद्यों में मुख्यतः नक्कारा, आवज, हुडुक्का, ढोलक, मृदंग या पखावज, मदिलरा, मुरज, निसान, डफ, चंग एवं उपंग आदि वाद्य आते हैं। ब्रज में इन अवनद्य वाद्यों की आवाज श्रीकृष्ण जन्माष्टमी व होली के अवसर पर सुनाई देती है। पुष्टिमार्गीय मन्दिरों में इन वाद्यों के घनघोर शब्द इतने गुंजायमान रहते हैं कि साधारण रूप से वार्तालाप सम्भव नही होता। इन वाद्यों की विस्तृत रूप से चर्चा अग्रलिखित है -

मृदंग - मृदंग वाद्य का उल्लेख सर्वप्रथम रामायण में आया है। महाभारत में भी मृदंग व मुरज दो अलग-अलग नाम मिलते है। पं. शारंगदेव जी नें अपनें ग्रन्थ ''संगीत रत्नाकर'' के वाद्याध्याय (6वाँ अध्याय) के श्लोक 1026 में मर्दल को ही मृदंग तथा मुरज कहा है अर्थात मृदंग, मर्दल तथा मुरज तीनों को समानार्थी माना है। आचार्य भरत नें अपनें ग्रन्थ नाट्यशास्त्र में मृदंग का अलग वर्णन न करके त्रिपुष्कर के रूप में वर्णन किया है। भरत कालीन आंकिक वाद्य अतः भरत कालीन आंकिक वाद्य को हम मृदंग ही कहेंगे।

मृदंग या मिट्टी का अंग अधिक स्थिर न रहने रहने के कारण बाद में इसे काष्ठ का बनाया गया होगा तब इसका नाम पक्षवाद्य रहा होगा और कालान्तर में भाषा विज्ञान के नियम के अनुसार क्रमशः इसका नाम पखावज हो गया होगा - पक्षवाद्य-पखाउज-पखावुज-पखावज।

पुष्टिमार्गीय कीर्तन साहित्य को देखने से भी यही प्रतीत होता है कि मृदंग व पखावज में कोई भेद नहीं हैं। दोनों ही शब्दों का प्रयोग समानार्थ रूप में हुआ है जहाँ मृदंग शब्द है वहाँ पखावज नहीं है और जहाँ पखावज है वहाँ मृदंग शब्द नहीं है। छन्द के सुविधानुसार एक ही वाद्य के दो शब्दों का प्रयोग हुआ है। जैसे -

वेणु मुरज उफ बांसुरी ताल मृदंग।
बाजत ताल मृदृंग पखावज ताल मृदंग।।

इसकी लकड़ी बीज वृक्ष की होती है तथा इसका अंग बीच में से खोखला होता है। दाहिनें मुख का व्यास 12 अंगुल तथा बायें मुख का व्यास 12 अंगुल होता है। अंग के बीच का व्यास मुखों की अपेक्षा थोड़ा बड़ा रहता है। दोनों मुखों पर उनकी व्यास की अपेक्षा 1 अंगुल बड़ी चमड़ी मुखों को ढकने के काम लाई जाती है। इनकी चमड़ी में छेद किये जाते हैं। इन दोनों चमड़ियों को छेदों में डाली गयी वादियों से आपस में कसकर अंग के दोनों ओर बांध दिया जाता है। डोरियां संख्या में 10 होती हैं। इस वाद्य पर गाय के घी के साथ तिल को पीसकर उससे मसाले का लेपन किया जाता है। ब्रज के मन्दिरों में मूलतः यह वाद्य खड़े होकर बजाया जाता है क्योंकि कीर्तनियाँ मूल रूप से खड़े होकर कीर्तन करते हैं। अतः पखावज को या गले में लटकाकर बजाते है या इसके लिए काठ का बना स्टैण्ड का प्रयोग करते हैं।

मदिलरा - वह वाद्य ब्रज का लोक वाद्य है। गाँवों में होली के दिनों में स्त्रियाँ नृत्य करती है तथा पुरूष इस वाद्य को बजाते हैं साथ ही बम नामक वाद्य (एक अवनद्य वाद्य जो भैंस की खाल से मढा जाता है) को बजाते थे इसके साथ मिट्टी के घड़े के ऊपर एक कांसे की थाली उल्टी रखकर उसे बाँसों की खपच्चियों से बजाते थे। साथ ही ढ़ोलक भी बजायी जाती थी। वाद्यों के इस सामूहिक रूप को मदिलरा कहते हैं।

मदिलरा शब्द का उल्लेख शास्त्रीय संगीत की रचनाओं में अनेक स्थानों पर मिलता है जैसे राग शुद्ध कल्याण का ख्याल 'बाजो रेवाजो मदिलरा' तथा दरबारी कान्हड़ा की धमार 'मदिल ढफ बाजन लागा री आयो फागुन मास'' आदि। पुष्टिमार्गीय कीर्तनो क साथ भी इसका उल्लेख प्रचुर मात्रा में मिलता है यथा - कृष्णदास के पद 'गिड़गिड़ तां थितां थिंता दि मदिलरा बाजै' आदि।

मुरज - वह वाद्य मृदंग से मिलता जुलता है। अन्तर केवल आकार में हैं। यह एक फुट का होता है तथा दाहिने व बाये मुख में अन्तर नहीं होता। कहीं-कहीं इसके बायें मुख पर ढोलक की भाँति लेप लगाया जाता है। इसे गले में लटकाकर बजाया जाता है।

कीर्तन, फागोत्सव, प्रिया-प्रियतम की झांकी आदि के अवसर पर इस वाद्य का प्रयोग किया जाता है। महाप्रभु द्वारा प्रवर्तित गौडीय सम्प्रदाय में कीर्तन एवं समाज-गायन में इस वाद्य का प्रयोग किया जाता है।

आवज - इस वाद्य को हुडुक्का, आवज या स्कंधावज कहते हैं। आवज बजाने वाले को आउज तथा हुडुक्का बजाने वाले को हुडुक्किये कहते हैं। हुडुक्का वाद्य की लम्बाई 1 3/4 फुट तथा अंग

का व्यास 28 अंगुल का था। इसके दो मुख होते है तथा मुखों पर लकडी की मुटाई 1 अंगुल होती है दोनों मुखों का व्यास 7 अंगुल तथा मुखों पर मढा जाने वाला चमड़े का व्यास 11 अंगुल होता है। इसके गजरे की ऊँचाई मुख से लगभग1 1/2 अंगुल उठी रहती है इसे बेली से कसां जाता है। वाद्य को सतह पर रखने के लिए 5 अग्रलाएं होती थी। हुडुक्के के खोड़ में 1/4 अंगुल मोटाई के छेद दोनों तरफ किये जाते हैं। ये छेद नाद की विशेषता के लिए होते है। स्कंध पट्टिका को कंधे पर धारण कर उदर पट्टिका को बाये हाथ से पकड़कर इसका वादन किया जाता है।

निसान - निसान वाद्य का वर्णन 'संगीत रत्नाकर' में मिलता है। यह वाद्य धातु निर्मित तथा एक मुखी वाद्य है। इसका आकार अर्ध यवाकृति होता है। इसका मुख छोटा होता है तथा इसके पात्रों में कांसा भरा जाता है। जिसके द्वारा आंसदार ध्वनि उत्पन्न होती है। मुख पर भैसों का चमड़ा मढ़ा जाता है तथा उस चमड़ी में छेद किये जाते हैं तथा छेदों की सहायता से वादियों को पिरोकर नीचे के कड़े में पिरोकर नीचे के कड़े में से निकाला जाता है। इस प्रकार चमड़ी का मुख पर कस दिया जाता है। चर्म लगे कोणों से इसका वादन किया जाता है।

ढोल या ढक्कन - ब्रज प्रदेश में विवाह आदि मांगलिक कार्यक्रमों में शगुन के प्रतीक ढोल को दरवाजे पर तथा ढोलक को घर के अन्दर महिलाओं के संगीत के साथ बजाया जाता है। होली में वर्णित ताल वाद्यों में ढोल व ढोलक दोनों का ही उल्लेख मिलता है। अष्टछाप क कवियों ने अपनी रचनाओं में इन सभी वाद्य यन्त्रों का उल्लेख किया है - दुन्दुभि, ढोल, पखावज, आवझ बाजत डफ, मुरली रूचिकारी। इसका खोल सागवान, आम, नीम, शीषम आदि की लकड़ी से बनाया जाता है। खोल की लम्बाई औसतन डेढ़ फुट की होती है। दोनों ओर से खुल मुखों का व्यास 6 इंच से 10 इंच तक का होता है। खोल का मध्य भाग उभरा होंता है जबकि दोनों तरफ से खुले मुख मध्य भाग की अपेक्षा संकरे होते हैं। इसको मढ़ने के लिए बकरे के चमड़े की पुड़ी लगाई जाती हैं। छोटे मुख पर पतले तथा बड़े मुख पर मोटी पुड़ी लगाई जाती है। दोनों पुड़ियों के सिरों के ऊपर गजरे बनाये जाते हैं सूत की ड़ोर गजरे में पिरोकर दोनों मुखों को कसा जाता है। डोरी डालते समय उसमें पीतल या लोहे के छल्ले पिरोये जाते है। मढते समय इसके नर वाले भाग को पुडी की भीतरी सतह पर 4या 5 इंच के वृत्तनुमा रोल से बने विशेष पदार्थ का लेप चिपकाया जाता है इसे मसाला कहते हैं।

डफ - इस वाद्य को होली के अवसर पर बजाये जाने वाले वाद्यों में प्रमुख स्थान है। अश्टछाप के कवियों ने ब्रज फाग-वर्णन में इस वाद्य का विभिन्न स्थान पर उल्लेख है।

ताल मृदंग डफ महुवरि बाजत अरू मुरली
ताल मृदंग रबाब झांझ डफ मृदंग मुरली धुनी थोरी
बाजत डफ मृदंग बाँसुरी, किन्नरी, सुर कोमल री
तिनही-मिलत सुहाए नंदनंदन मुरली अधर धरी
बाजत ताल मृदंग, झांझि डफ, आवज, वीना किन्नरेस।

चंग का छोटा रूप खंजरी कहलाता है जिसमें कभी-कभी धातु के छल्ले भी लगा दिये जाते हैं तथा इसी चंग का बड़ा रूप डफ, ढफ कहलाता है। इसमें मुख का व्यास 18 से 12 अंगुल तक का होता है तथा घेरा चार अंगुल चौड़ी लकड़ी से बनाया जाता है। जिसमें एक छोर पर खाल आच्छादित की जाती है। खंजरी की तुलना में चंग का घेरा दुगना बड़ा होता है। इस वाद्य को एक हाथ से थामकर कन्धे के सहारे खड़ी स्थिति में रखा जाता है उसी हाथ में किसी पक्षी के पंख या घास आदि की पतली छोटी खपच्ची पकड़ी जाती है और मध्यमा अंगुली से हल्के-हल्के आघात द्वारा लय उत्पन्न की जाती है। दूसरे हाथ की अंगुलियों से वाद्य के मध्य में आघात करते हैं।

उपंग - यह वाद्य ब्रज के मन्दिरों में मिलता है। इसका आकार दूर से देखने में डमरू जैसे लगता है लेकिन डमरू दोनों ओर से मढ़ा हुआ रहता है जबकि उपंग एक ही ओर मढ़ा होता है। मढ़ें हुए भाग के बीच एक छिद्र करके उसको एक तांत

लगा दी जाती है। इस तांत का दूसरा सिरा जो कि एक लकड़ी के छोटे टुकडे से बंधा रहता है। बायें हाथ से किसी भी वस्तु के प्रहार करके बजाया है इस तांत के कसाव को कम या ज्यादा करके इसके स्वर नीचा व ऊँचा किया जाता है जिससे विभिन्न प्रकार की गमक निकलती है।

नक्कारा - ब्रज के लोक अवनद्य वाद्यों में सर्वाधिक प्रमुख वाद्य नक्कारा है। क्षेत्रीय ध्वनि के प्रभव के कारण इसका नाम कहीं नगाड़ा और कही नक्कारा हो जाता है। नक्कारा, नगाड़ा व नगारा सभी फारसी भाषा के समानार्थक शब्द हैं। प्राचीन और पौराणिक ग्रन्थों में दुन्दुभि नामक वाद्य का वर्णन मिलता है। दुन्दुभि संस्कृत भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ बड़ा ढोल या नगाड़ा है वह दुन्दुभि ही आज का नगाड़ा है। यह दों भागों में विभक्त होता है। बड़े भाग को नक्कारा तथा छोटे भाग को झील कहते हैं। इसका आकार कटोरे के समान होता है। झील पर भैंस व बड़े पर ऊँट की खाल मढ़ी जाती है। दो डंडियों के आघात से बजाया जाता है नक्कारा नीचे स्वर में तथा झील ऊँचे स्वर में मिलाया जाता है जिसके लिए इसको आग से सेंकते हैं तथा टीपदार आवाज नकलती है। नक्कारे का प्रयोग भगत, स्वांग, नौटंकी और उत्तर प्रदेश के अवधी विरहा गायन में तथा ब्रज के गायन के साथ प्रचुरता से किया जाता है। ब्रज के मन्दिरों में रास, नृत्य आदि में नक्कारा अनिवार्य वाद्य बन गया है।

अतः इस प्रकार उपरोक्त वाद्यों के वादन द्व ारा ब्रज प्रान्त के लोकगीत को और अधिक सुन्दर बनाया जाता है। अवनद्य वाद्यों के अतिरिक्त लोक संगीत में अनेक घन वाद्य, तन्त्र वाद्य एवं सुषिर वाद्य आते हैं। जिनके माध्यम से लोक संगीत में लयात्मकता, सौंदर्यात्मका आदि का भाव उत्पन्न होता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची -

- संगीतायन - डा. सीमा जौहरी
- ताल वाद्य शास्त्र - श्री मनोहर भाल चन्द्रराव मराठे
- भारतीय लोक वाद्य - पं. लालमणि मिश्र
- ब्रज-रास में संगीत उत्पत्ति विकास और स्वरूप - आरती श्रीवास्तव
- ब्रज की संगीत परम्परा - डॉ. वन्दना